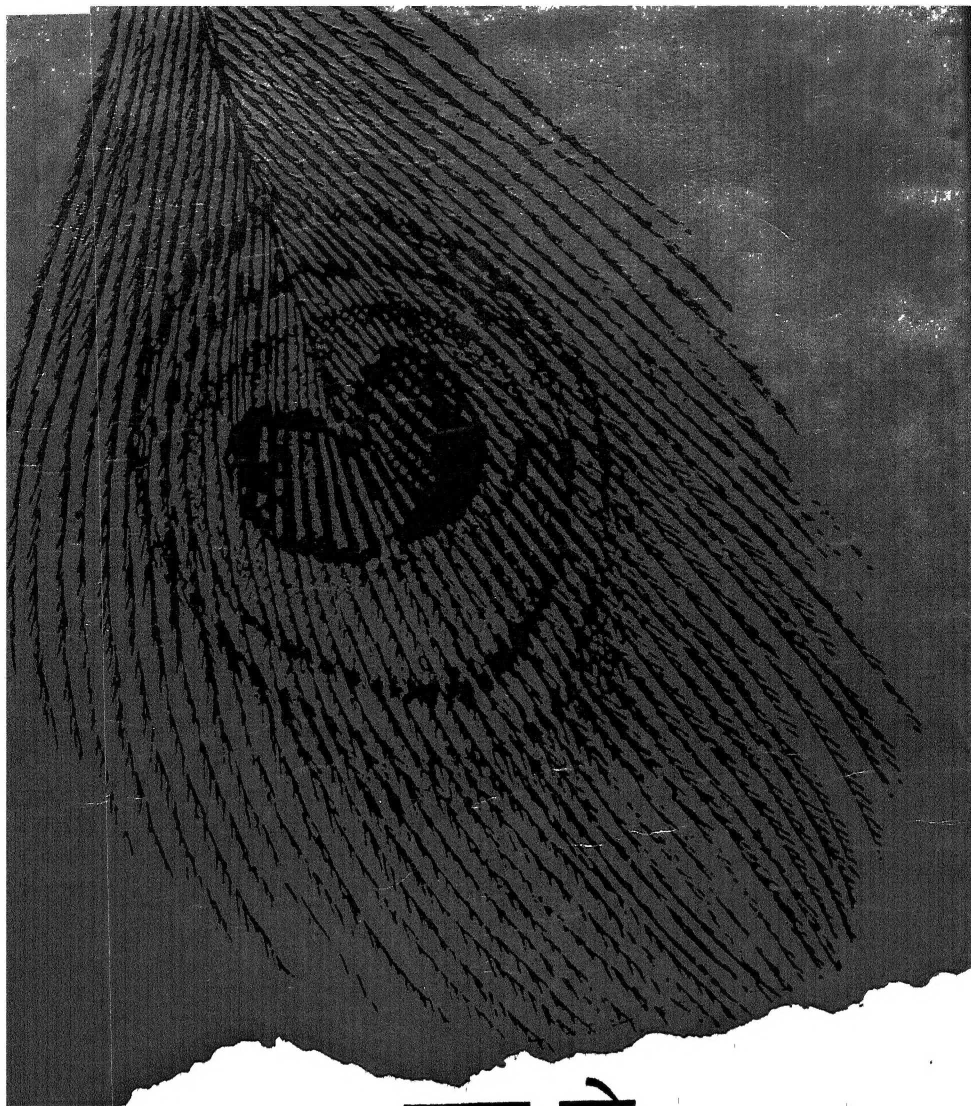


व्रज के वैष्णव सम्प्रदाय और हिन्दी साहित्य

हरिमोहनदास टंडन

व्रज के वैष्णव सम्प्रदाय और हिन्दी साहित्य

हरिमोहनदास टंडन

साहित्य भवन प्रा॰ लि॰
जीरोरोड, इलाहाबाद २११००३

VRAJ KE VAISHNAV SAMPRADAYA
AUR
HINDI SAHITYA

By

Harimohandas Tandon

प्रथम संस्करण : १९९७
द्वितीय संस्करण : २००१

मूल्य : १५०.००

साहित्य भवन प्रा० लि०, ९३, जीरो रोड, इलाहाबाद-२११००३ द्वारा प्रकाशित तथा **प्रिन्टेक,** शास्त्री नगर, मीरापुर, इलाहाबाद द्वारा लेजर-टाइपसेटिंग एवं **एडवान्स क्रिएटिव सर्विसेज,** टैगोर टाउन, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित।

प्रस्तावना

लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों तक हिन्दी साहित्य पर व्रजभाषा और व्रज चरित्र का आधिपत्य सहज ही उसके कारण की जिज्ञासा उत्पन्न करता है। हिन्दी की पूर्व परम्परा वीर और सन्त काव्यों से आपूरित है। पुरुषोत्तम राम का चरित्र रामचरितमानस के माध्यम से आज भी हिन्दू समाज को प्रेरणा प्रदान करता जा रहा है। ऐसी स्थिति में भी व्रज चरित्र की व्यापकता एवं अनुग्राह्यता उसके वैशिष्ट्य का विज्ञापन करती है। विक्रम की १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अनुरंजित करने वाले वैष्णव आन्दोलन की प्राणवायु कृष्ण भक्ति थी। सृष्टि का नियम है विकास। कोई भी सामाजिक या धार्मिक क्रांति अथवा आन्दोलन सर्वथा नवीन विचारों पर आधारित नहीं होता। वे पूर्व परम्पराओं से कहीं न कहीं सम्बद्ध अवश्य होते हैं। साथ ही सुपुष्ट सिद्धान्त के बिना सम्प्रदाय में स्थायित्व नहीं आ सकता। अतएव प्रस्तुत निबंध में कृष्ण भक्ति के इतिहास तथा सिद्धान्तों का विस्तृत अध्ययन किया गया है। सम्यक् ज्ञान के बिना जिज्ञास्य विषय अपूर्ण और अस्पष्ट ही रह जाता है। सम्प्रदायिक कृष्ण भक्ति से अनुप्राणित होकर लिखे गए हिन्दी साहित्य का अनुशीलन उनके सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में करने से अनेक भ्रमों का निराकरण हो जाता है। इस निबन्ध में साहित्य पर उनके प्रभाव का विवेचन व्यष्टि नहीं अपितु समष्टि रूप से किया गया है।

प्रथम प्रकरण में आन्दोलन से पूर्व की परिस्थितियों को स्पष्ट किया गया है। कृष्ण भक्ति का प्रारंभ सहस्राब्दियों पूर्व हुआ था। समयानुसार अनेक धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक कारणों से उसका क्रमिक विकास होता गया। आन्दोलन के फलस्वरूप उसके प्रचलित रूप को देखकर अनेक विद्वान उस पर विदेशी प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। जिन अनेक भारतीय साधनाओं के उपकरणों ने उसे पल्लवित किया है उनका क्रमिक इतिहास इस प्रकरण का प्रमुख विषय है। अध्ययन की सामग्री यत्र-तत्र विकीर्ण मिलती है। उसका कहीं भी एकत्र उपयोग नहीं प्राप्त होता। यहाँ न केवल उसे श्रृंखलाबद्ध किया गया है अपितु उसमें अनेक अस्पष्ट गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास भी है।

आन्दोलन के इतिहास का ज्ञान उसके परिणाम को समझने में सहायक होता है। महान कार्य के लिए महान व्यक्तियों की आवश्यकता होती है और उनका चरित्र जन समुदाय के आकर्षण का कारण बनता है। जिन प्रचारकों ने उत्तरी भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण कर अपने ज्ञान और भक्ति से समाज को कृष्णानुराग से आप्लावित किया, उनके कार्यों का पर्यालोचन द्वितीय प्रकरण का विषय है। इसमें वल्लभ और गौडीय सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का विस्तृत विवरण भी साहित्य के अध्येताओं के समक्ष रक्खा गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय का विचार इस निबन्ध की सीमा से परे है, क्योंकि हिन्दी साहित्य के सृजन

में उसका कोई प्रत्यक्ष योग नहीं रहा है। ब्रजभाषा साहित्य के निर्माण का प्रारंभ वस्तुत: वल्लभाचार्य की प्रेरणाा से हुआ है। इस प्रकरण का महत्व अनेक स्थलों पर नवीन सामग्रियों के समा:वेश से बढ़ गया है।

भारतीय ज्ञान की अनुपम वृद्धि उसके दर्शनों में परिलक्षित होती है। न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और वैशेषिक मत के उपयोगी तत्वों से परिपुष्ट होकर वेदान्त ने सर्वोपरि स्थान ग्रहण कर लिया है। उत्तर काल में नव्य न्याय की शैली सभी दार्शनिकों ने स्वीकार कर ली थी। अत: उसकी उपेक्षा कर वेदान्त का मर्म नहीं समझा जा सकता। तृतीय प्रकरण में भारतीय दर्शन के मूल तत्वों का ध्यान रखते हुए वैष्णव दर्शन की विवेचना की गई है। हिन्दी मे इस प्रकार का विवेचन प्रचलित नहीं है। अचिन्त्य द्वैत, सिद्धाद्वैत और अद्वैतद्वैत वेदान्त के विस्तृत अध्ययन से उनके अंदर व्याप्त एकता का आभास मिलता है।

दर्शन विद्वानों की वस्तु है, सामान्य व्यक्तियों को उपासना की पद्धति ही आकर्षित करती है। आराध्य का मनोहर स्वरूप एवं शृंगार, सरस सेवा-क्रम और आराधक का जीवन सभी वर्गो को प्रभावित करता है। इसलिए चतुर्थ प्रकरण में उनका वर्णन आवश्यक समझा गया है। साम्प्रदायिक साहित्य के निर्माण में उनका योग दर्शन से कम भी नहीं है। वस्तुत: तीनों के प्रगाढ़ सम्बन्ध को विशृंखलित करना असंभव है। उपासना में क्रियात्मक सेवा प्रधान नहीं है, प्रधान है भावना। विवेचना मे सदा भावना का ध्यान रक्खा गया है जिससे उसमें मौलिकता आ गई है। सम्प्रदायों के परम गुप्त दीक्षा मंत्र पहली बार प्रकाश में लाए गए हैं, क्योंकि सम्प्रदायेतर जनो से उन्हे सदा गुप्त रखने का विधान है।

साम्प्रदायिक सिद्धान्तों एवं सेवा प्रणालियों से प्रोत्साहित होकर भक्त कवियों ने पुष्कल साहित्य का सृजन किया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य कृष्ण, राधा और गोपी लीला पर केन्द्रित है। उनके पूर्व संस्कृत साहित्य की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। उसके पारखियों ने सत्काव्य के प्रमुख तत्वों का अनुसंधान दार्शनिकों की तरह किया था। रस की श्रेष्ठता स्थापित हो चुकी थी जिसका प्रमाण यह है कि रूप गोस्वामी ने भक्ति की व्याख्या उसके ही माध्यम से की है। भक्त कवि का लक्ष्य साहित्य शास्त्र के वादाविवाद में पड़ना नहीं था, वे केवल मान्य सिद्धान्तो का अनुकरण ही कर सकते थे। अत: उनके काव्य का अध्ययन रसांगों के माध्यम से ही करना समीचीन है। साहित्य का प्रयोजन, उसका सम्प्रदाय से सम्बन्ध, उसके अपरिहार्य तत्वों पर संक्षिप्त विचार और वर्ण्य विषयों का दिग्दर्शन पंचम प्रकरण की सीमा है। किस भावना से भावित होकर ब्रजभाषा के काव्य की सृष्टि हुई है इसका स्पष्टीकरण करने का सर्वत्र उद्योग किया गया है। भक्ति साहित्य के अध्ययन की एक नई दिशा का संकेत इसमें मिलता है। अनेक विवादों का निराकरण भी स्थल-स्थल पर हुआ है।

उपासना की प्रणाली साम्प्रदायिक साहित्य के स्वरूप को निर्धारित करती है। सेवा में संकीर्तन का समावेश होने के कारण पदों का सर्जन अनिवार्य था, साथ ही प्रबंध काव्य भी अनुपेक्षणीय रहे है। उनके भी अनेक रूप भक्ति साहित्य में प्राप्य हैं। पदों का सम्बन्ध संगीत तथा पिगल दोनों के साथ किस रूप में सम्भव है, यह एक समस्या रही है। षष्ठ प्रकरण में उसे मौलिक ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। यह अध्ययन सर्वथा नवीन है। भविष्य

में उसका सर्वांगपूर्ण अनुसंधान स्वतंत्र रूप में होना अपेक्षित है। उपासना की गुह्यता एवं सूक्ष्मता भक्ति काव्यों की आलंकारिकता का कारण है, जिसकी परम्परा श्रीमद्भागवत से प्राप्त हुई है। यहाँ विभिन्न अलंकारों के उदाहरणों पर बल न देकर उनके प्रयोग के सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। गद्य का निर्माण प्रचार के लिए होता है। यह बात साम्प्रदायिक ग्रन्थों के अध्ययन से सिद्ध है। यह किस रूप में उपलब्ध होते हैं इसका परिचय मात्र यथेष्ट समझा गया है। अन्य सम्प्रदायों तथा भाषाओं पर हिन्दी भक्ति साहित्य के प्रभाव के संकेत के साथ प्रस्तुत निबंध का उपसंहार हुआ है।

यह सारा कार्य एक अध्ययन मात्र है, और अध्ययन की कोई सीमा नहीं।

५८, रानी मंडी,
इलाहाबाद

हरिमोहनदास टंडन

भूमिका

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के इतिहास में व्रजभाषा में लिखित भक्ति और रीति साहित्य का प्रमुख स्थान है। निर्गुण एवं सगुण धारा के कवियों ने अपनी भक्ति भावना को प्राय: व्रजभाषा में ही प्रकट किया है। व्रज मंडल के वैष्णव भक्त कवियों की व्रजभाषा ही प्रिय भाषा रही है। कृष्ण भक्त कवियों ने व्रजभाषा को स्वीकार करते समय अपने प्रदेश की अथवा अपनी मातृभाषा की अभिव्यक्ति का माध्यम न बनाकर व्रजभाषा को उसके लावण्य, लालित्य और मार्दव के कारण ही स्वीकार किया था। व्रजभाषा मध्य युग में काव्य भाषा बनकर उत्तर भारत में सर्वत्र प्रतिष्ठित हो गई थी। उस युग में, व्रज मंडल के विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में व्रजभाषा को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त होने के कारण सम्प्रदायेतर कवियों ने भी कृष्ण भक्ति के लिए व्रजभाषा को ही स्वीकार किया। मीराबाई, रहीम, रसखान आदि कवि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

भारत के विश्वविद्यालयों में विगत साठ-पैंसठ वर्षों में अनुसंधान का कार्य प्रारंभ हुआ, व्रज मंडल के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं पर ध्यान गया और व्रज मंडल के प्रमुख पाँच सम्प्रदायों के साहित्य पर शोध दृष्टि से विमर्श प्रारंभ हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय, राधा वल्लभ सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, हरिदासी (सखी सम्प्रदाय) चैतन्य (गौड़ीय) सम्प्रदाय और शुक सम्प्रदाय पर तीन दर्जन शोध-प्रबंध प्रस्तुत हो चुके हैं। इन शोध-प्रबंधों में साम्प्रदायिक सिद्धान्त और साहित्य का सर्वांगीण विवेचन किया गया है। गवेषणात्मक दृष्टि से भी उच्च-स्तरीय शोध-प्रबंध लिखे गये हैं।

श्री हरिमोहनदास टंडन ने 'ब्रज के वैष्णव सम्प्रदाय और हिन्दी साहित्य' शीर्षक से जो ग्रंथ लिखा है वह पूर्व प्रकाशित शोध-प्रबंधों को समवेत रूप से प्रस्तुत करता है। यदि किसी पाठक को व्रज मंडल के वैष्णव सम्प्रदायों का इतिवृत्त और साहित्य की रूपरेखा से परिचय प्राप्त करना हो तो इस ग्रंथ को पढ़कर वह मोटे तौर पर संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर सकता है। यह ठीक है कि ब्रज के कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों पर स्वतंत्र रूप से अनुसंधानपरक विस्तृत ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु सभी सम्प्रदायों की भक्ति भावना, पूजा-अर्चा, साधना, उपासना, दर्शन विषयक सामान्य बातों का ज्ञान इस ग्रंथ से समवेत रूप में प्राप्त हो सकता है। व्रज मंडल में भगवान् राम, हनुमान, भक्त ध्रुव आदि के भी मन्दिर हैं। उन्हें हम वैष्णव ही समझते हैं। सम्प्रदायेतर कवियों का उल्लेख भी वांछनीय है जो राधा-कृष्ण या वृन्दावन में आस्था रखते हैं।

संक्षेप में, श्री हरिमोहनदास टंडन का यह ग्रंथ व्रज के कृष्ण भक्ति परक सम्प्रदायों का परिचय देता है। कृष्ण भक्ति के प्रमुख कवियों का इसमें नाम निर्देश मात्र है। साहित्यिक कृतियों की समीक्षा भी नहीं है। ग्रंथ के लघु कलेवर में उसकी अपेक्षा भी नहीं है। इस ग्रंथ को हम एक परिचयात्मक ग्रंथ ही कह सकते हैं। हिन्दी साहित्य में व्रजभाषा के योगदान का उल्लेख भी लेखक ने अंतिम दो अध्यायों में किया है। मैं लेखक श्री टंडन को इस प्रयास के लिए साधुवाद देता हूँ।

१० अप्रैल, १९९७

विजयेन्द्र स्नातक
पूर्व प्रोफेसर तथा हिन्दी विभागाध्यक्ष
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आमुख

श्री हरिमोहनदास टंडन मेरे परम मित्र रहे हैं और आगे भी उनका स्नेह मुझे मिलता रहेगा इसमें कोई संदेह नहीं। यदि ऐसा न होता तो "व्रज के वैष्णव सम्प्रदाय और हिन्दी साहित्य" का आमुख लिखने का दायित्व वे मुझे प्रदान न करते।

पंचदेवोंपासना विषयक "रामचरितमानस" की एक चौपाई मुझे स्मरण आ रही है—

हरिहि पूजि पूजहिं बर नारी।

गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी।।

हरि-पूजा अर्थात् वैष्णव सम्प्रदाय को प्रथम स्थान दिया है इसके बाद गणेशोपासना, देवी-उपासना, शिवोपासना और अन्त में सूर्योपासना का क्रम अर्धाली की सीमित काया में जैसे समा सका, रख दिया। मूर्तिभंजक संस्कृति के सम्पर्क में आने पर मूर्तिपूजा के प्रति उसकी आस्था बनी रही।

उत्तर भारत ही नहीं पूरे भारत में उपासना के यही प्रधान संप्रदाय हैं। शाखा-प्रशाखाएँ, रूप-रूपान्तर, नाम-नामान्तर अनेक मिलते हैं इसमें संदेह नहीं। निर्गुण-उपासना भी पूरे देश में व्याप्त रही है पर हमारा मूर्ति-पूजक देश उससे इतना परिचालित नहीं हुआ कि निर्गुणोपासना को सर्वोपरि मान लिया जाये। सगुणोपासक ही कला-शिल्प, मंदिर-निर्माण की विविध शैलियाँ इस देश की रचनात्मकता को निरन्तर प्रेरणा देती रहीं। एकादश रुद्र के रूप में हनुमत उपासना दक्षिण में आंजनेय की विशाल प्रतिमाओं में ढल गयी और उत्तर में भी वह सर्वत्र व्याप्त है।

श्रीमद्गीता, श्रीमद्भागवत, श्रीरामचरितमानस के रूप में वैष्णव सम्प्रदाय का इस क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान है। राम और कृष्ण की तुलना की जाए तो कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय अधिक हैं और आज भी प्रेरणादायी सिद्ध हो रहे हैं। विश्व स्तर पर देशी-विदेशी भक्त पूरे संसार में भारतीयता का संदेश पहुँचा रहे हैं। "कृष्ण कांशसनेस" की उपासना पद्धति गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के द्वारा देश-देशान्तर में व्याप्त हो रही है। राधावल्लभ सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय भी किसी से पीछे नहीं है। उनका प्रभाव व्रज से गुजरात तक परिव्याप्त है। जगन्नाथपुरी का मंदिर आदिवासीजन्य कृष्णोपासना को पूर्वी क्षेत्र में विशेषत: प्रभावशाली है। बंगाल, आसाम, उड़ीसा सबके सब वैष्णव धर्म के अनुयायी तथा कृष्णोपासक हैं।

विष्णु का दशावतारी रूप विकसित होते-होते गीतगोविन्द की दशावतार स्तुति स्थिर हो गयी जिसमें "षांशकला: पुंसा: कृष्णवस्तु भगवान स्वयम्" से प्रेरणा पाकर त्रिरामी में परशुराम-राम-बलराम के रूप में कृष्ण नहीं माने गये, क्योंकि जयदेव ने भी कहा—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोल मुद्विभ्रते।
दैत्यंदारयते बलिंछलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं ह्यते, हलं कलयते, कारुण्य मातन्वते।
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः

'गीता' में ''ज्ञान कर्म च भक्ति च'' में उपासना को भक्ति रूप में ग्रहण किया गया है। भक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वेतर उपनिषद् के अन्त में मिलता है। कदाचित् इससे पूर्व नहीं। बाद में वैष्णव उपासना गौण होती गयी। वासुदेवोपासना अन्ततः भगवतभक्ति में परिणत हो गयी। सखा भाव गीता की देन है जो भक्ति में समाहित हो गयी।

सूर ने वात्सल्य और सख्य भाव की उपासना का आधार लिया, परन्तु तुलसी ने सारे मानव-संबंध गिनाते हुए अन्ततः कह दिया—

मोहि तोहि नाते अनेक मनिये जो भावे
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावे।

शरणागत के लिए तुलसी ने दास्य भाव को सबसे ऊपर स्थान दिया। हनुमान की यह उक्ति भी अविस्मरणीय है—

देह दृष्ट्यातु दासोहयं, जीव दृष्यात्वदंशकः।
वस्तुस्तु त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः॥

''भाव भावना एवं सेव्य स्वरूप के निर्णय की निर्दोषिता को गुरु से प्रमाणित कराना पड़ता है। सेवक की दृष्टि में गुरु का महत्व सेव्य विग्रह से कदापि कम नहीं है। पुष्टि भक्ति प्राप्त करने के लिए ''ब्रह्म संबंध'' की आवश्यकता पड़ती है। गुरु मध्यस्थ के रूप में इच्छुक भक्त को उसके लिए दीक्षित करता है। वह शिष्य को हरि सम्बन्ध का स्मरण कराता है। विग्रह में जीव और ब्रह्म का संबंध तो सनातन है। देह की नश्वरता को देखते हुए उसका जीव और ब्रह्म के साथ थोड़ा भी संबंध बाधित है। पुराणों के लिंग की कल्पना और उनका ही नित्य विभु से संबंध वैष्णवों को अमान्य है। देह और जीव अवयव भाव से परस्पर सम्बद्ध होकर ब्रह्म के साथ आश्रय आश्रयी भाव से सम्बन्धित है। ब्रह्म सम्बन्धकरण से पंच प्रकार के संपूर्ण दोष निवृत्त हो जाते हैं। पंचमूल निर्मित शरीर का अविद्या दोषांश समाप्त हो जाता है। उपासना में देवता की कल्पना, देवत्व में ब्रह्म संबंध की स्थापना और जीव देह में उस संबंध की कल्पना उत्तरोत्तर ग्राह्य और ग्राहक संबंध की पोषिका है।'' (पृ० : १०५)

मेरे गुजराती गुरुवर श्री के०का० शास्त्री परम वैष्णव हैं और वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हैं। उनके प्रसाद से मैंने सम्प्रदायों की पृष्ठ भूमि का अध्ययन अपने ''गुजराती और व्रजभाषा कृष्ण काव्य का अनुशीलन'' किया जो १५वीं, १६वीं और १७वीं, शती तक ही व्याप्त है। टंडनजी ने अपने शोधात्मक अध्ययन में भी प्रायः इसी मर्यादा को माना है। १८वीं शती और उसके बाद भी सम्प्रदाय चलते रहे और आज भी जीवन्त रूप में चल रहे हैं किन्तु उनकी ऊर्जा का स्रोत वही है जिसकी ओर टंडनजी ने सफलतापूर्वक विभिन्न रूपों में इंगित किया है।

निम्बार्क सम्प्रदाय और उससे प्रेरित साहित्य को वर्तमान लेखक ने स्थान नहीं दिया है जबकि मुझे याद है कि बहुत समय तक मेरे पुस्तकालय से ली गयी "निम्बार्क माधुरी" उनके पास सुलभ रही। अन्य सम्प्रदायों की तरह प्रयाग मे भी निम्बार्क सम्प्रदाय सक्रिय दिखायी देता है, किन्तु यह सही है कि कालक्रम में उसका अस्तित्व अन्य सम्प्रदायों से पूर्व विशेष प्रेरणादायो रहा। निम्बार्क सम्प्रदाय के विचार इस निबध की सीमा से परे हैं क्योंकि हिन्दी साहित्य के सृजन में उसका कोई प्रत्यक्ष योग नही रहा है।

इधर शोध-संदर्भ के तीन खण्ड क्रमशः—वर्ष-१९८०, वर्ष-१९८७, वर्ष-१९९२ डॉ० गिरिराज शरण ने प्रकाशित कर दिये हैं। जिनमे कृष्ण-काव्य एवं राधा से संबंध प्रभूत शोध-प्रबन्धों का उल्लेख है। जिज्ञासु उनका अवलोकन करे तो पर्याप्त ज्ञान-वृद्धि होगी। मै यहाँ संकेत मात्र कर रहा हूँ। इस शोध-प्रबंध के अन्त मे अनुक्रमणिका के अंतर्गत जो सामग्री दी गयी है और जिनका उल्लेख किया गया है उससे यह सिद्ध होता है कि कितनी निष्ठा एवं अध्यवसाय के साथ यह कार्य सम्पन्न हुआ। जैसे रामकथा में बुल्केजी ने सब कुछ सहेज दिया, बहुत कुछ उसी तरह टंडनजी ने भी सहेजा है।

सम्प्रदायों की दीक्षा मन्त्रो तक किसी की पहुँच नहीं होती पर हरिमोहनदास दास की मोहिनी ने उसे भी उजागर किया। उनका यह कथन सर्वथा मान्य है कि जिन सम्प्रदायों का अनुशीलन प्रामाणिक रीति से उन्होंने किया वैसा अभी तक नहीं हुआ। अपने अध्ययन कार्य से मुक्त होकर उन्हे इतना अवकाश मिला कि समस्याओं के प्रति पुनर्विचार कर सके और उनकी तह तक जा सके। उनका सौम्य स्वभाव एवं वेशभूषा सम्प्रदायों में प्रवेश के लिए स्वयं दोनों ही प्रवेश-पत्र बन गये। लोगों ने उनमें वैष्णवता की यह झलक देखी जो समृद्ध परिवारों में भी दुर्लभ हो रही है।

"व्रज के वैष्णव सम्प्रदाय और हिन्दी साहित्य" के अनुशीलन से जो ज्ञान-कर्म और भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होगी उससे सभी लोग पुण्य लाभ प्राप्त करेंगे इसमें कोई संदेह नही है। मैं अपने "नन्हें भैया" को ऐसे गुरुतर कार्य के लिए साधुवाद देता हूँ।

जगदीश गुप्त
पूर्व प्रोफेसर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विषय सूची

प्रथम प्रकरण
वैष्णव धर्म का संक्षिप्त इतिहास और कृष्णोपासना

द्वितीय प्रकरण
व्रज के सम्प्रदायों का इतिहास

तृतीय प्रकरण

दर्शन की विवेचना

चतुर्थ प्रकरण

उपासना और कर्मकांड

पंचम प्रकरण
व्रज के सम्प्रदायों का हिन्दी साहित्य

षष्ठ प्रकरण
'हिन्दी साहित्य के विविध अंगों पर साम्प्रदायिक प्रभाव



संकेत चिह्न

ई०	:	ईस्वी
ई० पू०	:	ईस्वी पूर्व
क०व०म०	:	कलेक्टेड वर्क्स आफ सर आर०जी० भंडारकर
खोज रिपोर्ट	:	रिपोर्ट आन दि सर्च आफ हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट, नागरी
	:	प्रचारिणी सभा, काशी
ज०ए०सो०	:	जरनल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल
ज०रा०ए०सो०	:	जरनल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ लंडन एंड आयरलैंड
पृ०	:	पृष्ठ
मे०स्ट०वै०से०	:	मेटीरियल फार दि स्टडी आफ दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट
वि०	:	विक्रमी

प्रथम प्रकरण

वैष्णव धर्म का संक्षिप्त इतिहास और कृष्णोपासना

वैष्णव धर्म की प्राचीनता और विकास

विष्णु, नारायण और वासुदेव

प्राचीन आर्य सूर्य की जीवन प्रदायिनी और उपयोगी चैतन्य शक्ति से बहुत प्रभावित हुए थे। त्रैकालिक संध्या, गायत्री, उषास्तुति, नित्य नैमित्तिक कर्म आदि सभी सूर्य से संबंधित आर्य प्रिय कार्य थे। सूर्य का काल्पनिक स्वरूप विष्णु के प्रतीक के रूप में सामने आया। त्रिविक्रम विष्णु, त्रैकालिक संध्या के आधारभूत सूर्य के व्यंजक हैं। उनका महत्व धीरे-धीरे बढ़ता गया और वे यज्ञ के मूल, परम धाम के अधिकारी और इन्द्र, अग्नि, वरुण, रुद्र आदि से अधिक महान् हो गये। यांस्क के पूर्व ही वे शरीरधारी समझे जाने लगे थे और उनकी त्रिविक्रम संज्ञा ऐतिहासिक समझी जाने लगी थी।[१]

नारायण की सर्वप्रथम चर्चा शतपथ ब्राह्मण में आई है, किन्तु वहाँ विष्णु के साथ उनका कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। वामन पुराण में नर और नारायण की कथा उन्हें एक ऋषि ही व्यक्त करती है। तैत्तरीय आरण्यक काल में नारायण स्पष्ट परमात्मा और सृष्टि विषयक भावना के केन्द्र बन गये थे। उनका विष्णु के साथ संघटन हो चुका था, किन्तु वैदिक साहित्य में और उसके बाद भी उनमें कोई भी मध्य युग के उपास्य के रूप में स्वीकृत न हुए थे। दयालु भगवान की भावना का प्रादुर्भाव सात्वत् या भागवत धर्म के प्रचार होने पर ही हुआ। सात्वत् धर्म के उपास्य वासुदेव थे।

तैत्तरीय आरण्यक के अंतिम भाग में वासुदेव का नाम आया है। वे पाँचवीं शताब्दी ई०पू० में निश्चित रूप से पूजा के आधार और उपास्य बन गये थे। पाणिनि ने अपने व्याकरण के एक सूत्र में वासुदेवक शब्द सिद्ध किया है जिसका अर्थ विद्वानों ने एक स्वर से 'पूजार्ह' किया है।[२] अत: उसके काफी पूर्व ही उनकी पूजा प्रचलित हो गई होगी। चौथी शताब्दी ई०पू० में मेगास्थनीज ने शौरसेनियों के द्वारा हैराक्लीज कृष्ण की उपासना का वर्णन किया है, कर्टिस के

---

१. वैष्णव वर्शिप एण्ड बुद्धिज्म, श्री के०पी० जायसवाल, इंडियन एंटीक्यूरी, खंड ४७, पृ० ८४

२. श्री हेमचन्द्रराय चौधरी ने पाणिनि का समय ५वीं शताब्दी ई०पू० सिद्ध किया है। मे०स्ट०वै०से, पृ० १४-१६

अनुसार पोरस की सेना के अग्रभाग में हैराक्लीज की मूर्ति थी, जो कृष्ण ही हो सकते हैं।[१] घुसुंडी, नानाघाट और बेसनगर के शिलालेख वासुदेव की उपासना का उल्लेख द्वितीय शताब्दी ई०पू० में करते हैं। महाक्षत्रप षोडश के समय में भागवत् वासुदेव के महास्थान मथुरा में एक पूजा शिल्प प्रकार था।[२] वासुदेव की प्राचीनता बौद्ध और जैन ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है। घटजातक, निद्देश और ललित विस्तार में वासुदेव के भाई तथा मार के सहयोगी कृष्ण का वर्णन मिलता है। जैन गाथाओं में नौ वासुदेव स्वीकृत हुए हैं। २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि की जीवनी ईषत् अंतर के साथ सम्पूर्ण कृष्ण कथा का पुनः संस्करण मात्र है[३] इन सबों से सिद्ध होता है कि वासुदेव की पूजा ईसा से कम से कम ६०० वर्ष पूर्व अवश्य प्रारम्भ हो गयी होगी।

वासुदेव कृष्ण

अब प्रश्न है कि क्या वासुदेव और कृष्ण एक ही थे और क्या वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय अंश में वासुदेव, कृष्ण, विष्णु और नारायण को एक ही कहा गया है। घुसुंडी और नानाघाट के शिलालेखों में जो व्यूहवाद है वह उनके एकाकार हुए बिना संभव नहीं था। कम से कम पतंजलि के समय में वासुदेव और कृष्ण एक ही समझे जाते थे। पाणिनि के तीसरे अध्याय के प्रथम पाद के २६वें सूत्र और उसके पातंजल महाभाष्य से ज्ञात होता है कि उस समय कंस-वध और बलि-वध की वार्ता लोकप्रिय और नाट्यकथा की वस्तु समझी जाती थी। यह विश्वास भी किया जाता था कि कृष्ण के द्वारा कंस का वध बहुत प्राचीन काल में हुआ था। इसकी पुष्टि उनके अन्य सूत्रों द्वारा भी होती है।[४] वे वासुदेव और कृष्ण की एकता की ओर ही संकेत करते हैं।

निःसंदेह वासुदेव कृष्ण किसी क्षत्रिय का नाम था।[५] वे यदुवंश में उत्पन्न हुए थे जिनके वंशज मधु, सात्वत, वृष्णि, अन्धक, कुक्कुट और भोज थे। ऋग्वेद में वृष्णि और सात्वत् वंश का पता नहीं चलता, किन्तु ब्राह्मणों में बहुधा लिखा मिलता है। बौद्ध घटजातक उन्हें मथुरा के उपरि भाग के राजवंश का बतलाता है। छान्दोग्य उपनिषद में, जिसे विद्वान् ६०० ई०पू० से १००० ई०पू० की रचना मानते हैं, देवकी पुत्र कृष्ण की चर्चा है। उनके गुरु घोर अंगिरस का नाम बौद्ध पूर्व की कृति कौशीतकी ब्राह्मण तथा काठक संहिता में मिलता है। जैन परम्परा कृष्ण को नेमिनाथ या अरिष्टनेमि का समसामयिक मानती है जो पाराशर और २३वें तीर्थकर के पूर्ववर्ती थे। पाराशर का समय ८१७ ई०पू० था। गीता के प्रणेता और महाभारत के कृष्ण घोर अंगिरस के ही शिष्य थे। इसमें शंका का कोई स्थान नहीं है क्योंकि गीता में गुरु से प्राप्त शिक्षा का स्पष्ट आभास मिलता है।[६]

---

१. मेमायर आफ दी आर्केयालोजिकल सर्वे आफ इंडिया, संख्या ५, पृ० १५४, १५७
२. मेमायर आफ दी आर्केयालोजिकल सर्वे आफ इंडिया, संख्या ५, पृ० १५४-१७३
३. इंडियन फिलासोफी, खण्ड १, पृ० ४९३
४. एल्यूजन टू पतंजलि महाभाष्य, क०व०भं०, खण्ड १, पृ० २११-२१२
५. पाणिनि सूत्र और उस पर पतंजलि भाष्य, ४/३/४९
६. मे०स्ट०वै०से०, पृ० ३९ तथा ५०

कृष्ण का नाम वैदिक संहिताओं में मिलता है। इससे चाहे यह पता चले या न चले कि वैदिक कृष्ण ही देवकी के पुत्र थे या नहीं, परन्तु यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि उपदेशक एवं दार्शनिक कृष्ण की परम्परा प्राचीन है, जो उपनिषद् काल से प्रारम्भ होकर गीता में आकर पर्यवसित हुई।[१] ऋग्वेद में इन्द्र के शत्रु एक अनार्य कृष्ण की कथा है जिसमें उनका पराभव हुआ था। संभव है कि वासुदेव और विष्णु के एकाकार होने के पश्चात उन्होंने पुनः विजय प्राप्त कर ली हो। पुराण और इतिहास सभी एकमत हैं कि कृष्ण का जन्म स्थान मथुरा है। मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित मेथोरस निर्विवाद मथुरा ही है, परन्तु क्लिसोबोरस वृन्दावन होगा, जिसका प्राचीन नाम कालिकावर्त है।[२]

कुछ विद्वान यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि ईसा के पूर्व ही वासुदेव कृष्ण की उपासना देवदेव के रूप में प्रचलित हो गयी थी। उनके लिए यह विचारणीय है कि बिना पूर्व देवत्व प्राप्त किये कृष्ण की मूर्ति कैसे बन सकती थी अथवा पोरस की सेना, जैसा संकेत किया जा चुका है, विजयाकांक्षा से उसे लेकर कैसे चल सकती थी। घोर अंगिरस की शिक्षा के फलस्वरूप कृष्ण ने उन्हीं गुणों को प्राप्त किया जो केवल विष्णु को ही उस समय तक प्राप्त थे। वे गुण हैं अनश्वरता, निर्विकारिता तथा प्राणाधिपत्यता।[३] संभवतः बौद्ध धर्म के प्रचार में कृष्ण की उपासना बाधक रही होगी, इसीलिए बौद्धों ने उन्हें शत्रु मार का सहयोगी बताया है। वराहमिहिर ने द्विभुजा युक्त विष्णु की मूर्ति में ही कृष्ण का समावेश कर लिया था, अन्यथा उन्होंने जो बारहमासों के नाम नारायण के प्रति लिखे हैं उनका कोई महत्व नहीं रह जाता।[४]

पांचरात्र, भागवत् या सात्वत् सम्प्रदाय

वैदिक विष्णु की उपासना का साम्प्रदायिक रूप पांचरात्र या भागवत् धर्म में मिलता है। वह नारायण द्वारा उपदिष्ट कहा गया है। उसकी प्रमुख पुस्तक अहिरबुध्न्य संहिता में शरणागति की भावना का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ता है, जिस पर भविष्य के वैष्णव धर्म में बड़ा जोर दिया गया है।[५] उसका संबंध ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से है। उसका खंडन वादरायण के कुछ सूत्रों में मिलता है। पूर्व प्रचलित मत के दोषों को दिखलाकर नवीन मत के प्रचारक को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी होती है। उसे कुछ अविकृत और अनुपेक्षणीय बातों को ग्रहण करने की

---

१. इंडियन फिलासोफी, पृ० ४९३

२. दि एंशियंट ज्योग्राफी आफ इंडिया, खंड १, पृ० ३५-३७। श्री बैजनाथ पुरी ने 'इंडिया' आदि में लिखा है कि क्लिसोबोरा (क्लिसोबोरस) कृष्णपुर है जो संभवतः वृन्दावन सूचित करता है, पृ० १२३

३. छान्दोग्य उपनिषद २:१७:६

४. कृष्ण कल्ट इन वृहत्संहिता, श्री प्राणनाथ पंडित, ज०ए०सो० बंगाल, १८७५ ई०, पृ० १५-१९

५. अहमस्म्यपराधानमालयो किंचनोमतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवति प्रार्थनामतिः॥

—अहिरबुध्न्य संहिता, ३७:३१

आवश्यकता भी पड़ती है। वादरायण ने भी यही किया।[१] उनका संकेत छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक उपनिषदों में मिलता है, जिससे उनका समय ७००-१००० ई०पू० का और पांचरात्र का उसके भी पूर्व का माना जा सकता है।

वेद की एकायन शाखा से सम्बन्धित होने के कारण पांचरात्र को एकायन या एकान्तिक धर्म भी कहा जाता है, जो अनुष्ठाताओं को मोक्ष देता है। इसका प्रमाण ईश्वर संहिता और श्रीप्रश्न संहिता है।[२] विद्वान नागेश का मत है कि शुक्ल यजुर्वेद की कण्व शाखा का द्वितीय नाम एकायन है।[३] स्पंदकारिकाकार भी पांचरात्र को श्रुति सम्मत मानते हैं। अतः उसे श्रुति विरुद्ध एक मात्र सुधार का आंदोलन कहना युक्ति-संगत नहीं है।

महाभारत के पांचरात्र, एकांतिक, वासुदेव, नारायणीय, वैष्णव तथा सात्वत धर्म को एक कहा गया है। सात्वत धर्म से तात्पर्य यह है कि उसे सात्वत राजाओं ने ग्रहण किया था। ईश्वर संहिता, श्रीप्रश्न संहिता तथा नारद पांचरात्रोपनिषद् में एक उपाख्यान है कि नारद ने सर्वोत्तर भूभाग में नारायण से पांचरात्र की शिक्षा पाई थी। वहाँ से वे दक्षिण दिशा में श्रावस्थली पहुँचे जहाँ से उन्होंने उसका प्रचार आरंभ किया। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि भारतवर्ष के दक्षिणी भाग में कुछ सात्वत राजाओं ने उसे राजधर्म बना लिया था।[४] इस धर्म का विरोध दाक्षिणात्यों ने बहुत किया। संभवतः इसका कारण रुद्र या पाशुपति धर्म था। विष्णु के धर्म के प्रचार के कारण उसकी हानि हो रही थी। फलतः वे राजा उत्तर में भाग कर आए और वहीं बस गये।[५] आगे के मंत्रों से स्पष्ट है कि प्रतिकार की भावना से उन्होंने उसको उत्तर भारत में प्रबलता के साथ प्रचारित किया। वही राजा यदुवंशी भी कहलाए। सात्वत का अर्थ उत्वट ने परमेश्वर और पतंजलि ने भक्त किया है। सम्भवतः यदुवंशियों को यह संज्ञा इस कारण से मिली थी कि वे विष्णु के परम भक्त थे।

---

१. 'उत्पत्यसम्भवात्' तथा 'विज्ञानं ब्रह्म' सूत्र स्पष्ट भागवतों के मान्य सिद्धांत के विरुद्ध हैं। तृतीय अध्याय के तर्कवाद के सूत्रों का यदि अक्षरस्वारस्य से अर्थ किया जाए, तो वे उनके पोषक प्रतीत होते हैं।

२. एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो हि वै

—ईश्वर संहिता, अध्याय, २२, श्लोक १०

तथा—वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसिस्थितः
तदर्थक पांचरात्रं मोक्षदं तक्रियावतां।

—श्री प्रश्न संहिता (सामवेदीय), १: ४३

३. शब्देन्दुशेखर, अवन्त स्वरूप प्रकरण

४. एतस्यां दक्षिणस्यां दिशियै कै च सात्वतां राजानो भोज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते भोजेति एतानभिसिक्तान् आचक्षते।

—एतरेय ब्राह्मण, ८:३:१४

५. सात्तवन्तो राजानः प्रपीड़िता उत्तरस्यां दिशि लेभिरे-लेभिरे आश्रयं।

—वही, भाग १, मंत्र १३९

अनेक शिलालेखों और वास्तुकला का अध्ययन करने के बाद श्री रामप्रसाद चन्द्र ने निर्णय किया है कि द्वितीय शताब्दी ई०पू० में वासुदेव धर्म के दो रूप प्रचलित थे। एक में वे देवदेव थे और दूसरे में उनका स्थान संकर्षण से निम्न था। यादवों के मुखिया क्षत्रिय वासुदेव द्वारका में आभीरों तथा सौराष्ट्रों के बीच रहते थे जो सनातन धर्म की सीमा के बाहर समझे जाते थे। इसलिए संभव है कि प्रारंभ से ही वासुदेव धर्म के दो पक्ष रहे हों एक ब्राह्मणीय और दूसरा अब्राह्मणीय। अवैदिक पांचरात्रिन चार वृष्टि सरदारों की पूजा करते थे और उनका वैदिक पक्ष भगवद्‌गीताश्रित था।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि जब वासुदेव धर्म के दानों पक्ष एकाकार हो गये होंगे, उस समय पांचरात्र सम्प्रदाय ने भी व्यूहवाद को ग्रहण कर उसकी संज्ञा भी धारण कर ली होगी।

यद्यपि पांचरात्र धर्म वैदिक ही था तथापि उसे अपनाने वाले पंचम जाति के समझे जाते थे। कम से कम यमुनाचार्य के समय तक वे वैदिक क्रिया के अधिकार से वंचित तथा निम्न दृष्टि से देखे जाते थे। मनु ने सात्वतों को निम्न जाति का माना है, किन्तु निम्नजाति के द्वारा स्वीकृत धर्म निम्न नहीं हो जाता है। उन्होंने सभी वर्णो को विष्णु तथा नारायण की आराधना करने और मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार दे दिया था। यह बात कट्टर धर्मावलंबियों को खटकती थी और वे भागवत् धर्मावलंबियों को त्याज्य समझते थे। साथ ही वैदिक देवता नारायण विष्णु पर आधारित होने के कारण उच्च वर्ग ने भी उसे स्वीकार किया था। ऐसी अवस्था में इसका द्वैधा विकास होना असंगत नहीं है।[२]

द्वितीय शताब्दी ई०पू० में व्यूहवाद की उपासना मिलती है। आरंभ में उसका संबंध ईश्वर, जीव, मन और अहंकार से था। बाद में उसे ऐतिहासिक बनाने के लिए वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति की कल्पना की गई। वस्तुत: वासुदेव के भाई संकर्षण थे और पुत्र थे प्रद्युम्न। अनिरुद्ध उनके वंश का कोई विशिष्ट पुरुष भी नहीं था। संभवत: उत्तर भारत में व्यूहवाद को ऐतिहासिक स्वरूप किन्हीं कारणों से दिया गया होगा। क्रमश: उसका प्रभाव घटता गया और ईसा के बाद की शताब्दियों में कदाचित ही उसका उल्लेख हुआ हो। सिद्धान्तत: श्री सम्प्रदाय ने उसे स्वीकार तो किया पर उसका प्रचार अधिक न हो सका।

विक्रम के बाद

इस तरह समय के साथ वैष्णव धर्म का विकास होता जा रहा था। बौद्ध धर्म के प्रबल आन्दोलन के कारण वैष्णोपासना की धारा बीच-बीच में अवश्य मंद पड़ जाती थी, परन्तु उस पर भागवत् धर्म की छाप पड़ती जाती थी। सद् धर्म पुंडरीक और अश्वघोष के बुद्धचरित पर गीता का प्रभाव पूर्णतया स्पष्ट है। बौद्ध धर्म में पद चिह्न की पूजा का प्रमुख स्थान है। संभवत:

---

१. मेमायर आफ दी आर्केयालोजिकल सर्वे आफ इंडिया, संख्या ५, पृ० १६५-१६६

२. श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता ने पांचरात्र की अवैदिकता सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण दिए हैं वे प्राय: विरोधी सम्प्रदाय के हैं, उन्हें पुष्ट प्रमाण की कोटि में नहीं ले सकते। ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासोफी, खण्ड ३, पृ० १९-२०

उसका उद्‌गम विष्णु के द्वारा पृथ्वी नापने की कथा में है।[१] विक्रम की प्रथम शताब्दी में वासुदेव सम्प्रदाय के विस्तार की सीमा पश्चिमोत्तर प्रांत से लेकर विध्याचल पर्वत तक थी। पूर्व में बौद्ध धर्म के सदृश सबल प्रतिपक्षी के रहते हुए उसका विस्तार प्राय: नहीं के बराबर रहा होगा। इसके अनन्तर तृतीय शताब्दी तक का इतिहास अत्यधिक विशृंखल और तिमिराच्छन्न है। उस काल के केवल तीन शिलालेखों पर कृष्ण इंगित है। शक कुषाण काल में मथुरा के आस-पास जैनियों और बौद्धों के शिलालेखों का बाहुल्य है। नाग और भारशिव राजा शैव थे। अत: वैष्णव धर्म सीमित हो गया था।

गुप्त राजाओं ने उसे पुन: राजधर्म बनाया और सिक्कों पर अपने को परम भागवत् लिखाया। उनका धर्म पंजाब, राजपूताना, मध्य भारत, पश्चिमी भारत तथा मगध में फैला हुआ मिलता है। गुप्त साम्राज्य खंडित हो जाने के पश्चात् वह अनेक राज्यों में प्रचलित रहा। प्रधानता समाप्त हो जाने पर भी उसका सर्वथा लोप नहीं हुआ। ईसा की सातवीं शताब्दी में वाणभट्ट ने उसका वर्णन किया है। दक्षिण भारत में भागवत धर्म का प्रवेश ई०पू० में ही हो चुका था। यस्त्री शतकर्णी के चीन लेख तथा स्कंदगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में क्रमश: द्वितीय और चतुर्थ शताब्दी में, उसके सुदूर दक्षिण तक फैले होने के प्रमाण मिलते हैं।

गुप्त काल में वैष्णव धर्म की चार विशेषताएँ थीं। कृष्ण और विष्णु एकाकार हो गये थे, किन्तु विष्णु के नाम की प्रधानता थी। अवतारों की आराधना होती थी, व्यूहवाद समाप्त सा हो गया था, और सांख्य के प्रकृत-पुरुष के प्रभाव से लक्ष्मी की पूजा ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया था। चतुर्थ शताब्दी से दौ सौ वर्ष बाद तक के शिलालेखों में निरपवाद रूप से बलि की प्रधानता मिलती है। लोक भाषा दब गई थी और संस्कृत भाषा का बोल-बाला हो गया था। बौद्ध धर्म तथा संघ के नामों के प्रति आकर्षण समाप्त हो गया था। जैन भी निर्बल पड़ गये थे। पुराणों के वर्तमान रूप का पुनर्संस्करण इसी काल में प्रारम्भ हुआ था।[२]

ईसाई प्रभाव

कुछ विद्वान् वर्तमान वैष्णव भक्ति पर ईसाई प्रभाव मानते हैं। इसका निराकरण अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय पंडितों के द्वारा हो चुका था। श्री ए० बार्थ ने अकाट्य तर्क उपस्थित किया है कि यह संभव नहीं है कि प्राचीन भारतीय समाज ईसाई धर्म से एकेश्वरवाद ग्रहण करने और उसे अपने लोकप्रिय देवताओं के साथ संयुक्त करने के लिए इतने समय तक प्रतीक्षा करता रहा होगा।[३] रामानुज से पूर्व के संतों की ओर ध्यान न देने के कारण लोग उन पर ईसाई धर्म का ऋण बतलाते हैं। पांचरात्रोपनिषद में विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों के बीज मिलते हैं। उसमें ज्ञातृ-ज्ञेय, वक्तृ-वाच्य एवं भोक्तृ-भोज्य का विवेचन है, जो निश्चित ही तीन स्थिर सत्ता ब्रह्म, जीव और प्रकृति की ओर संकेत करते हैं। इसी कारण रामानुजाचार्य ने पांचरात्र को अपने

---

१. वैष्णव वर्शिप एण्ड बुद्धिज्म, के०पी० जायसवाल, इंडियन एंटीक्यूटी, १९१८ ई०, पृ० ८४

२. ए पीप इंटू दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, क०व०भं०, खण्ड १, पृ० ४४-५६

३. रेलिजन्स ऑफ इंडिया, पृ० २२०-२२१

सम्प्रदाय का मूलाधार बनाया था। उनके बाद वैष्णव धर्म की जो धारा बही उसमें आज तक सम्पूर्ण भारत विनिमंजित हो रहा है।

बाल कृष्ण

अपने ज्ञान और सभ्यता को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये पाश्चात्य विद्वानों ने जन प्रचलित भारतीय साधना को ईसाई धर्म की देन सिद्ध करना चाहा है। उन्होंने बाल कृष्ण की उपासना को विशुद्ध विदेशी बतलाया है। श्री बेवर और ग्रियर्सन का मत है कि कृष्ण को एकमात्र देवता मान कर पूजना भारतीय धर्म का अंतिम पक्ष है। उनके प्रारंभिक तथा बाद के स्वरूपों का अंतर बाह्य प्रभाव के द्वारा ही समझा जा सकता है। महाभारत के श्वेतद्वीप का आख्यान ईसाई प्रभाव का सूचक है। कृष्ण के जन्म की कथा, जन्मोत्सव के कृत्य, ग्वाल जीवन तथा दुग्ध पान के चित्र से इसकी पूर्ण पुष्टि होती है।[१] श्री कैनेडी ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि बालकृष्ण एक घुमक्कड़ गुर्जर जाति के देवता हैं जो ६वीं शताब्दी के बाद भारत में आए थे। वे आभीरों की ही एक शाखा हैं। वे हूणों से क्राइस्ट की कथा अपने साथ लाए थे। बाल्यावस्था का देवत्व ईसाई मत की ही वस्तु है। महाभारत में अन्य लोगों के सदृश कृष्ण का बाल जीवन नहीं मिलता।[२]

पिछले पृष्ठों में यह बतलाया जा चुका है कि वासुदेव कृष्ण की पूजा की परम्परा प्राचीन कील से ही चली आ रही थी। किसी महान योद्धा का कालानुसार देवता अथवा अवतार के रूप में परिवर्तित हो जाना असाधारण बात नहीं है। इसके लिए बाह्य प्रभाव ढूँढ़ना असंगत है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उचित ही कहा है कि "जान नहीं पड़ता कि श्वेतद्वीप के लिये अतना बावेला क्यों खड़ा किया गया है। वह एक स्वर्ग की कल्पना मात्र है।"[३] यह भी संभव है कि उत्तर पश्चिम के श्वेत निवासी कश्मीरी रहे हों। जन्मोत्सव के अनुष्ठान ईसा के जन्म के पूर्व ही अनेक देशों में प्रचलित थे और बालकृष्ण के साथ संबंधित ग्राम्य दृश्यों आदि का संबंध अति प्राचीन वैदिक कथा से है। इलोरा की गुफाओं में उत्कीर्ण सप्त मातृकाओं में से तृतीय 'विरत्' को दुग्ध पान कराती हुई देवकी के समानान्तर रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त मिस्र में मैडोनालैक्टिस की वार्ता ५ शताब्दी ई० तक ज्ञात नहीं थी और उसका असंदिग्ध उदाहरण १२वीं शताब्दी का ही है।[४] पिठारी, भोपाल में एक कृति का पता लगा है जिसमें नवजात कृष्ण

---

१. देखिए, श्री बेवर का लेख 'एन इन्विस्टीगेशन इंटू द ओरिजन आफ दि फेस्टीवल आफ कृष्ण जन्माष्टमी, इंडियन एंटीक्यूटी, खंड ३, पृ० २१-२४, ४७; खंड ६, पृ० १६१-१८१, २८१-३०१, ३४४-३५४ तथा श्री जार्ज ग्रियर्सन का लेख 'माडर्न हिन्दुइज्म एंड इट्स डेट टू द नेस्टोरियन्स', ज०रा०ए०सो०, १९०७ ई०, पृ० ३११-३२८

२. चाइल्ड कृष्णा, क्रिश्चियनिटी एंड द गुर्जर, कैनेडी, ज०रा०ए०सो०, १९०७ ई०, पृ० ९५१-९९१ तथा द चाइल्ड एंड हिज क्रिटिक्स, कैनेडी, ज०रा०ए०सो०, १९०८ ई०, पृ० ५०५-५२१

३. सूर साहित्य, पृ० ३

४. डॉ० ग्रियर्सन के निबंध पर विवाद, ज०रा०ए०सो०, १९०७ ई०, पृ० ४८३

माँ के पार्श्व में लेटे हुए हैं और पाँच सेवक पास खड़े हैं। यह लगभग गुप्तकाल के समय की कृति है।[१]

दूसरी समस्या आभीरों और जाटों की है। डॉ० भण्डारकर आदि विद्वानों का अनुमान है कि वे ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत आए होंगे।[२] श्री वी० कनक समाई ने दक्षिण भारत की एक जाति अयर (आभीर का द्रविड़ रूप) का वर्णन किया है, जिसका कार्य पशुपालन है और अर्थ है गोरक्षक। वे वहाँ पाण्ड्य राजाओं के साथ पहुँचे थे।[३] श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने आकृति विज्ञान आदि के सहारे सिद्ध किया है कि गुर्जर और जाट द्वितीय आक्रमणकारी आर्य समूह के साथ आए थे, अर्थात वे चन्द्रवंशी थे और अधिकतर वैश्य थे।[४] पतंजलि ने अपने महाभाष्य वार्तिक में आभीरों को शूद्र बतलाया है जिससे ईसा की कई शताब्दियों पूर्व उनका पता चलता है।[५] इन सब प्रमाणों से यह असंभव है कि आभीर अथवा गुर्जर अपने साथ ईसा के धर्म की कथा लाए हों।

भास का लिखा हुआ एक नाटक बालचरित है। उसमें कृष्ण के जन्म से लेकर कंस वध तक की कथा है। उसमें अनेक खलों के वध के दृश्य हैं, परन्तु गोपी लीला नहीं है। कई स्थलों पर कृष्ण की स्तुति नारायण अथवा पुरुषोत्तम मानकर की गयी है।[६] श्री पुशाल्कर ने अनेक आंतरिक एवं बाह्य साक्षियों के आधार पर भास का रचना काल ईसा से चार शताब्दी पूर्व का सिद्ध किया है।[७] अन्य विद्वान भी उनका समय ईसा से पूर्व का ही मानते हैं। भारतवर्ष में अत्यंत प्राचीन काल से ही बाल स्वरूप की आराधना चली आ रही है। इसका प्रमाण यजुर्वेद का अध्वर्यु शाखा में बालखिल्य की उपासना में मिलता है। बालखिल्य पाँच वर्ष तक के बाल को कहते हैं और वे भगवान के पार्षद समझे जाते हैं। आगे चलकर उनमें प्रथमावतार की कल्पना की गई। इसके लिए न्याय और वैशेषिक का सृष्टि प्रकरण देखा जा सकता है।

कृष्ण के बाल स्वरूप में आरम्भ से ही ईश्वरत्व के आरोप का कारण हरिवंश में, उग्रश्रवा और शौनक ऋषियों की वार्ता में मिलता है। महाभारत वस्तुतः कुरु और पांचाल वंश का इतिहास है। पांडवों के सबल सहायक के रूप में कृष्ण वहाँ चित्रित हुए हैं। उसके बाद उनके देवगुण विशिष्ट व्यक्तित्व ने लोगों को बहुत प्रभावित किया था। वे उनका बाल्य जीवन जानने के लिए उत्सुक हो उठे थे। ऐसी ही परिस्थितियों में हरिवंश सुनाया गया था। फलतः प्रारम्भ

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इंडिया एंड सीलोन फ्राम द अर्लियस्ट टाइम्स टू प्रजेंट डे, बी०ए० स्मिथ, पृ० १६४

२. वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रेलिजस सिस्टम्स, क०व०भं०, खंड ४, पृ० ५१५

३. मे०स्ट०वै०से०, पृ० ९१

४. ए हिस्ट्री ऑफ मेडीवल हिन्दू इंडिया, खंड १, पृ० २५१-२५६

५. डेट ऑफ आभीर माइग्रेशन इंटू इंडिया, एन०जी० मजूमदार, इंडियन एंटीक्यूटी, १९१८ ई०, पृ० ३६

६. बालचरितम्, अंक १, दृश्य १, श्लोक २, ६, ८ तथा अंक ३, दृश्य २, श्लोक १२-१३

७. भास—स्टडी, ए०जी० पुशाल्कर, पृ० ६१-८०

से ही उनमें परमदेवत्व की भावना को प्रश्रय मिला था। ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण की बाललीला की सर्व प्राचीन मूर्ति द्वितीय शताब्दी कुषाण काल की है। उसमें एक शिलापट्ट में कृष्ण को उठाये हुए वासुदेव का यमुना पार करने का दृश्य है (मथुरा म्यूजियम संख्या १३४४)। इसके पश्चात् पहाड़पुर बंगाल के मंदिर में गुप्त कालीन मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं।[१]

राधा

वासुदेव की तरह राधा में कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं है। महाभारत, हरिवंश, विष्णु पुराण तथा भागवत् पुराण में राधा का नाम नहीं है। अत: राधा की कल्पना अर्वाचीन समझी जाती है। परन्तु गाथासप्तशती में राधा शब्द पाया जाता है। उसमें प्राचीनता के सब लक्षण हैं। संदेह करने के लिये उसमें केवल दो ही शब्द मिलते हैं राधिका और मंगलवार। यह तो स्पष्ट ही है कि ईसा के पहले वारों का प्रचार भारतवर्ष में होना असंभव नहीं था।[२] राधिका शब्द नवीनता सूचित नहीं करता। उससे इतना अवश्य मालूम होता है कि पुराणों की रचना संभवत: और पहले हुई होगी, ८५० ई० के लगभग आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में राधा का उल्लेख किया है।[३] मालवा के पृथ्वीवल्लभ मुंज के ९७४ ई० तथा ९७९ ई० के ताम्रपत्रों में राधापरक मंगलाचरण है।[४] धारा के अमोघवर्ष के ९८० ई० वाले शिलालेख में राधा का उल्लेख कृष्ण की प्रिया के रूप में हुआ है।[५]

राधा को पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आभीर जाति की प्रेमदेवी अथवा किसी आर्यपूर्व जाति की प्रेमदेवी अनुमानित किया है। यथार्थ में राधा परम भक्त गोपी की एक प्रतीक मात्र प्रतीत होती है। कृष्ण की आराधिका राधा हैं। हरिवंश, विष्णु और भागवत् पुराण में गोपी तत्व क्रमश: विकसित होता रहा और अंत में कृष्ण की परम आह्लादिनी शक्ति स्वरूपा तथा प्रेमरसपूर्ण गोपी राधा की कल्पना की गई। विष्णु से एकाकार होकर कृष्ण श्री से युक्त हो गये और विष्णु पुराण में श्री के संबंध में जो कुछ कहा गया है, ब्रह्मवैवर्त में ठीक वही राधा के सम्बन्ध में कहा गया है। सांख्य के प्रकृति-पुरुष के सिद्धान्त ने भी राधा तत्व में निर्माण में योग दिया है।[६]

कुछ विद्वान अन्य वैष्णव तत्वों की तरह राधा भावना का उत्स भी दक्षिण भारत में

---

१. मथुरा में ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवताओं की मूर्तियाँ, वासुदेव शरण अग्रवाल, हिन्दुस्तानी, १९३७ ई०, पृ० ७

२. सूर साहित्य, पृ० १३-१४

३. तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणाम्
क्षेमं भद्रकलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।

—ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २०२

४. प्राचीन लेखमाला, प्रथम भाग, संख्या १

५. 'गुजरात और उसका साहित्य', के०एम० मुन्शी, पृ० १२६-१२७

६. सूर साहित्य, पृ० १७

खोजते हैं।[१] प्रस्तुत लेखक को ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल या उड़ीसा या उसके आसपास के प्रदेश राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीला का उद्‌गम स्थल रहा होगा। इस प्रदेश में तांत्रिक साधना, विशेषकर वाममार्गी सम्प्रदाय, का यथेष्ट प्रचार था और आज भी है। ह्रासोन्मुख बौद्धधर्म ने भी उस साधना पद्धति को स्वीकार कर लिया था। प्राचीन परम्परा से प्राप्त तान्त्रिकता का मर्यादित रूप में प्रवेश वैष्णवों ने भी अपने धर्म में करना आवश्यक समझा होगा। संभवत: लोक रुचि भी उसी ओर रही होगी। शनै:-शनै: शृंगारिकता की भावना परिपुष्ट होती हुई राधा कृष्ण की प्रतीक भावना में पर्यवसित हुई होगी।

इस तरह मध्यकालीन वैष्णव आन्दोलन के पूर्व जन समाज में विष्णु के अवतार परम कूटनीतिज्ञ पांडवो के सहायक, देवदेव, गीताकार कृष्ण और लोकावतार गोपीजन प्रिय गोपाल कृष्ण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यद्यपि मातृ, पितृ, स्वामी आदि के रूप में ब्रह्म की कल्पना उपनिषद काल से भी पूर्व हो चुकी थी। किन्तु उसमें निजत्व की भावना का समावेश पूरी तरह न हुआ था। ईश्वर की अनुकम्पा पर प्रबल विश्वास होते हुए भी एक मात्र उसी पर ही बल नहीं दिया गया था। श्री ग्रियर्सन के शब्दों में 'अचानक बिजली की चमक की तरह एक नवीन-धारा देश के एक कोने से दूसरे कोने मे फैल गई।'[२]

इस अभूतपूर्व बात को देखकर अनेक विचारक नव्य वैष्णव धर्म को ईसाई धर्म की देन समझते है। अपने पक्ष के समर्थन मे वे सेन्ट टामस की कथा और उनकी मैलापुर की समाधि, दक्षिण भारत में सीरिया के नेस्टोरियनों की बस्ती और फारस में पादरी जान का उल्लेख करते है। उनके समस्त तर्कों का खंडन हो चुका है। सेन्ट टामस और दक्षिण भारत के सम्पर्क की कथा मार्कोपोलो (१३२४ ई०) के पूर्व नहीं मिलती। उनका मृत्युस्थान 'करमन' फारस का करायन होगा। मैलापुर की समाधि की बात नेस्टोरियनों ने कल्पित की है। कोस्मस (५३५ ई० के लगभग) से पूर्व दक्षिण भारत और सीलोन में कोई ईसाई चर्च न था।[३] नेस्टोरियन ईसाइयों के प्रभाव की बात का खंडन डॉ० कीथ, बर्थ आदि विद्वानों ने किया है। मध्यकालीन वैष्णव आन्दोलन यद्यपि अभूतपूर्व था परन्तु अचानक उत्पन्न न हुआ था। उसके पीछे कई शताब्दियों की साधना थी। इतिहास ने अनेक उपकरण जुटा रखे थे। उन सबके संघटन से अवरुद्ध श्रोत की तरह वह आन्दोलन फूट निकला था। अत: यहाँ पर सैकड़ों वर्षो से चली आती हुई राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं का संक्षिप्त अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

---

१. निम्बार्क और विष्णु स्वामी द्वारा प्रचारित होने के कारण कुछ विद्वान राधा की कल्पना दक्षिण से आई हुई मानते हैं, इसके विरुद्ध श्री फर्कुहर ने लिखा है कि ११०० ई० के लगभग वृन्दावन में राधा की कथा निर्मित हुई।

ऐन आउट लाइन आफ रेलिजन्स आफ इंडिया, पृ० २३८

२. माडर्न हिन्दुइज्म एण्ड इट्स डेट टू द नेस्टोरियन्स ज०रा०ए०सो० १९०७ ई०, पृ० ३१२

३. 'द कनेक्शन ऑफ सेन्ट टामस द एपाशल विध इंडिया', डब्ल्यू०आर०फिलिप्स, इंडियन एंटीक्यूटी, १९०३ ई०, पृ० १-१५, १४९-५१

मध्यकालीन आन्दोलन की प्रेरक शक्तियाँ

राजनीतिक परिस्थिति

मध्यकालीन वैष्णव आन्दोलन की लहर दक्षिण भारत से आई थी। उसका कारण यह था कि उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य के बाद बड़ी अव्यवस्था फैल गई थी। देश छोटे-छोटे प्रदेशों में बँट गया था और राज्यों की सीमाएँ शीघ्रता के साथ बदल रही थीं। हूणों के आक्रमण कुमारगुप्त के समय से ही आरम्भ हो गये थे इसलिए वहाँ विद्या, कला तथा धर्म को विकसित होने का पर्याप्त अवसर न मिल सका। केवल वर्धन, पाल और सेन राजाओं ने ही उत्तर भारत में कुछ समय तक सुदृढ़ राज्य किया था। हर्षवर्धन के राज्य काल में विद्या और कला की समुचित उन्नति हुई थी। मगध के पाल वंश ने विक्रम शिला में बौद्ध मठ और विद्यापीठ स्थापित किये थे। ११९७ ई० में बख्तियार खिलजी ने बंगाल तक जीत कर पाल राज्य को समाप्त कर दिया और बिहार तथा नगर के सारे बौद्ध भिक्षुओं की हत्या कर डाली।[१] ११वीं शताब्दी से बंगाल में सेन वंश का प्रभुत्व जम गया था। उन्होंने हर तरह से ब्राह्मण धर्म को प्रोत्साहन दिया था। बल्लाव सेन ने नेपाल और अराकान में ब्राह्मण धर्म के उपदेशक भेजे थे। लक्ष्मण सेन के समय में जयदेव ने गीत-गोविन्द की रचना की थी। तंत्र ग्रंथों की बहुत बड़ी संख्या सेन वंशों के राज्य काल में निर्मित हुई थी।

मध्य भारत पर दसवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक चेदि वंशियों और चन्देलों का राज्य रहा है। ये दोनों राजवंश ब्राह्मण धर्म के पोषक थे। १३वीं शताब्दी के अंत में अलाउद्दीन खिलजी ने उत्तर से लेकर दक्षिण तक विजय करते हुए प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसके बाद सोलहवीं शताब्दी तक राज्यों में बहुत परिवर्तन होते रहे और अंत में देश पर मुगलों का राज्य स्थापित होने पर थोड़ी शान्ति स्थापित हुई।

दक्षिण भारत की अवस्था भी उत्तर भारत से अत्यधिक भिन्न न थी। वहाँ भी युद्ध के मेघ बराबर बरसते रहे, परन्तु एक तो वहाँ राज्यों की सीमाएँ उतनी तेजी के साथ नहीं बदली जितनी उत्तर भारत में और दूसरे उन युद्धों का देश के अन्य विषयों और वर्गों पर प्रभाव न पड़ा था। मुसलमानों की तरह वहाँ लुटेरे नहीं पहुँचे थे। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी से ही वहाँ के सभी शासक ब्राह्मण अथवा जैन धर्म और भारतीय संस्कृति के पोषक थे। इस कारण वहाँ की विचारधारा बराबर जागरूक रही। उसने लोक और परलोक के प्रश्नों पर सजीवता के साथ विचार किया। कला के क्षेत्र में भी जब उत्तर भारत में हमारी उन्नति और विकास का क्रम समाप्त हो चुका था, दक्षिण ने इस क्रम को बनाये रखने का भार अपने ऊपर ले लिया था।[२] इन्हीं कारणों से नव भारतीय संस्कृति के निर्माण में हम दक्षिण भारत का प्रमुख हाथ पाते हैं।

तीसरी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के बीच पल्लव, कदम्ब, चोल, राष्ट्रकूट, होयसल और विजयनगर के राजाओं ने अनेक प्रसिद्ध शैव और वैष्णव मंदिरों का निर्माण कराया था।

---

१. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ४९१

२. भारतीय मूर्तिकला, पृ० १३०

उनके राजदरबारों में सैकड़ों पंडित रहते थे। वे पाठशालाएँ बनवाते थे और विशेष पंथों के लिये व्याख्यानशाला स्थापित करते थे। वीर चोल के पिथम्पुरम ताम्रपत्रों में गाँव का एक हिस्सा वैयाकरण को, दो मीमांसकों को, एक वेदान्ती को, एक-एक वैद्य, नाई, विष वैद्य, ज्योतिषी इत्यादि को दिये गये हैं। विष्णु, कैलाशदेव और दूसरे देवताओं के मंदिरों को भी हिस्से दिये गये हैं।[१] अनेक राजा स्वयं संस्कृत, तमिल या तेलुगु के मर्मज्ञ होते थे। वे विद्वानों को अपनी सभा में बुलाकर शास्त्रार्थ कराते थे, उनका आदर करते थे तथा उन्हें धन अथवा भूमि भी देते थे।

चौदहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक का समय इतिहास की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के पराजय का काल है। एक प्रबल विदेशी शक्ति ने अपना आतंक सम्पूर्ण भारत पर फैला दिया था। उनके पास अप्रतिहत धार्मिक जोश था, अपना तत्व ज्ञान था, एशियाई देशों में उसकी व्यापकता थी और राजनीतिक प्रबल शक्ति थी। १२वीं शताब्दी के पूर्व के विदेशियों के समक्ष भारतीयों ने अपना सिर अवश्य झुकाया था परन्तु कुछ काल के अंदर ही उन्होंने या तो उन्हें देश से बाहर निकल दिया था या पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था। अब देश को एक ऐसी प्रबल शक्ति का सामना करना पड़ा जिसे न निकाला जा सकता था और न आत्मसात् ही किया जा सकता था। अत: हिन्दू सभ्यता ने आत्मरक्षार्थ नए-नए उपाय ढूँढ़े। उसके लिये उनकी दृष्टि भविष्य की अपेक्षा भूतकाल पर अधिक केन्द्रित हुई। आशावाद की जगह भाग्य पर अधिक विश्वास होने लगा। भौतिक दु:खों से त्राण पाने के लिए उन्हें परमात्मा का ही सहारा सरल प्रतीत होता था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मुसलमानों की विजय के बाद हिन्दू सभ्यता समाप्त हो गयी। राज्य व्यवस्था और ग्राम संगठन में कोई हस्तक्षेप न किया गया था। राज दरबारों में अनेक हिन्दू विश्वासपात्र बन कर कार्य करते जाते थे। यह ध्यान रखना चाहिए कि युद्ध प्राय: नगरों में ही हुआ करते थे। गाँवों की जनता पर उनका बहुत कम प्रभाव पड़ता था, क्योंकि वहाँ के शासन प्रबंध में फेरफार कम होते थे। इसलिए ग्रामों की जनता अपना जीवन साधारण ढंग से ही व्यतीत करती थी। वह साधुओं और संन्यासियों के सत्संग से भक्ति और ज्ञान की चर्चा किया करती थी।

सामाजिक अवस्था

नवीं से सोलहवीं शताब्दी तक देश की सामाजिक व्यवस्था में भी अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस समय सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह हुई कि भोजन भेद, जातीय शुद्धता और स्थानीय प्रथाओं के कारण भारतीय समाज अनेक उपजातियों में बँट गया।[२] मुसलमानों के आक्रमण होने पर उत्तरी भारत से कई ब्राह्मण वंश दक्षिण चले गये और वहाँ उन्होंने पृथक वर्ग बना लिया। विवाह और खानपान उपजातिगत होने लगा। वैश्यों ने वैदिक कर्म-कांड छोड़ रखा था, क्योंकि अन्य उच्च जातियों की अपेक्षा उन्होंने बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म को अधिक अपनाया था। समाज में शूद्रों का स्थान निम्नतम हो गया था। आगे की

---

१. **हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ५२५**

२. **'मेडीवल हिस्ट्री ऑफ हिन्दू इंडिया', खंड ३, पृ० ३७५**

शताब्दियों में हिन्दू जाति ने अनेक धर्मों और जातियों से अपनी रक्षा करने के लिए खान-पान और जाति-पाँति के बंधन और भी कड़े कर लिए थे। स्वतंत्रता के समय हिन्दू समाज का नेतृत्व राजा और पुरोहित दोनों के हाथ में था। अब राजनीतिक पराजय के बाद वह केवल पुरोहितों के ही हाथ में रह गया। उच्च विषयों और मोक्ष के अधिकारी उच्च वर्ग और जाति के ही लोग समझे जाने लगे। अब तक आश्रम व्यवस्था पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी थी।

ईसा के पूर्व और कुछ शताब्दियों के अंदर भारतीय ज्ञान की अनुपम वृद्धि हो चुकी थी। विद्वानों ने प्राचीन पुस्तकों पर भाष्य अथवा टीका लिखना आरम्भ कर दिया था। बौद्ध धर्म के उन्मूलन करने और समाज का संगठन ब्राह्मण धर्मानुसार करने के निमित्त यह आवश्यक हो गया था कि प्राचीन ग्रंथों की नवीन व्याख्याएँ की जायें। जब तक हिन्दू जाति में जीवन शक्ति थी उसने नवीन स्मृतियों एवं पुराणों की रचना कर समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की थी। मुसलमानों के आने पर कुछ शास्त्रकारों ने प्राचीन ग्रंथों में काल धर्म की उपयोगिनी विधि व्याख्याओं की खोज आरंभ की। विदेशी शक्ति का सामना करने के लिए वे हिन्दू शास्त्रों की सारी शक्ति केन्द्रित कर रहे थे।[१]

इस काल में आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रचलन बढ़ गया। जैन राजाओं ने प्रादेशिक प्राकृत और अपभ्रंश को प्रश्रय दिया। बंगाल में सेन राजाओं ने बंगला साहित्य को प्रोत्साहन दिया था। राजपूत दरबारों में भाट और चारण लोक भाषा में आश्रयदाताओं का यश गाते थे। आधुनिक भाषाएँ अपभ्रंश का स्वाभाविक विकास नहीं हैं, अन्यथा उनमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य न होता। बौद्ध धर्म के ह्रास और ब्राह्मण धर्म के विकास के कारण संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन मिल गया था। बौद्ध धर्म ने भी स्वयं संस्कृत भाषा ग्रहण कर ली थी। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के प्रभाव ने उसे और अधिक प्रचलित किया, जिससे आधुनिक भाषाओं ने प्रेरणा ग्रहण की थी। आधुनिक आर्य भाषाओं के शीघ्र विकसित होने का एक दूसरा कारण भी है। मुसलमानों के लिए संस्कृत समझना कठिन था। इसलिए आरम्भ से ही उन्होंने बोलचाल की भाषा को प्रश्रय दिया। प्रादेशिक बोलियाँ साहित्य का विषय बन गईं। 'समग्र भारतीय साहित्य में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़ि प्रियता, कर्म निष्ठा के साथ ही पूर्वी आर्यों की भाव प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेम निष्ठा का मणि कांचन योग हुआ है।[२]

मध्यकालीन भारतीय समाज में कोई उच्च आदर्श न था। विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न दंड निश्चित हो चुके थे। समाज में निकृष्ट श्रेणी के भाग्यवाद ने अपनी जड़ जमा ली थी। लक्ष-लक्ष निरुद्योगी भिक्षुओं तथा संन्यासियों से सम्पूर्ण समाज आक्रांत था। चारों ओर बाह्याडम्बर तथा पाखंड का बोलबाला था। धनी और अधिकारी वर्ग सुख भोग में लिप्त था। विहार करना ही उनके जीवन का आदर्श हो रहा था। दूसरी ओर तंत्र का प्रखर प्रभाव था। बौद्धों की शाखा बज्रयान और सहजयान ने निम्न कोटि की परकीया भावना वाली तांत्रिक

---

१. **सूर साहित्य, पृ० ४४-४७**

२. **हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २३-२९**

साधना ग्रहण कर ली थी। अनेक अश्लील मूर्तियाँ सहवास की मुद्राओं में बनने लगी थीं। ९०० ई० और १३०० ई० के बीच निर्मित अनेक मंदिरों में अश्लील मूर्तियाँ पाई जाती हैं। खजुराहो और भुवनेश्वर के मंदिर उनके उदाहरण हैं।[१]

रंगपुर, दिनाजपुर आदि उत्तर बंगाल के जिलों में १२वीं-१३वीं शताब्दी के प्रचलित गीत पाये गये हैं, जिन्हें धमाली कहते हैं। अलस धमाली या कृष्णधमाली बड़े ही अश्लील होते थे। चंडीदास ने शुक्ल धमाली का संशोधन करने के लिए कृष्ण कीर्तन की रचना की थी। उसी से अनुमान किया जा सकता है कि वैष्णव धर्म ने किस परिस्थिति में श्रृंगारिकता ग्रहण की होगी।[२]

धार्मिक स्थिति

कुशाणों के हाथ में पड़ कर बौद्ध धर्म ने अपनी आध्यात्मिक स्वतंत्रता नष्ट कर दी थी और वह राजनीतिक साधन बन गया था। हिन्दुओं ने यह समझ लिया था कि वह धर्म हमको दुर्बल और निष्क्रिय बनाने वाला है। कुशाणों के बाद नागवंशी भारशिवों और वाकाटकों के आराध्य देव बन कर भगवान शिव ने सम्पूर्ण भारतवर्ष को आच्छादित कर लिया था। समुद्रगुप्त और उनके उत्तराधिकारियों ने विष्णु को अपना पूज्य बनाया था जिनकी मूल पुस्तक गीता थी।[३] राजाश्रय न पाने पर भी बौद्धमत मृत न हुआ था और सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन ने उसे प्रश्रय दिया था। वह समय संक्रमण काल का था। कभी-कभी एक ही घर में विभिन्न मतावलम्बी बिना किसी दुर्भावना के अनेक निगूढ़ विषयों पर विवाद करते थे। बौद्ध धर्म के संरक्षक पाल वंशी राजा भी उदार थे। दक्षिण भारत में कम से कम तृतीय शताब्दी से उसे आश्रय मिला ही नहीं। परन्तु जब तक बौद्ध धर्म में स्फूर्तिदायिनी शक्ति रही वह जन साधारण पर अपना शासन बनाये रहा।

बौद्ध धर्म ने जिन बाह्याचार और आडम्बरों के विरोध में अपना कार्य आरम्भ किया था। प्राय: वे सभी बातें सातवीं शताब्दी तक उसमें आ घुसी थीं। ईसा के बाद द्वितीय शताब्दी में कनिष्क ने अपनी चतुर्थ महासभा संगीत की आयोजना एकता लाने के लिए की थी, परन्तु लगभग उसके बाद ही उसमें हीनयान और महायान नाम से दो शाखाएँ हो गई थीं। हीनयान प्राचीन पाली ग्रंथों और उपदेशो पर श्रद्धा रखता था और महायान सुधरे हुए नवीन संस्कृत ग्रंथों तथा नवीन विचारधारा पर। महायान सम्प्रदाय के अनुसार संन्यास और ज्ञान मुख्य नहीं हैं। मुख्य है भक्ति और कर्म। उसमें बुद्ध के व्यक्तित्व की पूजा होने लगी और हिन्दू अवतारवाद और शक्ति के ढग पर बोधिसत्वो और प्रज्ञापारमिता आदि की प्रतिष्ठा ही नहीं हुई, मूर्तियाँ भी बनने लगीं। जीवित रहने की अभिलाषा में महायान धर्म को विशाल हृदय होना पड़ा और जन समाज में प्रचलित विश्वास को स्वीकार करना पड़ा। उसने प्राणिमात्र से प्रेम करने की शिक्षा

१. भारतीय मूर्तिकला, पृ० ११६
२. सूर साहित्य, पृ० ९३
३. अंधकार युगीन भारत, पृ० ४५६

दी और विश्व निर्माण का द्वार खोल दिया।[१] धर्मकाय को स्वीकार कर उसने आत्मा को स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे वह सनातन हिन्दू धर्म की अनेक बातें ग्रहण करता गया और अंत में उसी में घुल-मिल गया।

सभी स्थानों से तथ्य ग्रहण करने की प्रवृत्ति के कारण बौद्ध धर्म में अन्धविश्वासों का प्रवेश हो गया। उसमें अनेक गर्हित तथा निम्न स्तर की बातें आ घुसीं। भिक्षु और भिक्षुणियाँ गुप्त रीति से मिलने लगे और उन्होंने 'गुह्य समाज' की स्थापना कर ली। धीरे-धीरे वे तांत्रिक साधना से भी प्रभावित होते गए और बज्रयान तथा सहजयान के सदृश्य सम्प्रदाय चल निकले। ब्रह्मानन्द अथवा निर्वाण का 'महासुख' सहवास के सुख के सदृश्य बज्रयान सम्प्रदाय में बताया गया है। रहस्यात्मकता देने के लिए उन लोगों ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जो लाक्षणिक है। योगियों की साधना से भी प्रेरणा ग्रहण की गई और ८वीं-९वीं शताब्दी तक बज्रयानी बौद्ध तंत्र-मंत्र, जादू-टोना और ध्यान धारणा से भारतीय समाज का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते रहे। दुराचार का प्रचार भिक्षुणियों के द्वारा समाज में होने लगा। परकीया प्रेम का आदर्श चारों ओर फैल रहा था। सहजयान का अर्थ है सरल मार्ग और वह सहज स्वाभाविक मार्ग से भगवान् को और मोक्ष को प्राप्त करने की ओर उन्मुख है। युगुल मूर्ति को पूर्णता तक पहुँचाने में इस मतवाद का बड़ा हाथ रहा है।

कुमारिल भट्ट तथा मंडन मिश्र

आठवीं शताब्दी में भारतवर्ष संन्यासियों से भरा हुआ था। उत्तर भारत में वैदिक यज्ञ आदि कर्म बंद से हो गये थे। बौद्ध सिद्धांत, आचार, व्यवहार और व्यभिचार की देश में तूती बोलती थी। कापालिकों और वामाचारियों ने बलि का प्रचार खूब कर रखा था किन्तु बौद्धों और जैनियों की अहिंसा का विस्तार अधिक था। दक्षिण भारत में जैनियों को राजाश्रय अभी प्राप्त था। इसलिए वहाँ अहिंसा का अधिक प्राबल्य था। समाज में बाह्याचार और आडम्बर घुस आए थे। ऐसे ही समय में भारत की तीन महान् विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ। वे प्रकट हुईं कुमारिल भट्ट, मंडन मिश्र और शंकराचार्य के रूप में। बौद्ध संघ में रहकर कुमारिल भट्ट ने उनका रहस्य समझा था। उन्होंने पूर्व मीमांसा पर अधिक बल दिया और शास्त्रार्थ के द्वारा बौद्ध धर्म के दिग्गजों को परास्त किया तथा वैदिक धर्म की पुन: प्रतिष्ठा की। भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का उन्मूलन करने वाले शंकराचार्य कहे जाते हैं। यह ठीक नहीं है। सच तो यह है कि कुमारिल भट्ट, मंडन मिश्र आदि मीमांसकों ने बौद्ध धर्म के प्रभाव को समाप्तप्राय कर दिया था। शंकराचार्य ने सिद्धांत पक्ष को अपनाया और रहा सहा बौद्ध नियंत्रण भी समाप्त कर दिया।

कुमारिल भट्ट ने पूर्व मीमांसा का सहारा लेकर वैदिक कर्मकांड यज्ञादि का प्रचार किया था और संन्यास की उपेक्षा की थी। बौद्ध धर्म के प्रभाव से जन समाज अहिंसक बन चुका था। वह न बलियुक्त यज्ञ को स्वीकार कर सकता था और न अग्निहोत्र को। इसी समय ब्राह्मण कुल में शंकराचार्य का उदय ७८८ ई० में हुआ। उनमें शास्त्रार्थ करने की अद्भुत प्रतिभा थी और पास था एक उच्च सिद्धांत। वे संन्यास के पक्षपाती, अग्निहोत्र और पशुबलि के उपेक्षक,

---

१. आउटलाइन आफ महायान बुद्धिज्म, पृ० ६२-६५

और गौण रूप से ही सही, पर वे मूर्ति पूजा के समर्थक थे। शंकर के सिद्धांत में बौद्ध धर्म के विज्ञानवाद और शून्यवाद के साथ ही साथ उपनिषद की चिरात्मा की भावना का प्राय: योग है।[१] इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से वे बौद्ध मत के पोषक थे। जनता ने उन्हें सरलता से अपना लिया।

शंकराचार्य

शंकराचार्य का सिद्धांत अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। वह निर्गुण, निर्विशेष, निष्क्रिय, निरवय और निरुपाधिक है। उसका सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत भेद नहीं हो सकता। जीव ब्रह्म ही है। वह न कर्तृ है, न भोक्तृ, इस कारण मुक्ति का प्रश्न वास्तव में उठता ही नहीं। ससीमता और उसका परिणाम उपाधि के कारण भासित होता है। उस 'उपाधि' की स्थिति अविद्या से है। अहं की भावना बन्धन है और अभेदता की भावना मुक्ति। 'तत्वम्' का अनुभव मुक्ति है जो सशरीर प्राप्त हो सकता है। अविद्या के कारण ब्रह्म संसार रूप मे भासित होता है। जब तक ब्रह्म की अद्वैत की प्रतीति नहीं होती संसार भी सत्य लगता है। निर्विशेष ब्रह्म से सविशेष संसार का संबंध जोड़ने के लिए आवश्यक है कि यह माना जाय कि संसार न कभी था, न है और न होगा। इस विरोधाभास का निराकरण माया अथवा अध्यास के द्वारा ही सम्भव है। वह माया अनिर्वचनीय है। संसार के निर्माण का कारण माया नहीं है, कारण है ब्रह्म। संसार विवर्तवाद का प्रतिफल है। कर्म से परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती, वह ज्ञान की प्राप्ति पर ही मिल सकता है। अविद्या का नाश भी ज्ञान द्वारा होता है। ज्ञान होने पर कर्म आवश्यक नहीं है, परन्तु उसके पूर्व सभी श्रुति सम्मत कर्मो का पालन करना चाहिए, क्योंकि उनसे ज्ञान मिल सकता है। परमार्थ सत्य पूर्णता में है और वह सोपाधि और सविशेष मानव बुद्धि के द्वारा अनुभूत नहीं हो सकता। सत्य का ज्ञान श्रुतियों से ही हो सकता है। उन्होंने यावत् संसार, कर्म और उपासना का उतना ही अस्तित्व माना है जितना कि ज्ञातव्य ब्रह्म का। अंतर केवल इतना ही है कि जीवन का पर्यवसान कर्म और उपासना में ही नहीं, अपितु ज्ञान में है, और शेष दोनों उसके नियत उपजीव्य हैं।

शंकर के बाद

कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य बौद्ध धर्म को पूर्णत: समाप्त नहीं कर पाए थे। उत्तर भारत में पालवंशीय राजा उसके समर्थक बने रहे और दक्षिण भारत में माधवाचार्य को बौद्ध पंडितों से शास्त्रार्थ करना पड़ा। सोलहवीं शताब्दी तक बंगाल में बहु संख्यक बौद्ध रहते थे। कोई भी आन्दोलन उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। नव वैष्णव धर्म भी अपवाद न बना था। विदेशी पंडित जिन उपकरणों को ईसाइयत की वस्तु समझते हैं, प्राय: वे सभी महायान बौद्ध धर्म की उपज हैं। बोधिसत्व और प्रज्ञापारमिता की उपासना में निजत्व अधिक था। निजत्व की भावना के कारण उपास्य से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करना सरल था। ईश्वर, पिता, माता, स्वामी,

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासोफी, खंड १, पृ० ४९३

सखा सभी कुछ पहले ही से था। नव वैष्णव सम्प्रदायों के आराध्य उपमान से उपमेय हो गये। वे वास्तविक रक्त मांस के पिता, स्वामी, सखा, बालक आदि समझे जाने लगे। उनके निर्माण में यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष महायान सम्प्रदाय सहायक हुआ है। शरणागति प्राप्ति का महत्व, घोरतम पापियों की मुक्ति का रहस्य, सभी वर्गों के लिए उन्मुक्त द्वार की भावना आदि अनेक बातों की प्रेरणा महायान धर्म से ही ली हुई प्रतीत होती है। नाम संकीर्तन 'महायान धर्म वालों की चीज है।'[१] गौडीय सम्प्रदाय में और दूसरे वैष्णव सम्प्रदायों में परकीया प्रेम के प्राबल्य का कारण सम्भवत: महायान के अनेक पंथ हैं। सहजयान के प्रभाव के कारण ही वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय की एक शाखा में लौकिकता का पूर्ण समावेश मिलता है।

मध्यकालीन वैष्णव आन्दोलन के विकास काल में देश में तंत्र का बहुत प्रचार था। तंत्र का एक अंग गर्हित अवश्य है, किन्तु उसका उज्ज्वल उच्च अंग विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। विष्णु के साथ श्री का संयोग हो ही चुका था, अब गोपी और राधा के रूप में वह अधिक सुलभ हो गया। शक्ति केवल साधन न रह कर परम पुरुष को पूर्ण करने वाली समझी जाने लगी। बंगाल के वैष्णव सैद्धांतिकों की कृतियों में तांत्रिक पुस्तकों से बराबर उद्धरण लिए गए हैं।

शंकराचार्य के पश्चात् आचार्यो ने उन्हीं के अनुकरण पर वेदान्त-सूत्र, भगवद्गीता, उपनिषदों आदि पर भाष्य लिखे और अपने मत का प्रतिपादन किया। वेदान्त-सूत्र के भाष्य वस्तुत: स्वतंत्र पुस्तकें हैं, जिन पर बाद में स्वतंत्र टीका, विवरण, भाष्य आदि लिखे गये हैं। उनके प्रणेता विद्वान चाहते तो मौलिक पुस्तकें लिख सकते थे, किन्तु प्राचीन के प्रति मोह और यह दिखाने का भाव कि हम कुछ नवीन नहीं कर रहे हैं, यह सब उन ऋषियों और सत्य दृष्टाओं का मत है जो अमान्य नहीं हो सकता, उस समय की आवश्यकता थी। यह विचार दृढ़ हो चुका था कि जो सूत्रों पर भाष्य न लिखे, उसका मत चाहे जितना सुलझा हुआ और तार्किक क्यों न हो मान्य नहीं हो सकता था। यह ध्यान देने की बात है कि वैष्णवाचार्यों के शिक्षा अथवा दीक्षा गुरु अद्वैतवादी थे, जिनसे मतभेद होने पर नव भाष्यों की आवश्यकता पड़ी थी। उन्हीं भाष्यों के आधार पर चार प्रमुख प्रतिष्ठापक वैष्णव सम्प्रदाय बन गए। इन चारों सम्प्रदायों का उद्गम स्थल दक्षिण भारत है। अत: यहाँ यह समीचीन जान पड़ता है कि उसके धार्मिक विकास पर कुछ यथेष्ट प्रकाश डाला जाए।

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का अभ्युत्थान

आलवार संत

शंकराचार्य से भी पूर्व दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव भक्तों के समाज कार्य कर रहे थे। वैष्णव भक्तों को आलवार कहते थे, उनका समय ईसा के बाद सातवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी

---

१. सूर साहित्य, पृ० ९१

माना जाता है।[१] उनमें से प्रमुख बारह आलवार संत हैं जिन्हें प्राचीनता के अनुसार तीन भागों में बाँटा गया है। आलवार उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे ईश्वर की अनुभूति प्राप्त हो तथा जो उनके विचारों में तल्लीन रहे। उनक आलवारों की रचनाओं का एक वृहद संग्रह 'प्रबन्धन' के नाम से प्रसिद्ध है। उन पता चलता है कि वे विष्णु के परम भक्त थे। अधिकतर वे कृष्ण स्वरूप की भक्ति करते थे और सम्पूर्ण कृष्ण गाथा से परिचित थे। वे वात्सल्य, सख्य, दास्य तथा माधुर्य भावना से सबसे अधिक अनुप्राणित हुए थे। एक अभूतपूर्व बात इन संतों में दिखाई देती है। विष्णुचित ने स्वयं को यशोदा, आँडाल ने स्वयं को गोपी और शठकोप ने अपने को राधा मानकर सुन्दर उद्‌गार प्रकट किये हैं। आँडाल के कम से कम एक पद में कृष्ण की प्रिया राधा का उल्लेख नप्पिनाह के नाम से मिलता है।[२] इस प्रकार की भक्ति का विशद विकास चैतन्य और वल्लभ सम्प्रदाय मे जाकर पूरा हुआ।

आलवारो ने उपास्य के अलौकिक सौन्दर्य और मोहक गुण का विशेष वर्णन किया है। आध्यात्मिक मिलनोत्सुकता के वर्णन में प्रेमिका का आवेश पाया जाता है। आराध्य के मिलन का आनन्द भी उसी प्रकार प्रकट होता है। भक्त अर्द्ध मूर्छित सा हो जाता है और चेतना आने पर वियोग से कातर हो उठता है। ईश्वर के प्रेम का मानव प्रेम के रूप में प्रकटीकरण पवित्रता के साथ हुआ है। वे भाव विह्वल होकर काव्य रचना करते थे और विश्वास करते थे कि प्रभु आकर उनके द्वारा बोल रहे हैं। रामानुज ने उन गानो से प्रेरणा ग्रहण की थी और अपने शिष्यों के द्वारा उनका संकलन कराया था।

वैष्णव सैद्धान्तिक अलगिय कहलाते थे। उनका प्रारम्भ नाथ मुनि से माना जाता है। उनके शिष्य पुंडरीकाक्ष थे, जिनके शिष्य राम मिश्र ने यमुनाचार्य को श्री वैष्णव धर्म की दीक्षा दी थी। यमुनाचार्य का जन्म ९१९ ई० में और मृत्यु १०३८ ई० में मानी जाती है। उन्होंने पांचरात्र के सिद्धांतों को ग्रहण कर लिया था। वेदान्त-सूत्र पर वे भाष्य तो न लिख सके पर उसका भार वे रामानुज को दे गए थे।

रामानुज

रामानुजाचार्य का जन्म १०१७ ई० में और मृत्यु ११३७ ई० में मानी जाती है। अद्वैत मतावलम्बी यादव प्रकाश से आरम्भ में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। मतभेद होने पर उन्होंने गुरु का साथ छोड़ दिया और यमुनाचार्य के शिष्य काँचीपूर्ण के साथ रह कर अध्ययन करने लगे। कुछ दिनों के बाद उन्होंने गोविन्द पादाचार्य से संन्यास ले लिया। अनेक विद्वानों को शास्त्रार्थ

---

१. आलवारों की साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार सबसे प्राचीन आलवार ४२०३-२७०६ ई०पू० के ठहरते हैं। श्री एस०के० ऐयंगर ने 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया' में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को ध्यान में रखते हुए ईसा की द्वितीय शताब्दी प्राचीन आलवारों का समय माना है, परन्तु श्री टी०आर० गोपीनाथराव की मान्यताओं के अनुसार प्राचीन चार आलवारों का समय अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है जो सातवीं शताब्दी के लगभग है।

२. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासोफी, खंड ३, पृ० ८१

में पराजित कर उन्होंने अनेक ग्रंथ रचे। उनके प्रधान ग्रंथ हैं श्रीभाष्य, वेदान्तदीप, गद्यत्रय, वेदान्तसार, वेदान्त संग्रह तथा अष्टादश रहस्य विवरण। उनके पश्चात् कुरेश के पुत्र पाराशर भट्टाचार्य ने गद्दी सम्हाली थी। श्री सम्प्रदाय के आचार्यों में वेदान्त दीक्षित अथवा वेंकठनाथ तथा लोकाचार्य प्रमुख हुए हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद के प्रमुख प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने सामान्य जनों की दृष्टि में नया पर वस्तुत: परिवर्धित शंकर के नियमों को ही अपनाया था। उन्होंने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरा' का अर्थ बिना खींचातानी के यह किया कि ब्रह्म सत्य है. जगत का सम्बन्ध अस्थिर है और जीव ब्रह्म से पृथक नहीं रह सकता अर्थात् उसे ब्रह्म के अन्वेषण में संलग्न रहना ही पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म, माया और जीव तीनों ही अपने अंश में नित्य हैं, बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण माना था और आगम प्रमाण की सर्वथा अवहेलना की थी। जन समाज सहसा एक मात्र आगम प्रमाण पर ही विश्वास करने के लिए सन्नद्ध न था। उधर शंकराचार्य का सिद्धान्त शास्त्र प्रमाण को ही सामने रखकर जगत् का मिथ्यात्व और भौतिकता का अस्थिरत्व सम्पादन करने का प्रयत्न कर रहा था। अत: रामानुज ने तीनों को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि मायिक ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा, जीव ज्ञान अनुमान के द्वारा और ब्रह्म ज्ञान आगमानुमान के द्वारा बोध्य हो सकता है।

उनकी उपासना आजकल के वैष्णवों की उपासना की भाँति विशद नहीं थी। माया (जगत) की नित्यता संन्यास की ओर से लोगों को अस्पष्ट रूप से विमुख करती है। जीवन में ससीम पर पूर्ण स्वतन्त्र चेतनता है। माया जड़ है पर जीव के आश्रित और परिवर्तनशील है। ब्रह्म निर्गुण ही नहीं सगुण भी है। वह स्वांशपूर्ण जीवों की अभिलाषा के अनुसार नाना रूप भी धारण कर सकता है। यह उनके सिद्धांत की विशेषता है। माया, जीव और ब्रह्म, तम, रज और सत्व के प्रतीक हैं। अतएव जीवादिक तीनों एवं उनके तीन गुण सभी नित्य हैं। इन तीनों का प्रयोजन विशेषण शून्य अद्वितीय पर विशिष्ट ब्रह्म की अवाप्ति है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म परात्पर, निंत्य, शून्य, योगिदृश्य और सत् है। अब वह न केवल परात्पर वरन् मानवरूप धारी भी हो गया, नित्य शुद्ध ही नहीं लीला समाप्त कर विनशनशील हो गया। उसमें शून्यता का ऐकान्तिक अभाव हो गया, और वह योगि-दृश्य के साथ ही साथ भक्ति-दृष्ट भी हो गया। इस प्रकार रामानुज ने सामाजिक रुचि के अनुसार, शास्त्रों की बिना अवहेलना किये हुए, व्यावहारिक जगत् के साथ संभवत् सामंजस्य स्थापित किया।

रामानुज के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति अर्थात ईश्वरानुभूति के लिए भक्तों के द्वारा 'याचना' की ही आवश्यकता है और बाकी सब कार्य ईश्वराधीन हैं। आगे चल कर इस प्रपत्ति के कारण उत्पन्न स्वामिकृपा को लेकर दो सम्प्रदाय बन गए, वाड़कड़ाई और टेनकड़ाई। एक वानर न्याय को दूसरा विडाल न्याय को स्वीकार करता है। श्री सम्प्रदाय में नारायण और लक्ष्मी को विशेष रूप से पूजा के लिए स्वीकार किया गया है। मर्यादा का अधिक विचार रखने के कारण खान-पान तथा आचार-विचार पर इस सम्प्रदाय में बड़ा जोर दिया गया है।

मध्वाचार्य

रामानुज के पश्चात् मध्वाचार्य ने एक स्वतंत्र सम्प्रदाय की स्थापना की। इनका जन्म ११९९ ई० में तथा मृत्यु १३०३ ई० में निश्चित की गई है। उनकी ख्याति कई नामों से हुई जैसे आनन्दतीर्थ, पूर्णप्रज्ञ आदि। अद्वैती अच्युताचार्य से उन्होंने संन्यास की दीक्षा ली थी और उन्हीं के समीप रह कर उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। रामानुज ने अपना प्रधान कार्यक्षेत्र दक्षिण भारत के पूर्वी भागों को बनाया था, किन्तु मध्वाचार्य ने मालावार और कनारा के पश्चिमी प्रदेशों को उसके लिए चुना। उन्होंने पशुबलि का विरोध और तंदुल की पशुबलि का विधान किया है। शंकर के अद्वैतवाद का जितना प्रबल विरोध उन्होंने किया है उतना किसी वैष्णवाचार्य ने नहीं किया है। उनका मत द्वैतवाद कहलाता है। उन्होंने कई ग्रंथों की रचनाएँ की जिनमें ब्रह्मसूत्र का अनुभाष्य ,न्याय विवरण, गीता तथा उपनिषद भाष्य प्रसिद्ध हैं।

आनन्दतीर्थ के मत से ब्रह्म सगुण, सविशेष, भाव अभाव से परे और ज्ञानगम्य है। जीव अणुरूप भगवान का दास तथा अस्वतंत्र है। प्रपंच भी सत्य है। रामानुज से उनका वैमत्य पदार्थ और तत्व निर्णय में है। प्रत्येक वस्तु में परस्पर भेद है और वह मायिक नहीं है। जीव अज्ञान, मोह, दुःख आदि दोषो से संयुक्त और संसारी होते हैं। वे तीन प्रकार के हैं—मुक्ति योग्य, नित्य संसारी तथा तमोमय। इनके भी अनेक भेद हैं। प्रकृति साक्षात् या परम्परया जगत् का उपादान कारण है। वह जड़ रूपा,नित्य, व्याप्त और शरीर रूपा है। शक्ति भी चार प्रकार की है। परमात्मा की निजी शक्ति लक्ष्मी है, किन्तु दोनों में नित्य भेद है। अनन्त गुणों से परिपूर्ण परमात्मा साक्षात् विष्णु हैं। इनके समस्त अवतार स्वयं परिपूर्ण हैं। अतः भगवान और उनके अवतारों मे भेद दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।

मोक्ष के लिए जीव को ईश्वर के अनुग्रह की अपेक्षा होती है। ज्ञान से परम भक्ति और उससे अनुग्रह की उत्पत्ति होती है, तब कहीं मोक्ष हो पाता है। वैकुंठ प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष का साधन श्रवण, मनन, ध्यान, तारतम्य, परिज्ञान और पंच भेद का ज्ञान है। परन्तु मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि परमात्मा से जीव का अभेद हो जाता है। वह परमात्मा में मिलकर भी पृथक रहता है।

निम्बार्काचार्य

द्वैताद्वैत सम्प्रदाय के आदि आचार्य हंस नारायण की परम्परा में नारद तथा भास्कराचार्य या निम्बादित्य अथवा निम्बार्काचार्य हुए हैं। उनके काल के सम्बन्ध में विवाद है और अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका है। यह निश्चित है कि वे रामानुजाचार्य के बाद हुए थे। साम्प्रदायिक रूप से राधा कृष्ण को संयुक्त करने वाले वे प्रथम आचार्य हैं। इस सम्प्रदाय में दो प्रकार के भक्त पाए जाते हैं, एक संन्यासी और दूसरे गृहस्थ। निम्बार्काचार्य के द्वारा लिखे हुए प्रसिद्ध ग्रंथ हैं : वेदान्त-सूत्र पर पारिजात सौरभ भाष्य, दशश्लोकी, कृष्णस्तवराज, माध्वमुख मर्दन, वेदान्ततत्व बोध और वेदान्त सिद्धांत प्रदीप। किसी मत की आलोचना निम्बादित्य ने नहीं की और उनका लक्ष्य सभी मतों में एक सामंजस्य स्थापित करने का मालूम होता है।

भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत बहुत प्राचीन है। शंकर के पूर्व औडुलोमि तथा आश्वरथ्य भेदाभेदवादी हो चुके थे। औडुलोमि के मत से संसार दशा में नानात्व होने के कारण भेद है और मुक्ति दशा में चैतन्यात्मक अभेद है। आश्वरथ्य की दृष्टि में कारणात्मना जीव और ब्रह्म में एकत्व और कार्यात्मना दोनों में अनेकत्व बोध होता है। निम्बार्काचार्य ने ब्रह्म, जीव और संसार को सनातन माना है और उनकी स्थिति ब्रह्म ज्ञान में स्वीकार की है। उनके दर्शन पर विस्तार से विवेचन आगे किया जाएगा क्योंकि स्वामी हरिदास के सम्प्रदाय में वही मान्य है। निम्बार्क सम्प्रदाय में साधना का मुख्य अंश ब्रह्म के सर्व व्यापक स्वरूप का ध्यान करना है। अनुभव करने के लिए राधा कृष्ण को युगल मूर्ति की उपासना वहाँ विशिष्ट प्रकार से की जाती है।

विष्णुस्वामी

ग्रंथों में तीन विष्णुस्वामी का उल्लेख मिलता है। उनमें से सबसे प्राचीन का समय ३०० ई०पू० माना जाता है और सबसे अंतिम पूर्ववर्णित आचार्यों के बाद लगभग १४वीं शताब्दी में हुए हैं, उनके जीवन और कार्य के सम्बन्ध में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। अभी तक किसी वेदान्तभाष्य का उल्लेख विष्णुस्वामी के नाम से नहीं मिल सका है। आजकल उनके सम्प्रदाय का स्वतंत्र अस्तित्व भी नहीं मिलता। वल्लभाचार्य द्वारा प्रचलित सिद्धांत में ही उनके अनुयायी घुलमिल गये हैं। प्रसिद्ध है कि वल्लभाचार्य उनके सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे और उन्हीं के सिद्धांतों पर उन्होंने शुद्धाद्वैत की उद्भावना की थी। सम्भवत: वे कृष्ण के उपासक थे और उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति के प्रसार का उन्होंने प्रयत्न किया था।

उत्तर भारत में कृष्ण सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव

दक्षिण से उत्तर

इन चार आचार्यों के पश्चात् दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का विकास रुक सा गया। केवल सम्प्रदायगत भेद और उपभेद होते रहे। मूल साम्प्रदायिक ग्रंथों और भाष्यों पर विस्तृत टीका, विवरण, व्याख्या आदि लिखी जाती रहीं। उन सम्प्रदायों का कार्यक्षेत्र और विस्तार दक्षिण भारत तक ही सीमित रह गया। यह ठीक है कि सभी प्रधान आचार्यों ने उत्तर भारत में, विशेष कर काशी और पुरी में, अपने सिद्धांत के प्रतिपादनार्थ शास्त्रार्थ किया था, किन्तु उनका उद्देश्य केवल मात्र अपनी विद्वत्ता की धाक जमाना था। विजय का प्रमाण पत्र मिला नहीं कि उत्तर भार से उन सबों का सम्पर्क छूट गया। यदि किसी का प्रभाव अक्षुण्य बना रहा तो वह शंकराचार्य का था। पंडित वर्ग अद्वैतवाद से चिपटा हुआ था। दो-चार विद्वानों के हार मान लेने से उसका प्रचार कम न हुआ था।

दक्षिण से वैष्णव विचार धारा की तरंग उठी और उत्तर भारत का किनारा छूते-छूते लुप्त हो गई। पुन: उठी और समाप्त हो गई। किन्तु अभी तक कोई ऐसा झंझावात न उठा था जो उत्तर भारत की सम्पूर्ण भावराशि को विलोड़ित कर दे। यह कार्य १५वीं शताब्दी तक रुका रहा। श्री सम्प्रदाय की कट्टर प्रियता का विरोध कर रामानन्द ने काशी को अपना निवास स्थान बनाया।

वे यद्यपि आचार्य श्रेणी में नहीं आए फिर भी उनके विचार इतने सन्तुलित थे कि उनसे कबीर और तुलसी जैसे दो महान विभूतियों ने प्रेरणा ग्रहण की। रामानन्द रामोपासक थे। उनके बाद कृष्ण को उपास्य मानकर जो सम्प्रदाय चले उन्होंने उत्तर भारत की संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ दी। सभी भाषाओं का प्रांगण उससे आपूरित हुआ है।

भिन्नता

दक्षिण भारत तथा उत्तरी भारत के वैष्णव धर्म के स्वरूप तथा आन्दोलन में बड़ा अंतर था। दक्षिण के भक्ति सम्प्रदायों का प्रधान लक्ष्य शंकराचार्य की प्रतिस्पर्धा में वैष्णव धर्म को जीवित रखना एवं बौद्ध धर्म के ह्रास से उत्पन्न परिस्थिति का सामना करना था। वे सभी सम्प्रदाय शास्त्रीय अधिक थे भावनात्मक कम। स्वमत के समर्थन में जितना भक्ति तत्व उनको ग्रहण करना पड़ा, उन्होंने उतना ही किया। अवतारों की स्वीकृति तथा मूर्ति की प्रतिष्ठा के अनन्तर विधि विधानों का आयोजन अनिवार्य था। तदर्थ उनके सम्मुख पांचरात्रिकों अथवा वासुदेवकों की परम्परा थी। जिसको उन्होंने यत्किचित परिवर्तन के साथ ग्रहण कर लिया था। उन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता को व्यक्त करने के लिए तिलक आदि की व्यवस्था कर ली थी।

सभी दाक्षिणात्य सम्प्रदाय जन समाज में प्रचलित वर्णाश्रम धर्म के कट्टर पक्षपाती थे। उनके मूल अथच परम आदरणीय ग्रंथ थे प्रस्थानत्रयी पर निर्मित विशिष्ट सम्प्रदाय परक भाष्य। वे सभी वास्तविक अर्थ में वैष्णव सम्प्रदाय थे। उन्हें इसकी अधिक चिंता न थी कि किस वैष्णव विभूति अवतार की पूजा की जाए। राम और कृष्ण दोनों उनके लिए एक समान थे। केवल निम्बार्काचार्य, जिन्हें हम दक्षिण और उत्तर भारत के वैष्णव धर्म का संयोजक कह सकते हैं, कृष्ण पर अधिक आस्था रखते थे।

उत्तर भारत के वैष्णव आन्दोलन का मूल ध्येय शंकर मत का प्रतिवाद करना नहीं था। केवल शुद्ध भक्ति का प्रसार करना ही उसका उद्देश्य था। वह भाव प्रधान था, शास्त्र प्रधान नहीं। भविष्य में उनके अन्तर्गत विधि-विधानों का जितना प्रस्फुटन, परिवर्धन एवं आडम्बराच्छादन हुआ, वह एक अभिनव वस्तु थी। वर्णाश्रम धर्मो के विषय में वे सम्प्रदाय दाक्षिणात्यों की तरह कट्टर न थे। इसलिए सभी वर्गों एवं वर्णो के लोग, यहॉ तक कि हिन्दू धर्म विरोधी मुसलमान भी, वैष्णव धर्म की सरिता में बह गये। लक्ष-लक्ष लक्ष्यहीन बौद्धों के अवलम्बन बन कर उसने उन्हें अपने परिवार का सा व्यक्ति बना लिया। उसकी गोद में मनुष्य मात्र के लिए स्थान था। उसके प्रमुख ग्रंथ न केवल प्रस्थानत्रयी थे, वरन् श्रीमद्‌भागवत पुराण भी उनके समकक्ष पहुँच चुका था। किबहुना श्रीमद्‌भागवत पर उसकी जितनी आस्था तथा आश्रयत्व था उतना और किसी पर नहीं था। एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विष्णु से अधिक उनकी विशिष्ट विभूति को सम्मान दिया जाने लगा। दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदाय उत्तर के राम और कृष्ण सम्प्रदाय बन गए। इस प्रकार उत्तर भारत के वैष्णव आन्दोलन ने दक्षिण से जीवन शक्ति तो प्राप्त की, किन्तु उसने अपना विकास नवीन तथा स्वतंत्र ढंग से ही किया था।

सिद्ध और नाथपंथी

उपर्युक्त अन्तर का कारण परिस्थिति भेद है। कहा जा चुका है कि उत्तर भारत के पूर्वीय प्रदेश पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पाल वंश के तत्वावधान में बारहवीं शताब्दी तक बना हुआ था। ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्म का एक वर्ग सिद्धों का समाज कहलाया। ८४ सिद्धों की स्मृति जन समाज ने आज तक बना रक्खी है। वे वाममार्गी योगतन्त्र युक्त साधना करते थे और यत्किंचित सिद्धियाँ प्राप्त कर जनता के मनोभावों पर अधिकार जमाए हुए थे। रहस्यमार्गियों की सहज प्रवृत्ति के अनुसार वे पहेली एवं सांकेतिक रूप से बानियों का प्रचार जनता की भाषा में करते थे जिसे वे सान्ध्य भाषा कहते थे।

गोरखनाथ (गोरक्षपा) चौरासी सिद्धों में गिन लिए गये हैं। योगियों की इस शाखा ने गर्हित विधानों से अपने को अलग रक्खा और ईश्वर प्राप्ति के निमित्त हठयोग को ग्रहण कर लिया। गोरखनाथ ने अपना कार्य क्षेत्र पश्चिमी प्रदेश को चुना था। ईश्वरानुभूति के लिए योग को आवश्यक समझ कर वाह्याडम्बरों का बहिष्कार करना उन्हें अभीष्ट था। वेद आदि की व्यर्थता भी उन्होंने घोषित की थी। विद्वता का उद्घोष उनके प्रचार की प्रणाली थी। अतः निम्नवर्ग की जनता ही सिद्धों और नाथपंथियों की ओर सबसे अधिक आकर्षित हुई। साधारण जनता पर उनका प्रभाव चमत्कारों के कारण पड़ा।

रामानन्द का प्रभाव

मुसलमानों के आक्रमण के साथ अनेक धर्म-प्रचारक भी भारत में आए। उनमें अशास्त्रीय बेशरक मुसलमानों की भी एक शाखा थी। इन प्रेममार्गी सूफी साधकों ने भारतीय योग से भी प्रेरणा ग्रहण की थी। सम्भवतः उसका कारण पश्चिमी प्रदेश पर हठयोग के समर्थक नागपंथियों का विस्तार होना था। इसी समय दक्षिण से आकर रामानन्द काशी में बस गये। वे उदार थे और जात-पाँत का बन्धन अधिक न मानते थे, उनके सर्व प्रसिद्ध शिष्य कबीरदास ने एक नव मार्ग का प्रचार आर्यावर्त में किया जो निर्गुण अथवा संतमार्ग कहलाया।

कबीर ने बड़ी बुद्धिमत्ता से वेदान्त के ब्रह्मवाद, नाथपंथियों की सहज साधना एवं सूफियों के प्रेमवाद का समन्वय किया था। वे ऐसे सिद्धांत के पक्षपाती थे जो हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को स्वीकार हो सकता था। वे जात-पाँत की अवहेलना करते थे, अंधविश्वास के कट्टर विरोधी थे और आडम्बरों का तिरस्कार करते थे। उस समय की परिस्थिति भी निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के अनुकूल थी। मुसलमानों के द्वारा अनेकानेक मंदिरों के अबाध विध्वंस के कारण रक्षक देव मूर्तियों पर जनता की आस्था कम हो गई थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सिद्धों, नागपंथियों और निर्गुण मार्गियों ने निम्न वर्गों के लिए जो साधना का मार्ग प्रशस्त किया था उसमें शूद्रों और स्त्रियों के प्रति कोई प्रतिबंध न रह गया था। अतः भविष्य का वैष्णव आन्दोलन उस तत्व का कभी परित्याग न कर सकता था। इन निर्गुणिए संतों की वाणी में उपास्य के प्रति केवल आभास के रूप में संकेत मिलते हैं। वे शब्द 'ब्रह्म' को स्वीकार करते हैं। नागपंथियों की योगिक क्रिया ही घटवासी परमात्मा के समीप पहुँचने का साधन है, परन्तु प्रेम उससे भी अधिक आवश्यक है। केवल सत्संग के बल पर उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था। इसलिए उन्होंने सत्संग और सतगुरु की महिमा गाई है।

रामानन्द की महत्ता इस बात में है कि वे अपना धर्म एवं मत किसी पर लादते नहीं थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी शिष्य परम्परा में निर्गुण और सगुण दोनों मतों के पोषक भक्त हुए और दोनों ही प्रबल प्रतिभावान् थे। सगुण मतावलम्बी, हिन्दू संस्कृति के परम समर्थक कवि-कुल श्रेष्ठ गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना व्यर्थ है। उनका प्रादुर्भाव उसी काल में हुआ जब समस्त उत्तरी भारत कृष्ण भक्ति मे निमग्न हो रहा था। उनका व्यक्तित्व एवं उनकी प्रतिभा इतनी विशाल थी कि वे उससे सर्वथा मुक्त रह कर मर्यादा पुरुष राम के लोकादर्श स्वरूप के प्रतिष्ठापक बन गए। शंकराचार्य के पश्चात् इतना अधिक व्यापक दीर्घकालीन प्रभाव अन्य किसी का भी नहीं पड़ सका। उनका आदर्श आज तक सम्पूर्ण उत्तर भारत को प्रेरणा प्रदान करता रहा है।

फिर भी राम की भक्ति का प्रसार एवं ग्रहण उतना न हो सका जितना कृष्ण भक्ति का। राम हमारे पूज्य हो सकते थे, आदर्श हो सकते थे और मार्गनिर्देशक तथा उद्धारकर्ता भी हो सकते थे। उनकी भक्ति नियंत्रण सिखाती है। हृदय की कोमल भावनाओं, यदि कहें तो दुर्बलताओं, का उसमें कोई स्थान न था। राम राजा थे प्रजा के सुख-दु:ख की चिता करने वाले।

कृष्ण भक्ति

इसके विपरीत कृष्ण यदि ज्ञानियों के निमित्त गीता का उपदेश दे सकते थे तो वे प्रेम के स्वरूप भी थे। वे यदि राजनीति की कूटनीति का संचालन कर सकते थे, तो गोपियों और ग्वालबालों के साथ क्रीड़ाएँ भी कर सकते थे। उनके स्नेह और प्रेम के भाजन, सुख-दु:ख में सहायक तथा उनके आत्मीय भी हो सकते थे। कृष्ण योगियों में परम योगी हैं। गोपियों तथा राधा कृष्ण का प्रेम सूफियों के प्रतीक प्रेम से महान् है। वह तांत्रिकों का आदर्श है। उनसे व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना सरल है, जो भक्ति के लिए परम आवश्यक है। कृष्ण भगवान स्वयं हैं। इसके अतिरिक्त कृष्ण वासुदेव की परम्परा अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही थी। बीच-बीच में वह क्षीण होती अथवा प्रदेशान्तर में विकास पाती अवश्य थी, किन्तु सर्वथा लुप्त कभी न हुई थी। अत: उत्तरकाल में कृष्ण के व्यक्तित्व ने सभी वर्ग के लोगों को आकर्षित कर देश के चप्पे-चप्पे पर अधिकार जमा लिया।

उस समय एक ऐसे आराध्य की आवश्यकता थी जो भक्तजन रक्षक होने के साथ ही साथ प्रभु न हो, आत्मीय हो। वह केवल ज्ञानियों का हृदय वल्लभ न होकर अज्ञानियों का भी सर्वस्व हो सके। कृष्ण का बाल जीवन ग्वालबालों के साथ गोचारण में बीता था। वे ग्रामवासियों के घर में माखन चोरी करते थे, गोपियों के साथ क्रीड़ाएँ करते थे और अवसर पड़ने पर इन्द्र के कोप से भी व्रजवासियों की रक्षा कर सकते थे। बाल्यावस्था में उन पर इतने अधिक संकट आए कि नन्द यशोदा को समस्त ममता और स्नेह के साथ उनका ध्यान रखना पड़ता था। फलत: कृष्ण की आराधना के कई स्वरूप हो गए। नन्द यशोदा के प्रेम के आदर्श पर वात्सल्य भक्ति, ग्वालबालों की परस्पर प्रेम की समता में सख्य भक्ति और गोपी कृष्ण के प्रेम के उदाहरण पर माधुर्य भक्ति का प्रचलन कृष्ण सम्प्रदायों में हुआ। उनमें भी माधुर्य भक्ति का आकर्षण सबसे बढ़ कर सिद्ध हुआ है।

बंगाल में वैष्णव धर्म

बंगाल में भक्ति के आन्दोलन का सूत्रपात चैतन्य के पूर्व ही हो चुका था। गुप्तों के पतन के अनंतर मध्य प्रदेश से सुदूर पूर्व तक यद्यपि एकबार पुनः बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा हुई थी, तथापि वैष्णव धर्म की एक क्षीण धारा सदैव प्रच्छन्न रूप में बहती रही। सेन वंशीय राजाओं ने जब ब्राह्मण धर्म को प्रश्रय दिया था, उन्हें उसी वैष्णव भक्ति को स्वीकार करना पड़ा था। उनके समय की वासुदेव की मूर्तियाँ बंगाल के प्रत्येक भाग में मिलती हैं। स्वरूप के कतिपय परिवर्तनों के साथ उनके कई नाम रख दिए गये थे। सेन राजा स्वयं तांत्रिक साधक थे। ऐसी अवस्था में 'गीत गोविन्द' में राधाकृष्ण के शृंगारिक गानों का मिलना अस्वाभाविक नहीं है।

चूँकि भागवत् में राधां की कथा नहीं है और निम्बार्काचार्य का समय भी वही है जो जयदेव का, इसलिए संभवतः दोनों को यह गाथा किसी सामान्य सूत्र से मिली होगी। जयदेव के 'गीत गोविन्द' का प्रथम श्लोक 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के एक श्लोक का अनुवाद सा है। हो सकता है कि दोनों ने उससे ही प्रेरणा ग्रहण की हो। यह स्वीकार कर लेने पर, उस पुराण की रचना अधिक से अधिक ईसा की ११वीं शताब्दी स्वीकार करनी पड़ेगी, अन्यथा उसका प्रचार इस समय तक इतना अधिक नहीं हो सकता था। राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीला के गानों का प्रचलन बंगाल के पड़ोसी प्रदेशों, जैसे मिथिला आदि, तक में विस्तीर्ण हो गया था। १४वीं शताब्दी में बंगाली भक्त कवि चंडीदास ने शृंगारिक भावना के द्वारा अपना भक्ति भाव प्रकट किया है। 'कृष्ण कीर्तन' में विशेष कर उसके उत्तर भाग में उनके पद आदर्शवाद में बदल गए हैं। वे तांत्रिक साधना से मिलती-जुलती रहस्यात्मक साधना के समर्थक प्रतीत होते हैं। तीव्रावेश के कारण उनकी रचना में अश्लीलता नहीं आ पाई है। उन्होंने अपनी काव्य भाषा के लिए संस्कृत के स्थान पर बंगला को चुना है।

लगभग इसी समय मिथिला के कवि विद्यापति (१३५०-१४४० ई०) भी कृष्ण की शृंगार लीला का वर्णन कर रहे थे। वे महाराज शिव सिंह तथा लखिमा देवी के सभा-पंडित और प्रकांड विद्वान थे। आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल उन्होंने राधा-कृष्ण की उत्कृष्ट शृंगारिक लीला का वर्णन किया है। उनका काव्य सौन्दर्य पर्यवेक्षण, भावुकता, कवि कुशलता, मधुरता और कोमलता से परिपूर्ण है। बंगाली समाज ने भी इनके पदों को ग्रहण किया है। हिन्दी पर भी संभव है कि इनका प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि सूरदास के पूर्व विद्यापति के अतिरिक्त किसी अन्य हिन्दी कवि की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव का 'गीत गोविन्द' तथा भागवत् ही व्रज के कवियों की प्रेरणा का प्रमुख आधार रहा है।

श्रीमद्भागवत् की श्रेष्ठता १५वीं शताब्दी तक स्पष्ट रूप से ग्रहण कर ली गई थी। वह वैष्णव सिद्धांतों एवं आराधना का आधार बनता जा रहा था। श्रीधर स्वामी ने उस पर एक संस्कृत टीका लिखी थी, जिसमें शंकर के अद्वैतवाद के साथ-साथ भक्ति पर भी बहुत जोर दिया गया था। इस श्रीधरी टीका ने भारत के उत्तर पूर्वी प्रदेश के हिन्दू समाज पर बड़ा प्रभाव डाला था। फलतः श्रीधर स्वामी के मत का अनुयायी एक रहस्यात्मक संन्यासियों का सम्प्रदाय

उत्पन्न हो गया था। संभवत: तिरहुत के विष्णुपुरी ऐसे ही संन्यासी थे।[१] माध्वेन्द्रपुरी भी इसी मत के अनुयायी थे। बंगाल में भक्ति प्रचार के वे ही 'आदि सूत्रधार' समझे जाते हैं। ईश्वरपुरी, अद्वैताचार्य, केशव भारती, नित्यानंद, पुंडरीक विद्यानिधि आदि बंगाली उन्हीं के शिष्य थे। चैतन्य सम्प्रदायी षडगोस्वामियों के लगभग ५० वर्ष पूर्व ही उन्होंने वृन्दावन की तत्कालीन उपेक्षणीय व्यवस्था पर ध्यान दिया था। उन्होंने गोवर्धन पर 'गोपाल कृष्ण' के मंदिर का भी निर्माण कराया था।

सोलहवीं शताब्दी में बंगाल के शान्तिपुर और नदिया आदि स्थानों में भक्तों का एक समुदाय काम कर रहा था। उनके नेता अद्वैताचार्य का जन्म १५१३ वि० में सिलहट जिले में हुआ था। वे नदिया के समीप शान्तिपुर में आकर बस गए थे। उस समय नदिया नव्य न्याय का प्रधान स्थल था। वहाँ के अधिकांश निवासी रूढ़िवादी थे और सांसारिक वैभव की प्राप्ति में लगे हुए थे। ब्राह्मण और धनी वर्ग प्राय: तांत्रिक साधना का पक्षपाती था, किन्तु सामान्य जन उसके विरुद्ध से हो रहे थे। नव वैष्णवों का एक छोटा समुदाय अद्वैताचार्य के घर पर ढोल, मृदंग, करताल आदि के साथ कीर्तन करता और भावावेश में नृत्य करता था। रूढ़िवादी समाज इन भक्तों के कृत्यों का विरोध तीव्रता से करता था। श्रीकृष्ण चैतन्य के महान व्यक्तित्व के द्वारा न केवल वहाँ का विरोध ही शांत हो गया, वरन् सम्पूर्ण बंगाल और उड़ीसा का हिन्दू समाज वैष्णवता से भली-भाँति अनुरंजित भी हो गया। वह आन्दोलन इतना प्रबल था कि उत्तर भारत का कोई भी वैष्णव समुदाय उसके भक्ति स्वरूप से अछूता न रह सका।

गुजरात और पश्चिम की स्थिति

उत्तर भारत के दूसरे छोर गुजरात में भी कृष्ण भक्ति का अंकुर फूट चुका था। श्रीमद्‌भागवत् पुराण में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का एक उपाख्यान है। उससे पता चलता है कि नव भक्ति के आन्दोलन का प्रारम्भ दक्षिण भारत के द्रविड़ प्रदेश से हुआ। उसका विस्तार पहले कर्नाटक में हुआ और तदनंतर वह महाराष्ट्र और गुजरात में फैला, किन्तु वहाँ उसे अधिक आदर प्राप्त न हो सका।[२] इससे यह भी पता चलता है कि उत्तर भारत में नव भक्ति का सर्वप्रथम प्रवेश गुजरात में हुआ था। उसके पश्चात् वृन्दावन होते हुए उसका प्रसार उत्तर भारत में हुआ। गुजरात के साथ कृष्ण का सम्बन्ध बहुत पुराना है। महाभारत के अनुसार द्वारकापुरी कृष्ण की राजधानी थी और उसके राज्य का विस्तार सौराष्ट्र में था।

ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में गुजरात तथा राजपूताने के अधिपति चालुक्यों ने जैन धर्म को प्रश्रय दे रखा था। उनके समय में उन प्रान्तों की साहित्यिक, धार्मिक और सांस्कृतिक

---

१. 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बंगाल', पृ० ११-१८ में श्री दे ने यह सिद्ध किया है कि चैतन्य के शिक्षा और दीक्षा गुरु तथा अन्य पूर्ववर्ती भक्त संन्यासी शंकर के सम्प्रदाय के थे। उन्होंने भक्ति को प्रधानता दे रखी थी। पुरी और भारती उपाधियाँ शंकर के सम्प्रदाय की ही हैं, मध्वाचार्य का संन्यास नाम आनन्दतीर्थ था और उनके शिष्यों ने भी तीर्थ की उपाधि ही ग्रहण की थी।

२. श्रीमद्‌भागवत् माहात्म्य, अध्याय १, श्लोक ४८-५० आदि

उन्नति बहुत हुई थी। अलाउद्दीन खिलजी के अनन्तर गुजरात में स्वतंत्र मुसलिम राज्य बन गए। वे सभी गुजरात के ही निवासी थे। अत: उन्होंने उसकी बहुत उन्नति की और देश को वैभव से परिपूर्ण कर दिया। परिणामस्वरूप दो शताब्दियों तक गुजरात में ऐसे काव्य का सृजन हुआ जो अद्यपर्यन्त सौन्दर्य और मधुरता से अप्रतिहत है।

तेरहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य और उनके पश्चात् निम्बार्काचार्य ने भक्ति का प्रचार गुजरात में किया था। निम्बार्क कृष्ण की आराधना की ओर उन्मुख थे। गुजरात में विष्णु की पूजा से पृथक कृष्ण की पूजा का ज्ञात लेख १२९२ ई० का है।[१] उसमें जयदेव के गीत-गोविन्द की भी कतिपय पंक्तियाँ अंकित हैं। अन्य स्थानों के सदृश उस समय गुजराती समाज की भी अवस्था अच्छी न थी। लोग स्वार्थी और अधार्मिक हो गए थे। अकस्मात् नरसिंह मेहता की वाणी के माध्यम से भक्ति फूट निकली। वे गुजराती काव्य के जनक कहे जाते हैं। श्रीमद्भागवत् पुराण और गीत-गोविन्द का उन पर बहुत बड़ा ऋण है। वे गोपीभाव से कृष्ण की भक्ति करते थे, श्रीकृष्ण चैतन्य और नरसिंह मेहता में माधुर्य भाव की भक्ति का प्रस्फुटन स्वतंत्र रूप से हुआ प्रतीत होता है। चैतन्य नाम कीर्तन के पक्षपाती थे और नरसिंह मेहता गुण कीर्तन के। नरसिंह मेहता स्वयं उच्च कोटि के कवि थे। उनकी कविता का प्रधान विषय कृष्ण-गोपी और राधाकृष्ण की शृंगार लीला है। परन्तु उसमें परकीया भावना प्रधान नहीं है।

लगभग नरसिंह मेहता के समसामयिक मीराबाई का जन्म मेवाड़ में हुआ था। श्री पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, देवी प्रसाद ओझा आदि विद्वानों ने उनका समय १५५५-१६०३ वि० निश्चित किया है।[२] पुष्टि मार्गीय 'चौरासी वार्ता' में गोविन्द दास दुबे और कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में मीराबाई के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें कोई असम्भावना नहीं है। मीराबाई रैदास की शिष्य परम्परा में बतलाई जाती हैं। उनका उद्देश्य कृष्ण की लीला का वर्णन करना न था, वरन् स्वानुभूति का प्रकाशन करना था। जिस प्रकार विद्यापति को बंगला और हिन्दी प्रदेश वालों ने समान रूप से ग्रहण किया है, वैसे ही मीराबाई भी गुजराती और हिन्दी दोनों भाषाओं की कवयित्री मानी जाती हैं।

सोलहवीं शताब्दी में जब वल्लभाचार्य भारत की परिक्रमा और दिग्विजय के लिए निकले, उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए उर्वर गुजरात भूमि की महत्ता को समझ लिया। उनके बाद उनके वंशज भी वहाँ की यात्रा करते रहे हैं। उत्तरकालीन गुजराती समाज के संघटन, संस्कार, सिद्धांत, साहित्य और जीवनयापन की विधि पर वल्लभ सम्प्रदाय की अमिट छाप पड़ चुकी है।

---

१. श्री वल्लभाचार्य, पृ० ३८१

२. श्री कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी, माइलस्टोन इन गुजराती लिटरेचर, पृ० २८-३०, इराच जहाँगीर सोराबजी तारापोरवाला, सैलेक्शन फ्राम क्लासिकल गुजराती लिटरेचर, खण्ड १, भूमिका, पृ० १२ आदि विद्वान मीराबाई का समय पन्द्रहवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार चैतन्य और वल्लभ के सम्मिलित प्रयत्न से उत्तर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक कृष्ण-भक्ति की लहर व्याप्त हो गई। दैवेच्छा से दोनों ने अपने-अपने प्रचार के क्षेत्र मानों बाँट लिए थे। उनके कार्यारंभ के पूर्व, कहा जा चुका है कि, उत्तर भारत के हिन्दू समाज की दयनीय दशा थी। मुसलमान तलवार के बल पर हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन कर रहे थे। मुसलिम धर्म में जातिगत समानता भी उनके प्रति आकर्षण का कारण थी। रूढ़िवादी ब्राह्मण समझौता करने के लिए सन्नद्ध न थे। अतएव कृष्ण भक्ति के समान बाधाहीन, विमुक्त तथा व्यापक आन्दोलन हिन्दू समाज का उद्धारकर्ता होकर प्रसारित हुआ। वह इतना सरल और मनोमुग्धकारी था कि मुसलमान भी इसके आकर्षण से बच न सके। हिन्दू संस्कृति का कोई अंग वैष्णव धर्म से अस्पृश्य न रह सका। आधुनिक भारतीय साहित्य के निर्माण में कृष्ण भक्तों ने जितना योग दिया है उतना और किसी ने नहीं दिया। वल्लभाचार्य और चैतन्य के सर्वव्यापक प्रभाव को समझने के लिए यह अनिवार्य है कि पुष्टिमार्ग, गौडीय सम्प्रदाय तथा अन्य कृष्ण सम्प्रदायों का किंचित विस्तार से अध्ययन किया जाए। न केवल उनके इतिहास बल्कि उनके दर्शन और उपासना पद्धति की सम्यक् विवेचना अपेक्षित है।



द्वितीय प्रकरण

व्रज के सम्प्रदायों का इतिहास

व्रज भूमि

वासुदेव कृष्ण की लीला भूमि व्रजमंडल थी, उसका विस्तार ८४ क्रोश का माना जाता है। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने उसकी सीमा निर्धारित करते हुए लिखा है कि उसके उत्तर में भुवनवन तथा कोट वन, पश्चिम में कामवन तथा चरण पहाड़ी, पूर्व में बरहद तथा हास्यवन (हसाइन) और दक्षिण में आगरा के निकट की भूमि है।[१] इसके साथ ही उन्होंने मथुरा को केन्द्र मान कर एक वृत्त भी खींचा है, जिसके लगभग सम्पूर्ण पूर्वी तथा दक्षिणी अर्द्धांश में आजकल व्रज के यात्री नहीं जाते, इसलिए संभव है कि चौरासी संख्या किसी सैद्धान्तिक रहस्य की व्यंजिका हो जिसका प्रदेश के विस्तार से कोई संबंध नहीं भी हो सकता है?[२] ऐसी परिस्थिति में उसके आधार पर सीमा का निर्धारण निःसंशय न होगा। मंडल शब्द न केवल गोलाकृति एवं जनपद का ही अर्थ देता है वरन् समूह का अर्थ भी प्रकट करता है, वस्तुतः जिन व्रजों अर्थात चरागाहों में बालक कृष्ण ने विभिन्न कौतुक अथच क्रीड़ाएँ की थीं, उनके समुदाय को ही व्रजमंडल कहा जाता है, वर्तमान समय में व्रजयात्रा के अवसर पर जिन स्थानों को देखने का अवसर मिलता है, उनमें १२ महावन, २४ उपवन, ५ पहाड़ी, ५ सरोवर अथवा झील और ८४ कुंड प्रमुख हैं।

यद्यपि व्रज का माहात्म्य सहस्रों वर्षों से ज्ञात था, तथापि धीरे-धीरे उसका महत्व बहुत कम हो गया था, कतिपय साधुओं और विरक्तों के अतिरिक्त वहाँ कोई जाता न था। व्रजभूमि

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ४

२. यहाँ पर कतिपय रहस्यात्मक भावनाओं की ओर संकेत किया जा सकता है—

(क) व्रज के वैष्णव सम्प्रदाय रसात्मक लीला के उपासक हैं। इसकी सिद्धि ८४ आसनों के द्वारा ही हो सकती है। क्रोश शब्द का एक दूसरा अर्थ आह्वान अर्थात् अन्तर्नाद भी है। इसी से ब्रह्म सिद्धि भी होती है, जिसका प्रत्यक्ष ८४ यौगिक आसनों की साधना से ही सम्भव है।

(ख) पंच-महाभूत, काल, दिक्, मन तथा आत्मा—इन नौ तत्वों में आत्मा तो स्वयं ब्रह्म है। शेष आठ ही भूतात्मक सृष्टि के कारण हैं। इस सृष्टि में 'भूतात्मा भूतभावनः' कृष्ण ने अपने चार प्रमुख ऐश्वर्यों को प्रकट किया था। वे चार ऐश्वर्य हैं करुणा, मोहन, मंगल और शक्ति। ८४ संख्या यह व्यक्त करती है कि समस्त जगत् में कृष्ण व्याप्त हैं।

उपेक्षित पड़ी थी। उसके चारों ओर वन था, जिसका उपयोग मुगलकाल तक मृगया के लिए किया जाता था। मथुरा, गोवर्धन आदि कतिपय प्रमुख स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों की प्रसिद्धि और उनका नामकरण भी न हुआ था। वर्तमान स्थलों के नामकरण करने तथा उन्हें जनप्रिय बनाने का श्रेय एकमात्र वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय को है। वल्लभाचार्य से भी पूर्व बंगाल के वैष्णवों का एक दल व्रज के अप्रसिद्ध स्थलों की खोज करने तथा उनकी उन्नति करने के लिए पहुँचा गया था। वर्तमान वृन्दावन उन्हीं के द्वारा स्थापित किया गया कहा जाता है।[१]

गौडीय तथा मध्वगौडीय सम्प्रदाय[२]

चैतन्य

गौडीय सम्प्रदाय के आदि संस्थापक श्रीकृष्ण चैतन्य का वास्तविक नाम निमाई अथवा विश्वम्भर था। उनका जन्म १५४२ वि० के फाल्गुन मास की पूर्णिमा को हुआ था। अध्ययन काल में ही उनके पिता पं० जगन्नाथ की मृत्यु हो गई थी। शिक्षा समाप्त होने पर उन्होंने अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया था। उन्होंने दो विवाह किए थे। उनकी प्रथम स्त्री का नाम लक्ष्मी था और दूसरी का विष्णुप्रिया। पिता का श्राद्ध करने के लिए वे गया गए थे। वह यात्रा न केवल निमाई पंडित के लिए वरन् बंगाल के वैष्णव आन्दोलन के लिए भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। पत्नी के देहावसान के आघात से विक्षुब्ध उनका हृदय संसार से विरक्त होकर, भक्ति की ओर पहले ही उन्मुख हो चुका था। अतएव ईश्वरपुरी ऐसे भक्त महात्मा का दर्शन स्वर्गीय सुख के तुल्य लगना नैसर्गिक था, उसी भाव विह्वल अवस्था में जब उन्होंने विष्णुपद का दर्शन किया और मंदिर के पुजारियों के द्वारा उसकी स्तुति को सुना, वे अपनत्व भूल कर भक्ति भावना में विनिमंजित हो गए। वे केवल कृष्ण का नाम जपते, उनके वियोग में अश्रुपात करते और भावों की तीव्रता में मूर्छित हो जाते थे। ईश्वरपुरी को उन्होंने गुरु तुल्य स्वीकार कर लिया था।

बड़ी कठिनाई से उन्हें घर लाया गया। रात्रि के समय श्रीवास के घर पर नरहरि, गदाधर और निमाई इकट्ठे होकर नृत्य तथा कीर्तन करने लगे। निमाई पंडित का व्यक्तित्व और रूप प्रभावशाली था। साथ ही उनमें भक्ति की तीव्रता का मणिकांचन योग भी हुआ था। उन्होंने संकीर्तन की महिमा का अनुभव कर उसे भक्ति प्रचार का साधन स्वीकार कर लिया। उस काल के जनप्रिय चंडीदास, जयदेव और विद्यापति के गीतों को उन्होंने अपने कीर्तन का प्रिय विषय बनाया और उन्हें एक नवीन स्वर 'मनोहर थाई' में गाया जो बड़ा प्रभावोत्पादक है।[३]

---

१. साम्प्रदायिक ग्रंथों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि व्रज की यात्रा गौडीय सम्प्रदाय के अनुयायियों ने ही सर्वप्रथम आरम्भ की थी।

२. गौडीय सम्प्रदाय की ही एक शाखा मध्वगौडीय है जिसका विस्तार वृन्दावन में अधिक हुआ है।

३. 'चैतन्य एण्ड हिज एज' (पृ० १४६) में कीर्तन के तीन विभाग बतलाए गए हैं—मनोहर थाई, गरनहती और रेनोती।

उनका संकीर्तन संगीत संवेष्ठित था। उसमें खोल, करताल, मृदंग, मंजीरा लय के साथ बजाये जाते थे। इन्हीं सब बातों के संयोग से वे बंगाली वैष्णवों के अन्यतम नेता स्वीकृत हो गए। शनैः-शनैः जनता कीर्तन मंडली की ओर आकर्षित होने लगी। उत्पात बतलाकर विरोधी पंडितों ने कानून के द्वारा उसे बंद कराना चाहा, इस अवसर पर निमाई ने दृढ़ता और सफलता के साथ नगर कीर्तन की आयोजना की। फलतः शीघ्र ही नवद्वीप वैष्णवों का केन्द्र बन गया।

१५६६ वि० में निमाई ने माध्व मतानुयायी केशव भारती से संन्यास की दीक्षा ले ली। संन्यासी होने के बाद उन्होंने जगन्नाथ पुरी में स्थायी निवास करने का निश्चय कर लिया। वहाँ वासुदेव सार्वभौम और उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्र उनकी भक्ति से आकर्षित होकर उनके शिष्य बन गए। पुरी में कुछ दिन रहने के अनन्तर उन्होंने दक्षिण की यात्रा आरम्भ की। गोविन्द के लिखे हुए 'कडचे' के अनुसार चैतन्य त्रिचनापल्ली, ट्रावनकोर, सोमनाथ, द्वारका, महाराष्ट्र आदि स्थानों में घूमते हुए १५६८ वि० में माघ मास में पुरी लौट आए। कहा जाता है कि दक्षिण में अनेक विद्वानों को उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया था, परन्तु यथार्थता यह प्रतीत होती है कि कृष्ण भक्ति में वे आपादमस्तक डूबे हुए थे, शास्त्रार्थ की अवस्था में न थे। उनके ऐसे निश्छल भक्त की ओर सामान्य जनों का आकर्षित होना आश्चर्यजनक नहीं है। वृन्दावन की पहली यात्रा १५७० वि० में हुसेन शाह के दो मंत्री शकरमल्लिक और दबीरखास चैतन्य के शिष्य बन गए थे। गौडीय सम्प्रदाय में दीक्षित होकर वे क्रमशः सनातन और रूप कहलाए। भविष्य में गौडीय तथा मध्वगौडीय सम्प्रदाय के शास्त्रों के निर्माण में इन दोनों का प्रमुख हाथ रहा है।

पहली यात्रा में वे रामकेलि से ही लौट आये थे। दूसरी यात्रा उन्होंने झारिखंड होते हुए की थी। मार्ग में वे काशी और प्रयाग में रुके। १५७३ वि० में वे व्रज पहुँचे। वहाँ वे अक्रूर घाट पर निवास करते थे। उन्होंने गोवर्धन परिक्रमा, राधाकुण्ड, वृन्दावन आदि की यात्रायें कीं और अनेक स्थानों का उद्धार किया। लौटते हुए वे प्रयाग में वल्लभाचार्य जी से भी मिले थे।

चैतन्य के अंतिम १७ वर्ष जगन्नाथपुरी में व्यतीत हुए थे। आयु के साथ ही साथ उनका भक्त्योद्रेक बराबर बढ़ता ही जाता था। यहाँ तक प्रसिद्ध है कि उसी प्रेमोन्माद में एक दिन चैतन्य कृष्ण वर्ण के समुद्र में उसका आलिंगन करने के लिए कूद पड़े और उनके भौतिक जीवन का अंत हो गया। इस सम्बन्ध में जयानन्द ने एक अधिक बुद्धिगम्य कारण दिया है। उनके अनुसार १५९० वि० में रथयात्रा के अवसर पर नृत्य करते हुए चैतन्य के वाम चरण में चोट लग गई थी जो पक गई, और चार दिनों के अंदर वे परलोक प्रयाण कर गए।

श्री कृष्ण चैतन्य की शिक्षा बड़ी सीधी-सादी और स्वल्प थी। वे भक्तों को नाम संकीर्तन के लिए उत्साहित करते और उनको नम्र बनने का उपदेश देते थे। वे कहते थे कि भक्तों को आत्म सम्मान छोड़कर दूसरों का आदर करना चाहिए।[१] वे आडम्बर तथा स्त्री सम्पर्क के विरोधी थे और संयमपूर्ण, सदाचारी तथा विरक्त जीवन के पक्षपाती थे। उन्होंने जाति सुधार का कोई कार्य नहीं किया था। यद्यपि उन्होंने अनेक विजातियों को शिष्य बना लिया था, तथापि

---

१. शिक्षाष्टय, चैतन्य, श्लोक ३

वे वर्ण-व्यवस्था के समर्थक प्रतीत होते हैं। हरिदास उन्हीं के आदेश से पुरी के मंदिर से दूर रहते और पुजारियों के सम्पर्क से अपने को बचाते थे। सनातन मंदिर के मार्ग का प्रयोग ही नहीं करते थे, अन्यथा पुजारियों (सेवैतों) से उनका साक्षात्कार हो सकता था।[१]

चैतन्य ने वासनाओं का सदुपयोग करना सिखाया है। वासनाओं को इन्द्रिय संसर्ग से पृथक कर उनको परमाराध्य की ओर केन्द्रित करने में ही जीवन की सार्थकता है। कृष्ण को देखकर, उनकी वाणी सुनकर अथवा केवल ध्यान कर ही जैसे राधा भाव विह्वल और मूर्च्छित हो जाया करती थी, वैसे ही कृष्ण के वियोग में, उनकी स्मृति में, चैतन्य अश्रुपात करते और अचेत हो जाते थे। इसीलिए उनमें युगल भावना का समावेश किया गया है। इस सम्प्रदाय में वे कृष्ण के अवतार और राधा के स्वरूप समझे जाते हैं।

बंगाली साहित्य पर चैतन्य का व्यापक प्रभाव पड़ा है। वैष्णव गीतों के साथ जैसा उनका अमिट संग्रन्थन है वैसा अन्य किसी साम्प्रदायिक व्यक्ति का कहीं भी नहीं है। गौडीय सम्प्रदाय में प्रत्येक राधाकृष्ण के कीर्तन गान के पूर्व 'गौर चन्द्रिका' का गाया जाना आवश्यक है। उनमें महाप्रभु की स्तुति के साथ-साथ अवसर विशेष पर गाए जाने वाले गानों की विशिष्ट भावना का संकेत भी मिलता है। तत्पश्चात् उन्हीं भावों के द्योतक राधाकृष्ण के गीत गाए जाते हैं।[२] बंगाली साहित्य में जीवनियों का प्रादुर्भाव चैतन्य को लेकर ही हुआ है। उनके बाद अन्य प्रमुख वैष्णवों का भी जीवन चरित्र निर्मित हुआ और जीवनी लिखने की एक परम्परा चल निकली।

श्रीमद्भागवत पर आधारित किसी भी अन्य सम्प्रदाय ने कीर्तन को इतना अधिक महत्व नहीं दिया जितना कि महाप्रभु चैतन्य ने। संकीर्तन कोई नवीन वस्तु नहीं है, इसका उल्लेख हो चुका है। चैतन्य ने उसे नव प्रेरणा अवश्य प्रदान की है। उसमें उनकी आत्माभिव्यक्ति इतनी प्रबल थी कि वह दूसरों को मोहित कर अपने साथ बहा ले जाती थी उनके बाद बंगाली वैष्णवों की विशिष्टता का ज्ञापक संकीर्तन ही समझा जाने लगा और अद्यापि समझा जाता है।

चैतन्य का संसार त्याग बंगाल के वैष्णव धर्म पर एक बहुत बड़ा आघात था। उनका व्यक्तित्व ही आन्दोलन का प्राण था। उनके अनन्तर सम्प्रदाय का विस्तार चुने हुए शिष्यों के द्वारा सम्पृक्त किन्तु स्वतंत्र रूप से वस्तुतः दो केन्द्रों में किया गया है। षडगोस्वामियों ने वृन्दावन में और नित्यानन्द, उनके पुत्र वीरभद्र तथा अद्वैताचार्य ने बंगाल में पृथक साम्प्रदायिक पक्षों की उन्नति में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया था।

सहयोगी और शिष्य

अद्वैताचार्य चैतन्य के पूर्व ही वैष्णव समाज का संगठन कर चुके थे। वह समाज सनातन धर्म के अधिक समीप था और आज तक बना हुआ है। द्वितीय गौडीय शाखा के अगुआ

---

१. चैतन्य चरितामृत, अन्त, परिच्छेद ४, पृ० ८४

२. बंगाली कृष्ण भजनों को छः समूहों में विभक्त किया गया है। वे हैं : गोष्ट, पूर्वरंग, दौत्य, मिलन, मधुर तथा भावासन मिलन।

नित्यानन्द थे। उनमें निर्माण की शक्ति अधिक थी। उत्तर काल में बंगाल की सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन में उन्होंने सर्वाधिक योग दिया है। कलकत्ते के उत्तर में करदहा नामक स्थान पर उन्होंने अपना केन्द्र स्थापित किया था। उनके पुत्र वीरभद्र में पिता से अधिक उत्साह एवं साहस था। उन्होंने उस काल में सबसे निम्न, उपेक्षित, निराश एवं आश्रयहीन लोगों की ओर ध्यान दिया था। बौद्धों के पतन के अनन्तर सहस्रों बज्रयानी, सहजयानी आदि बौद्ध अनुयायी निरावलम्ब हो गए थे। वीरभद्र ने सबको सहारा देकर वैष्णव धर्म में दीक्षित कर लिया। सहजिया बौद्धों ने उसे ग्रहण कर अनेक स्वतंत्र छोटे सम्प्रदाय बना लिए। वैष्णव धर्म से उनका सम्बन्ध एकमात्र नित्यानन्द और चैतन्य के नाम का ही है। उनकी आराधना और साधना भिन्न है।

बंगाली वैष्णव समाज पर नित्यानन्द और अद्वैताचार्य के वंशजों के बाद भागनापाड़ा के गोस्वामियों का स्थान है। वे सभी वंशीवादन चटर्जी अथवा वंशीदास के वंशज हैं। उनकी पुस्तक वंशी शिक्षा में एक स्वप्न का वर्णन है जिसके आदेश से चैतन्य की मूर्तिपूजा का उन्होंने प्रचार किया था।[१] यह एक नवीन बात थी। किसी भी प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक की मूर्तिपूजा नहीं की जाती। गौडीय सम्प्रदाय में न केवल चैतन्य की ही वरन् नित्यानन्द, शची देवी और विष्णुप्रिया की भी मूर्तियाँ मिलती हैं। यह प्रथा भी संभवत: बौद्ध धर्म से ही ली गई है जहाँ स्वयं बुद्ध की मूर्ति का पूजन होता है।

षडगोस्वामी

बंगाल के वैष्णव केवल आराधना एवं संकीर्तन का प्रचार करने में ही संलग्न थे। परन्तु सिद्धान्तहीन सम्प्रदाय में स्थायित्व नहीं आ सकता था। वृन्दावन की उन्नति करने और प्रसिद्ध स्थलों का अन्वेषण करने के लिए चैतन्य ने लोकनाथ आचार्य, सनातन और रूप को भेजा था, बाद में जीव, रघुनाथदास, गोपाल भट्ट तथा रघुनाथ भट्ट भी वहीं जाकर बस गए थे। इनमें से अंतिम छ: षडगोस्वामी के नाम से विख्यात हुए हैं। उन्हीं के सम्मिलित प्रयत्न से सैद्धान्तिक न्यूनता की पूर्ति हुई है। उनकी समस्त कृतियाँ संस्कृत में हैं।

अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है कि चैतन्य ने सनातन से इस कार्य के लिए आज्ञा दी थी।[२] संभव है कि महाप्रभु ने यह अनुभव किया हो कि संकीर्तन, नृत्य तथा मूर्च्छा के वातावरण में मनन नहीं किया जा सकता। मनन एवं तज्जनित सिद्धांतों की निष्प्रति के लिए शांति अपेक्षित है। तदर्थ वृन्दावन ही उपयुक्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि सनातन को चैतन्य ने भक्ति की स्थूल शिक्षा ही दी होगी। चैतन्य का प्रमुख अध्ययन व्याकरण, पिंगल तथा

---

१. चैतन्य मूवमेन्ट, पृ० ६६

२. रूप के सम्बन्ध में भी एक संकेत मिलता है:—

ब्रज जाई रस शास्त्र कर निरूपण।
लुप्त तीर्थ सब तार करिह प्रचारण।
कृष्ण सेवा भक्ति रस करिह प्रचार।

—चैतन्य चरितामृत, अंत, परिच्छेद १, पृ० ४५

अलंकार शास्त्र का ही था। इसका स्पष्ट संकेत जीवनियों में अनेक स्थलों पर मिलता है। वेदान्त आदि का सम्यक् अध्ययन उन्होंने उत्तर जीवन काल में किया हो, यह सम्भव नहीं है, उस समय उनकी मानसिक स्थिति ही ऐसी न थी। सनातन तो कुछ दिन उनके समीप रहे भी, किन्तु उद्भट दार्शनिक जीव ने तो कभी उनसे शिक्षा ही नहीं प्राप्त की थी। सभी बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सम्प्रदाय के सिद्धांतों का विकास षडगोस्वामियों की निजी मौलिकता थी।

षडगोस्वामियों ने व्रज के प्रत्येक कुंज, सरोवर, झील, पहाड़ी आदि को राधाकृष्ण की लीला से सम्पृक्त किया और उनका पृथक-पृथक नामकरण किया। कतिपय वर्षो के बाद वल्लभ सम्प्रदायियों ने भी अन्य स्थलों को महत्व दिया। षडगोस्वामियों ने मंदिरों का निर्माण भी कराया था। गोविन्दजी के मन्दिर के शिलालेख में १६४७ वि० की तिथि पड़ी हुई है। इसके भी पूर्व इनके प्रयत्न से मदनमोहन, युगलकिशोर तथा गोपीनाथ के मंदिर बन चुके थे।

सनातन, रूप और जीव

रूप, सनातन और उनके भतीजे जीव के वंशज कर्णाटक के रहने वाले थे। श्रीमद्भागवत् की टीका लघु वैष्णव तोषणी में जीव गोस्वामी ने अपने वंश का परिचय संक्षेप में दिया है। श्री मुरारी के पौत्र तथा मुकुन्द के पुत्र कुमारदेव भरद्वाज गोत्रिय ब्राह्मण थे और उनका बड़ा सम्मान था।[१] उनके तीन पुत्र थे सनातन, रूप तथा वल्लभ अथवा अनुपम। सनातन का जन्म १५४५ वि० तथा रूप का जन्म १५५० वि० में हुआ था। विद्या, बुद्धि और चातुर्य के बल पर वे बादशाह हुसेनशाह के राजमंत्री बन गए थे। महाप्रभु की आज्ञा से दोनों वृन्दावन चले गए और व्रज की उन्नति एवं साम्प्रदायिक साहित्य के सृजन में उन्होंने अपना समस्त जीवन लगा दिया।

दोनों भाई संस्कृत और फारसी के अच्छे विद्वान थे। उनके द्वारा लिखित ग्रंथ आज भी गौडीय सम्प्रदाय में अपरिहार्य हैं। रूप गोस्वामी द्वारा रचित हरि भक्तिरसामृत सिन्धु तथा उज्ज्वल नीलमणि भक्ति शास्त्र के अद्वितीय और मौलिक ग्रंथ हैं। साहित्य शास्त्र में भी वे अतुलनीय हैं। हिन्दी साहित्य पर इनका प्रभाव पड़ा है, इसे आगे दिखाया जाएगा।[२]

---

१. रेजे राजसभा समाजिकपदः कर्णाट भूमीपतिः।
श्री सर्वज्ञ जगतुरुर्भुवि भरद्वाजान्वयग्रामणीः॥
जातः तत्र मुकुन्दतो द्विजवरः श्रीमान् कुमाराधिपः।
किंचित् द्रोहमवाप्य सत्कुलजर्निबंगालयं संगतः॥

—लघु वैष्णव तोषिणी, श्रीमद्भागवत्, दशम स्कंध, अंत

२. रूप गोस्वामी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :
हरिभक्तिरसामृत सिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, विदग्धमाधव, ललित माधव, दानकेलिकौमुदी, अष्टादश लीला छंद, लघुभागवतामृत, निकुंजरहस्यस्तव, हंसदूत आदि।

—चैतन्य चरितामृत, मध्य परिच्छेद १, पृ ५

सनातन गोस्वामी ने वृहद भागवतामृत दशम चरित (लीलास्तव), हरिभक्ति विलास (दिग्दर्शिनी टीका सहित) तथा भागवत की वैष्णव तोषिणी टीका भक्तिरत्नाकर आदि की रचना की थी।

वल्लभ के पुत्र जीव गोस्वामी प्रकांड विद्वान थे। उनके लिखे हुए छः निबन्धों का संग्रह हरिनामामृत व्याकरण, षटसंदर्भ और सर्वसंवादिनी दर्शन शास्त्र की अमूल्य पुस्तकें हैं। उन्हें सम्पूर्ण गौडीय तथा मध्वगौडीय सम्प्रदाय के दर्शन का मूलाधार मानना अनुपयुक्त न होगा। उनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ 'गोपाल चम्पू' है जिसमें उन्होंने नित्य लीला तथा व्रजप्रेम लीला का सुन्दर चित्रण किया है। कृष्णदास कविराज ने उनके अंतहीन ग्रंथों का उल्लेख किया है, किन्तु उनकी २५ कृतियाँ आज भी उपलब्ध हैं।[१] इनका जन्म और मृत्यु समय क्रमशः १५७० वि० तथा १६५५ वि० माना जाता है।

रघुनाथदास और रघुनाथ भट्ट

रघुनाथदास गोस्वामी सप्तग्राम के अधिपति गोवर्द्धन ब्राह्मण के पुत्र थे। उन्होंने स्वरूप दामोदर की देख-रेख में कठिन साधना की थी। चैतन्य के समीप वे कुछ वँर्ष रहे भी थे। उनके स्तवों और स्तोत्रों का एक संग्रह स्तवावली के नाम से मिलता है। उनमें प्रायः चैतन्य की प्रशंसा अथवा मनःशिक्षा मिलती है, किन्तु उनकी अनेक रचनाओं में राधाकृष्ण की शृंगारिक लीला का अच्छा रहस्यात्मक विवरण भी मिलता है। उनकी लिखी स्तवावली, दानकेलिचिन्तामणि तथा मुक्तचरित पुस्तकें प्राप्त हैं। रघुनाथ भट्ट काशी के तपन मिश्र के पुत्र थे। वे चैतन्य के समीप कुंछ मास रहने के अनन्तर वृन्दावन में रहने लगे। वे गोविन्ददेव मंदिर में भागवत की कथा सुनाया करते थे।

गोपाल भट्ट

गोपाल भट्ट गोस्वामी वेंकट भट्ट के पुत्र थे। उनका जन्म लगभग १५५७ वि० में तथा निधन १६४२ वि० में हुआ था। दक्षिण की यात्रा करते हुए श्रीकृष्ण चैतन्य ने श्री वैष्णव मतावलम्बी वेंकट भट्ट के घर पर चातुर्मास्य व्यतीत किया था। उनके दो भाई और थे त्रिमल्ला और प्रबोधानन्द। कहा जाता है कि महाप्रभु ने गोपाल भट्ट को वहीं यह आदेश किया था कि वे जाकर वृन्दावन में रहें। वे १५८२ वि० में वृन्दावन पहुँच गए थे। उनके आगमन की सूचना पाकर महाप्रभु ने अपना डोर, कौपीन और आसन उन्हें भेज दिया था।[२] उन्होंने 'हरिभक्त विलास' की रचना की। चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णवगण इसी आचार संहिता से संचालित होते हैं।

श्री सुनील कुमार दे ने गोपाल भट्ट की जीवनी को अल्प और संदिग्ध सिद्ध करना चाहा है। उनका प्रधान तर्क यह है कि अधिक प्राचीन ग्रंथों में उस कथा का कोई उल्लेख नहीं है और कुछ स्थानों पर गोपाल भट्ट त्रिमल्ल के पुत्र कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त पुस्तकों के

---

१. चैतन्य चरितामृत, मध्य, परिच्छेद १, पृ० ६ तथा अंत, परिच्छेद ४, पृ० ११२

२. प्रेम प्रतिमा, पृ० ९-१८

रचयिता भी संदेह उत. न करते हैं।[१] मध्वगौडीय सम्प्रदाय में परम्परा से ही वेंकट भट्ट उनके पिता माने गये हैं। बड़े अथवा छोटे किसी भी भाई को पिता मान लेने से सम्प्रदाय को कोई लाभ या हानि नहीं होती। प्रचीन पुस्तकों में उल्लेख न मिलने का एक प्रसिद्ध कारण यह है कि गोपाल भट्ट ने अपने विषय में लिखने का निषेध कर दिया था। यह असम्भव नहीं है क्योंकि कृष्णदास कविराज ने जहाँ अपने सभी शिक्षा गुरुओं के सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखा है, उन्होंने किसी भी पंक्ति मे गोपाल भट्ट के चरित अथवा ग्रंथ की चर्चा नहीं की।[२] यदि उक्त निषेधाज्ञा पर विश्वास न किया जाय तो यह बात अस्वाभाविक लगती है।

हरिभक्तिविलास गोपाल भट्ट द्वारा रचित उपासना सम्बन्धी एक वृहद ग्रंथ है। सनातन भी इसके रचयिता समझे जाते हैं।[३] नि:सन्देह उनके लेखक गोपाल भट्ट ही हैं, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट ही उसे अपनी कृति बतलाया है।[४] फिर भी भ्रम उत्पन्न होने का एक कारण है। ग्रंथों की रचना कर सम्प्रदाय के स्वरूप को स्थिर करना एक ऐसा कार्य था जिसके लिए गोस्वामियों को विचार विनिमय की आवश्यकता पड़ती रही होगी। गोष्ठियों के द्वारा सिद्धांत तथा उपासना पद्धति का निर्णय अधिक सुविधाजनक एवं मान्य होता है। रूप और सनातन सबसे पहले वहाँ पहुँच गए थे। रूप गोस्वामी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से सिद्धांतों का स्वरूप स्थिर कर रहे थे। सनातन ने भी पुराणों, तंत्रों, उपनिषदों आदि का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। इसी बीच में दर्शन और पुराण का अच्छा अध्ययन कर गोपाल भट्ट भी वहाँ पहुँच गए। उनकी उपस्थिति में यह निश्चय किया गया होगा कि उपासना और कर्मकाण्ड सम्बन्धी एक ग्रंथ वे ही लिख दें। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि रघुनाथदास, रूप और सनातन को संतुष्ट करते हुए उस ग्रंथ की रचना हुई है। सनातन ने जो कुछ सामग्री एकत्र कर रखी होगी उसे उन्होंने गोपाल भट्ट को दे दिया होगा। फलत: उसके लेखक के प्रति भ्रम उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बंगाल, पृ० ९४-१०८

२. श्री रूप सनातन भट्ट रघुनाथ।
श्री जीव गोपाल भट्ट दास रघुनाथ।
एइ छय गुरु शिक्षा गुरु ये अमार।

—चैतन्य चरितामृत, आदि, परिच्छेद १, पृ० १०

३. हरिभक्तिविलास आर भागवतामृत।
दशम् टिप्पणी आर दशम चरित।
एह सब ग्रन्थ कैल गोसाइ सनातन।

—चैतन्य चरितामृत, मध्य, परिच्छेद १, पृ० ५

४. भक्तेर्विलासांश्चिनुते प्रबोधानन्दस्य
शिष्यो भगवत्प्रियस्य।
गोपालभट्टो रघुनाथदास
संतोषयन् रूपसनातनौ च।

—हरिभक्तिविलास, विलास १, श्लोक २

मध्वगौडीय

गंडकी नदी में गोपाल भट्ट को द्वादश शालग्राम की मूर्ति प्राप्त हुई थी। उनमें से एक दामोदर मूर्ति थी। सनातन श्री मदनमोहन की और रूप श्रीगोविन्द जी की सेवा किया करते थे। गोपाल भट्ट को अपनी पृथक मूर्ति की सेवा तथा शृंगार करने की बड़ी लालसा थी। प्रसिद्ध है कि १५९९ वि० में वैशाख शुक्ल चतुर्दशी के दिन उस दामोदर शालग्राम से 'श्री राधारमण' का स्वरूप प्रकट हुआ।[१] इसी मूर्ति की सेवा पूजा को लेकर गौडीय सम्प्रदाय की एक शाखा मध्वगौडीय का प्रादुर्भाव हुआ। एक गौड ब्राह्मण देववन में गो० गोपाल भट्ट का शिष्य बन गया था। श्री राधारमण के अभिषेक के अनन्तर वह भी आकर वृन्दावन में रहने लगा। कुछ दिनों के पश्चात् गुरु के आदेश से गोपीनाथ गोस्वामी ने अपने लघुभ्राता दामोदरदास को दीक्षित कर उनका विवाह करा दिया। उनके तीन पुत्र हुए हरिनाथ स्वामी, मथुरानाथ स्वामी और हरिराम स्वामी। आज तक उनके वंशज ही श्रीराधारमण के सेवाधिकारी बने हुए हैं। मंदिर के चारों ओर घेरा बना कर वे सभी रहते हैं और उनकी सेवा का क्रम निश्चित है।

मध्वगौडीय सम्प्रदाय में वही ग्रंथ मान्य हैं जो गौडीय सम्प्रदाय में हैं। उन्होंने केवल उपासना प्रणाली में थोड़ा परिवर्तन कर लिया है। उनका सम्बन्ध बंगाल से लगभग छूट सा गया है। वृन्दावन में यद्यपि बंगाली भक्तों का बाहुल्य है, जो गोविन्द तथा मदनमोहन को राधारमण से अधिक प्रधानता देते हैं, तथापि साम्प्रदायिक महत्व की दृष्टि से वहाँ मध्वगौडीय की ही प्रमुखता है। इस सम्प्रदाय के दो मंदिर काशी और प्रयाग में भी हैं।

उत्तरकालीन गौडीय सम्प्रदाय

चैतन्य के बाद बंगाली वैष्णवों के सम्मुख कई समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। पहली समस्या थी साम्प्रदायिक सिद्धांतों की प्रतिद्वन्द्विता में अपनी स्वतंत्र स्थिति का स्पष्टीकरण और दूसरी थी सम्प्रदायगत, विशिष्ट उपासना पद्धति की स्वीकृति। उस समय बंगाल में चैतन्य का कोई भी शिष्य ऐसा न था जो इस न्यूनता की पूर्ति कर सकता। इसी समय कृष्णदास कविराज, नरोत्तमदास, श्रीनिवास आचार्य तथा श्यामानन्ददास वृन्दावन से बंगाल आए। उन लोगों ने इन गोस्वामियों की कृतियों को वहाँ के वैष्णव समाज के समक्ष रखा। मझधार में पड़ी डूबती नौका के सदृश बंगाली समाज ने उन्हें बड़ी श्रद्धा एवं सम्मान के साथ स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे गौडीय सम्प्रदाय की अर्चा, पूजा, सिद्धांत आदि सभी क्षेत्रों में वे प्रमाण कोटि में गिनी जाने लगी और आज भी हैं।

जयपुर बसाने वाले राजा जयसिह चैतन्य साम्प्रदायिक थे, परन्तु वहाँ पण्डितों ने उसे असम्प्रदायिक करना चाहा। तब विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने शिष्य कृष्णदेव सार्वभौम और बलदेव जी को वहाँ भेजा। वहाँ पण्डितों को सन्तुष्ट करने के लिए बलदेव जी ने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्दभाष्य की रचना की जिस पर उन्हें विद्याभूषण की उपाधि मिली। इसके अतिरिक्त उनके १३ ग्रंथ और रचित बताये गये हैं।[२]

---

१. प्रेम प्रतिमा, पृ० २८-३१

२. ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासोफी, खंड ४, पृ० ४३८

सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् लगभग दो शताब्दियों तक का समय गौडीय सम्प्रदाय का अंधकार युग कहा जा सकता है। इस बीच कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। षडगोस्वामियों, अष्ट कविराजों और ६४ महंतों के शिष्यो के वंशज शनैः-शनैः फैलते गए। वे लोग धीरे-धीरे पुरोहितो के अधिकार का अपहरण करते गए और अंत में समाज के सघटन पर उनका दृढ़ अधिकार हो गया। आज बंगाल के प्रत्येक गॉव तथा कस्बो में इन गुरुवर्गो ने अपने फौजदारो और छड़ीदारों को नियुक्त कर रक्खा है, विभिन्न कार्यो के लिए इनकी गुरु दक्षिणा निश्चित हो चुकी है।[१]

बंगाली वैष्णवों के लिए परकीयावाद एक सांकेतिक रूपक है। उत्तरकालीन सहजिया इसे स्थूल रूप में ग्रहण करते हैं और स्त्री-पुरुष के अवैध सम्बन्ध को ही ईश्वरानुभूति का साधन समझते हैं। ग्रन्थों का अर्थ इन लोगों ने मनमानो लगा रक्खा है। चौरासी योजन का व्रजमंडल इनकी दृष्टि में स्त्री का ८४ अंगुल का शरीर ही है।[२] ऐसी अवस्था में उच्च आध्यात्मिक भावना का विलोप हो जाना स्वाभाविक ही है। गौडीय सम्प्रदाय मे परकीया का आधार श्रीमद्‌भागवत की गोपीलीला है। वहाँ गोपी प्रेम को महत्व दिया गया है, गोपी सहकृत आराधना को नहीं। सहजियों ने स्व से व्यतिरिक्त पर में परकीया को आधारित कर दिया। परकीया प्रेम प्रतीक न होकर सहज हो गया। शताब्दियों से चली आती हुई तांत्रिक एवं बौद्ध धर्म की साधना ने बंगाल में परकीयावाद के विकास के अपरिचित साधन प्रस्तुत कर दिए थे। सनातनी हिन्दू इस सिद्धांत के विपक्ष में थे। स्वयं बंगाली वैष्णव भी उसे सर्वाश में उचित न समझते थे। अनेक स्थलों पर उन्होने स्पष्ट लिखा है कि साधारण जनों के लिए वह श्रेयस्कर नहीं है।

वल्लभ सम्प्रदाय

वल्लभाचार्य

पुष्टि मार्गीय सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीमद्‌वल्लभाचार्य के मूल पुरुष गोविन्दाचार्य नामक एक महान विद्वान थे। उनके वंशज लक्ष्मण भट्ट का जन्म काल निश्चित नहीं है। विद्यानगर के राजपुरोहित सुशर्मा की कन्या इल्लम्मामारु से उनके एक पुत्र और दो कन्याएँ उत्पन्न हुई। उसके बाद वे यात्रा करते हुए काशी आए और वहीं बस गए। एक बार बहलोल लोदी के आक्रमण के भय से लक्ष्मण भट्ट काशी छोड़कर भागे। मार्ग में मध्य प्रदेश के चम्पारण्य नामक स्थान पर उनके एक अष्ट-मासिक निश्चेष्ट तथा संज्ञाहीन बालक उत्पन्न हुआ। यही बालक बड़ा होकर वल्लभाचार्य कहलाया। उनका जन्म वैशाख कृष्ण एकादशी में १५३५ वि० में हुआ था।

---

१. **चैतन्य एण्ड हिज कम्पेनियन, पृ० २०३। इस बात का समर्थन श्री कैनेडी ने चैतन्य मूवमेन्ट, पृ० १५५ पर किया है।**

२. **पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट इन बंगाल, पृ० ३७**

बाल्यावस्था से ही वल्लभ कुशाग्रबुद्धि थे। प्रसिद्ध है कि ११ वर्ष की आयु में ही वे समस्त वेद, शास्त्र और दर्शन में पारंगत हो गये थे। इसी समय सपरिवार दक्षिण की यात्रा करते हुए श्री वेंकटेश्वर बाला जी में १५४६ वि० में लक्ष्मण भट्ट स्वरूप मुक्ति पा गए। माता को मामा के पास विद्यानगर में छोड़कर उनकी आज्ञा से वल्लभ तीर्थ भ्रमण के लिए निकल पड़े। उन्होंने सम्पूर्ण भारत की तीन बार परिक्रमा की थी। इन्हीं यात्राओं को वल्लभ दिग्विजय के नाम से अभिहित किया जाता है कि जो १५६७ वि० तक समाप्त हो चुकी थी। यात्राकाल में वल्लभ ने स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ किए थे और श्रीमद्भागवत का पारायण कर भक्ति का प्रचार भी किया था। भागवत पारायण के स्थल ८४ बैठक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

दिग्विजय की सबसे महान घटना विजयनगर की है। उस अवसर पर शास्त्रार्थ में समस्त मतावलम्बियों पर विजयी होने के कारण राजा कृष्णदेव ने वल्लभ का कनकाभिषेक करवाया था। उसी के पश्चात् ही वे वल्लभाचार्य कहलाने लगे थे। यहाँ पर यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि १२ वर्ष की अवस्था से लेकर संन्यास के पूर्व तक उन्होंने किसी को भी अपना गुरु नहीं बनाया। सभी सिद्धांतों का प्रस्फुटन उनके स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम है।

सर्वप्रथम गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के प्रकट होने के बाद से चैतन्य सम्प्रदायी माध्वानन्द साधु उनकी सेवा करते थे। प्रथम यात्रा के समय आन्तरिक प्रेरणा से वशीभूत होकर वल्लभाचार्य ने १५४९ वि० में झारखंड से वहाँ जाकर श्रीनाथ जी का पाटोत्सव कराया और सेवा और शृंगार का क्रम बाँध कर रामदास की सेवा का भार सौंप दिया। १५५६ वि० में पूर्णमल्ल खत्री ने एक मंदिर की नींव डाली जिसमें १५७६ वि० में श्रीनाथ जी की प्रतिमा स्थापित हुई। वल्लभाचार्य ने भक्त एवं विरक्त बंगाली वैष्णवों को सेवा का भार सौंपा और कृष्णदास को अधिकारी तथा कुंभनदास को कीर्तनिया बनाया।

द्वितीय यात्रा के मध्य में वल्लभाचार्य ने काशी के मधुमंगल की पुत्री महालक्ष्मी से १५६०-६१ वि० में विवाह कर लिया।[१] उससे आचार्य जी के दो पुत्र उत्पन्न हुए। श्री गोपीनाथ का जन्मकाल १५६८ वि० और विट्ठलनाथ का १५७३ वि० है। प्राय: वार्ता साहित्य के द्वारा ही इसके बाद के इतिहास का यत्किंचित वृत्तान्त मिलता है। यात्राओं की समाप्ति के कुछ दिनों बाद वल्लभाचार्य ने अपना स्थायी निवास प्रयाग के निकट अड़ैल नामक स्थान में बना लिया। बीच-बीच में व्रज अथवा काशी भी जाते रहे। मालूम होता है कि अड़ैल में रहने के अनन्तर उन्होंने लेखन कार्य आरम्भ किया होगा। केवल 'पत्रावलम्बन' की रचना काशी में शास्त्रार्थ के समय हुई थी। ज्येष्ठ कृष्ण दशमी, १५८७ वि० में प्रयाग आकर वल्लभाचार्य ने नारायणेन्द्रतीर्थ स्वामी से सविधि संन्यास ले लिया।[२] अंत में अषाढ़ शुक्ल द्वितीया १५८७ वि० के दिन उन्होंने काशी में भागीरथी में प्रवेश कर इहलीला संवरण की।

---

१. कांकरोली का इतिहास, पृ० ५१

२. श्री परिख जी का मत है कि वल्लभाचार्य के संन्यास गुरु मध्वेन्द्रपुरी थे जिन्होंने उनका नाम पूर्णानन्द रखा था।(श्री वल्लभाचार्य, पृ० १८२-३) यह उचित नहीं है क्योंकि पुरी वर्ग के संन्यासियों के आम्नाय में आनन्दान्त नाम का निषेध है।

वल्लभाचार्य के ८४ प्रमुख शिष्य कहे जाते हैं। उनमें से अधिकांश गुजरात के थे। इन शिष्यों में से चार 'सखा' कहलाते हैं। भविष्य में इन चारों और विट्ठलनाथ के शिष्य चार सखाओं को मिलाकर अष्टछाप की स्थापना हुई। उन्होंने हिन्दी में जो रचनाएँ की हैं वे अतुलनीय एवं अद्‌भुत हैं। शताब्दियों तक उनके प्रभाव की सुस्पष्ट छाप हिन्दी साहित्य पर पड़ती रही है। गुजरात में वल्लभाचार्य का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। जो कुछ चैतन्य ने भारत के दूसरे छोर बंगाल में किया वही वल्लभाचार्य ने इस छोर पर किया। इसका कारण भी था। बंगाल में चैतन्य के समान परमभक्त उपस्थित थे। मध्य प्रदेश में होने के नाते संयुक्त प्रान्त में सभी सिद्धांत प्रवेश कर जाते हैं। फिर इसे दो सर्वश्रेष्ठ अवतारों की प्राकट्‌य स्थली होने का सौभाग्य प्राप्त है। पंजाब में नानक-पंथियों का एक कट्टर धर्म था। केवल राजपूताना गुजरात और सिन्ध में कोई बड़ा धार्मिक नेता न था। गुजरात में नरसी मेहता ने कृष्ण भक्ति की नींव डाल दी थी। अतएव वहाँ स्वमत प्रचार में वल्लभ को सरलता भी हुई।

वल्लभाचार्य आचार्य पहले थे और सम्प्रदाय के संस्थापक बाद में। श्रीनाथ जी की सेवा का भार उन्होंने बंगाली वैष्णवों पर छोड़ दिया था। अपने चार सखाओं को श्रीनाथ जी के समीप रहने की प्रेरणा भी उन्होंने साम्प्रदायिक दृष्टि से न की थी। उनमें उन्होंने परमभक्त का उद्रेक पाया था और भक्त के लिए आराध्य का सामीप्य ही सबसे बढ़कर है। वल्लभ के महान व्यक्तित्व में बौद्धिक, नैतिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक सिद्धांतों का अद्‌भुत सन्तुलन था। चैतन्य भावुक और नैतिक महात्मा अवश्य थे, किन्तु उनमें वल्लभाचार्य के समान बौद्धिक प्रतिभा न थी। यही कारण है कि एक विरक्तों का समाज वल्लभ के चारों ओर इकट्ठा हो गया था जिससे उनकी मृत्यु के पश्चात् जब उनके पुत्रों ने सम्प्रदाय की स्थापना करना चाहा, तो उन्हे कोई अड़चन न पड़ी।

कहा जाता है कि वल्लभाचार्य ने ३५ ग्रन्थों की रचना की थी। अभी तक ३० छोटे बड़े ग्रन्थ और कुछ स्फुट अष्टक, स्तोत्र आदि मिलते हैं।[१] उनमें से कतिपय पुस्तकें प्राचीन ग्रन्थों के ऊपर भाष्य, टीका अथवा कारिका हैं और शेष रचनाएँ सम्प्रदायगत सिद्धांत एवं भक्ति भावना को स्पष्ट करने के लिए लिखी गई हैं। उनकी दो महत्वपूर्ण भाष्य और टीकाएँ, ब्रह्मसूत्र पर शुद्धाद्वैत परक अणुभाष्य तथा श्रीमद्‌भागवत की टीका 'सुबोधनीजी' जो अपूर्ण ही रह गई। इनमें से प्रथम को उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने समाप्त कर दिया था। साम्प्रदायिक दृष्टि से षोडश ग्रन्थ, पत्रावलम्बन तथा तत्वदीपनिबन्ध महत्वपूर्ण हैं। स्तुति आदि के अतिरिक्त सभी रचनाएँ अणुभाष्य तथा सुबोधिनीजी की पृष्टपोषिका हैं या विशदकर्त्री। सभी कृतियाँ संस्कृत में ही हैं। उनसे वल्लभाचार्य का पांडित्य स्पष्ट हो जाता है।

वल्लभाचार्य ने तीन के स्थान पर चार प्रस्थानों को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि भागवत् वेद की व्यासकृत व्याख्या है। चूँकि उसमें कृष्ण की सर्वाधिक प्रधानता है इसलिए श्री कृष्ण की भक्ति ही श्रेष्ठतम है। कृष्णलीला में व्रज लीला सर्वोपरि है। यह निश्चय कर

---

१. कहीं-कहीं ८४ शिष्य और ८४ बैठकों की समता में ८४ ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है। डॉ० दीनदयाल गुप्ता ने अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ७३-७४ में उनके केवल ३० ग्रन्थों की सूची दी है।

उन्होने सम्पूर्ण व्रजजीवन—प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक—को उपासनीय बना दिया। भक्तों का आदर्श गोपियाँ हैं अवश्य, किन्तु व्रज जीवन के अन्य अंग भी उपेक्षणीय नहीं हैं, यह उनका मत है। अतएव भागवत के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध ही वल्लभ सम्प्रदाय का अवलम्ब है। भागवत के पोषण तदनुग्रह (२.१०.४) के आधार पर ही वल्लभ ने स्वसम्प्रदाय का नामकरण पुष्टिमार्ग किया है। जीव का वास्तविक पोषण या पुष्टि ईश्वर कृपा से ही होती है, इस बात का स्पष्टीकरण 'तत्वदीपनिबन्ध' के भगवतार्थ प्रकरण में 'कृष्णानुग्रह रूपाहि पुष्टि:' द्वारा उन्होंने किया है। पुष्टि का अर्थ ऐहिक सुख वृद्धि करना सर्वथा भ्रामक है। भगवान को प्रसन्न कर जिस विधि से इनके अनुग्रह की प्राप्ति हो सकती है, उस सेवा विधि का प्रचलन 'पुष्टिमार्ग' में किया गया है। इसके लिए सर्वप्रथम 'ब्रह्मसम्बन्ध' की आवश्यकता पड़ती है। जिसके अनुसार अपने सम्पूर्ण स्वत्वों को श्रीकृष्ण को समर्पित करना पड़ता है।

पुष्टिमार्गी को वैदिक मर्यादा मार्ग का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं है। साधना का आधार शुद्ध प्रेम है। वल्लभाचार्य वेदों की उपेक्षा करने को नहीं कहते। उनका कहना है कि अनेक मत मतान्तरों को मानने वाले प्रवाह भक्त को न कभी ज्ञान होता है न वास्तविक भक्ति ही। ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षा लेने का अधिकार सभी मनुष्यों को है। वहाँ जाति भेद और वर्ण भेद का विचार नहीं किया जाता। फिर भी वर्णाश्रम धर्म का परित्याग करना आवश्यक नहीं, उसकी रक्षा करना आवश्यक है, क्योंकि वही पुष्टिमार्ग की आधार भूमि है। केवल ब्रह्म-सम्बन्ध की दीक्षा में ही उसका विचार नहीं किया जाता। इसकी दीक्षा आचार्य वंश से ही ली जाती है, जो परमात्मा का प्रतिनिधि है एवं ततुल्य श्रद्धा का पात्र है।

पुष्टिमार्ग में मूर्तियों को 'स्वरूप' कहा जाता है। प्रत्येक सेवक का एक अधिक प्रिय 'भगवत स्वरूप' होता है। वास्तविक अर्थ में इस सम्प्रदाय का कोई सार्वजनिक मंदिर नहीं है। प्रधान मंदिरों को 'हवेली' कहा जाता है। सामान्य वैष्णव मंडली वहाँ सेवा नहीं कर सकती। उन्हें केवल नित्य अष्ट दर्शन का ही अधिकार प्राप्त है। सेवा पूजा नहीं है, वह भावना प्रधान है। वार्ता साहित्य में भावना पर बहुत बड़ा बल दिया गया है। इस सम्प्रदाय में भगवत्सेवा, बालभाव से की जाती है। अन्य सम्प्रदायों से इसकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। निस्संदेह इससे कई लाभ हैं। प्रथम तो यह कि प्रिय बालक में प्रेम सर्वाधिक केन्द्रित हो सकता है और समय के अनुरूप परिचर्या भेद भी हो सकता है जो पुष्टिमार्गीय सेवा का आधार है। दूसरे यह कि एक बालक से किसी फल की आकांक्षा नहीं कर सकते, इन्द्रिय जन्य सुख का वहाँ विचार ही नहीं उठता। तीसरे बालोपासना युग की आवश्यकता भी थी। रक्षक प्रभु के मंदिर मुसलमान तोड़ और लूट रहे थे। जन समाज उनकी रक्षा करने में असमर्थ था और उन पर धीरे-धीरे अश्रद्धा करने लगा था। बाल स्वरूप की उपासना से प्रभु स्वयं रक्षक न होकर रक्ष्य हो गए।

गोपीनाथ

वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ की शिक्षा-दीक्षा पिता के समीप हुई थी। वे उन्हीं की तरह सरल, वैदूष्यमय, गंभीर और त्यागी थे। इनके तीन संतानें हुई थीं। पुत्र पुरुषोत्तम जी

का जन्म समय १५८८ वि० के आश्विन कृष्ण अष्टमी है।[१] महाप्रभु के निधन के बाद गो० गोपीनाथ ने सम्प्रदाय की गद्दी सम्भाली। अड़ैल में ही उन्हें कृष्णदास अधिकारी की बंगाली पुजारियों के प्रति शिकायत मिली। उन्हें निकालने का उपक्रम किया गया और श्रीनाथ जी की सेवा का भार साँचीहर ब्राह्मणों को सौंप दिया गया। इस समय तक इनका प्रभाव यथेष्ट फैल चुका था। सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि गोपीनाथ जी ने लगभग एक लक्ष द्रव्य से श्रीनाथ जी के लिए आभूषण, पात्र आदि बनवाए थे। इसके लिए उन्हें दो बार गुजरात, सिध और द्वारका आदि प्रदेशों की यात्राएँ करनी पड़ी थीं। उनका लिखा हुआ केवल एक ही ग्रंथ उपलब्ध है 'साधन दीपिका'।

उनके देहावसान के सम्बन्ध में मतभेद है। काँकरोली के इतिहासकार १६२० वि० और श्री प्रभुदयाल मीतल १५९९ वि० निधन का समय मानते हैं। मीतल जी ने स्वमत की पुष्टि में कुछ प्रबल तर्क दिये हैं।[२] काँकरौली के इतिहास के अनुसार प्रसिद्ध मंदिर निषेध की घटना गोपीनाथ जी के जीवन काल में ही हुई थी। यह ठीक नहीं है। साम्प्रदायिक ग्रंथों से यह पता चलता है कि गंगाबाई की घटना का कारण पारिवारिक था।[३] सब बातों पर विचार करने के बाद गो० गोपीनाथ का निधन १५९९ या १६०० वि० ही उचित प्रतीत होता है।

जगदीशपुरी में गो० गोपीनाथ के देहावसान होने के बाद सम्प्रदाय के उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। पुरुषोत्तम जी उस समय ११-१२ वर्ष के थे। उसे कृष्णदास अधिकारी और अपनी माँ का समर्थन प्राप्त था। सम्प्रदाय के अधिकांश व्यक्ति एक बालक के स्थान पर किसी विद्वान और समर्थ व्यक्ति को टीकेत का पद देना चाहते थे। उसके लिए विट्ठलनाथ उपयुक्त थे। इस बात को लेकर विट्ठलनाथ और कृष्णदास अधिकारी में विरोध हो गया। बहाना मिलने पर कृष्णदास ने उनका मंदिर में प्रवेश रोक दिया। वे छः मास पारसौली में रहे जिसके अनन्तर उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरधर जी ने हाकिम की सहायता से कृष्णदास को बंदी बनवा दिया। विट्ठलनाथ को यह बात अच्छी न लगी और उन्होंने पुनः उन्हें अधिकारी पद पर अधिष्ठित करा दिया। इसी बीच में पुरुषोत्तम जी का निधन हो चुका था जिसे विरोध स्वतः धीरे-धीरे शान्त हो गया।

---

१. काँकरोली का इतिहास, पृ० ८५। अष्टछाप परिचय (पृ० ८) में जन्म संवत् १५८६ दिया हुआ है।

२. देखिए अष्टछाप का परिचय, पृ० ९-१०

३. प्राचीन वार्ता रहस्य (पृ० २२७-२२८) में लिखा है "तब श्री गोपीनाथ जी श्री गोसाई जी के बड़े भाई जिनके पुत्र श्री पुरुषोत्तम जी हते। सो विनसो कृष्णदास मिल क कहे.... जो श्री गोसाई जी ने अपने सब कुटुम करि राख्यो है, टीकेत तो तुम हो। तब श्री पुरुषोत्तम जी ने कही जो हमारी सामर्थ्य नहीं है जो....." आदि।
उसी पुस्तक के २१७ पृष्ठ पर लिखे गए वर्णन से संकेत मिलता है कि गंगाबाई की घटना काल्पनिक है।

विट्ठलनाथ

गो० विट्ठलनाथ का अध्ययन विद्वान संन्यासी माध्वानन्द सरस्वती के समीप हुआ था। सम्प्रदाय में प्रचलित है कि वे बाल्यावस्था में सिद्धांतों के परिशीलन में मनोयोग न देते थे। दामोदर दास नामक वैष्णव ने इनका ध्यान कृष्ण लीला की ओर आकर्षित किया और उसी बहाने सेवा प्रणाली की ओर इनकी विशेष रुचि उत्पन्न की। इसका फल भविष्य के लिए बहुत गहरा पड़ा। समय आने पर वे उच्च कोटि के विद्वान भी हुए। रुक्मिणी बहू के साथ विट्ठलनाथ जी का विवाह १५८९ वि० में हुआ और उनसे छः पुत्र और चार पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। उनका द्वितीय विवाह मध्यप्रांत निवासिनी पद्मावती के साथ १६२४ वि० में हुआ था। इस स्त्री से केवल एक पुत्र का जन्म हुआ था।[१]

गो० विट्ठलनाथ जी के द्वारा रचित ५२ रचनाओं का उल्लेख मिलता है।[२] उनके स्वतंत्र ग्रंथों में विद्वन्मंडन, भक्ति हेतु, भक्ति निर्णय, निर्णयग्रंथ, श्रृंगाररस मंडन आदि हैं। अणुभाष्य के अंतिम डेढ़ अध्याय की पूर्ति उन्होंने की है। टीकाओं में षोडष ग्रंथ की टीका, निबन्ध प्रकाश की टीका, सुबोधिनी जी पर टिप्पणी प्रमुख हैं। स्तोत्रों में विज्ञप्ति, स्वामिनी स्तोत्र, स्वामिनी प्रार्थना, वल्लभाष्टक, गुप्तरस, आरती वंदन आदि हैं। इनमें संप्रदाय की छोटी से छोटी बात को समझाने का अच्छा प्रयत्न किया गया है।

आचार्य होने के पश्चात् विट्ठलनाथ जी ने पहले पहल गोस्वामी(गोसाईं) की उपाधि ग्रहण की। सम्प्रदाय के प्रचार के हेतु उन्होंने अनेक यात्राएँ की थीं। किन्तु वे मध्य भारत से दक्षिण कभी नहीं आए। उनके समय में सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार और उन्नति हुई। विट्ठलनाथ के प्रधान २५२ शिष्य कहे जाते हैं। इसका एक कारण यह भी था कि आपने क्रियात्मक सेवा पद्धति का प्रचलन किया था। संवत १६२३ में गो० विट्ठलनाथ अड़ैल छोड़कर स्थायी रूप से गोकुल में बस गए। वहाँ रहते हुए श्रीनाथ जी की सेवा प्रणाली का उन्होंने खूब विस्तार किया। मंदिर का पुनर्निर्माण उन्होंने कराया और सेवा प्रणाली का जो ठाट बाँधा वह स्थायी हो गया। संभवतः अष्ट दर्शनों का क्रम उन्होंने ही चलाया था जिसका विशेष विस्तार उनके चतुर्थ पुत्र गो० गोकुलनाथ ने किया।

अनेक राजा और धनी मानी लोग गोसाईं जी के शिष्य बन गए थे। अकबर ने गोकुल के आस-पास की भूमि गाय चराने और निशंक रहने के लिए दे दी थी। वित्तजा सेवा का स्थान तो सम्प्रदाय में पहले से ही था, अब सेवा विधान खर्चीला हो गया।[३] मुगल और राजपूत दरबारों

---

१. विट्ठलनाथ जी के सात पुत्रों के नाम तथा जन्म संवत क्रमशः ये हैं—गिरधर जी १५९७ वि०,गोविन्दराम जी १५९९ वि०, बालकृष्ण जी १६०६ वि०, गोकुलनाथ जी १६०८ वि०, रघुनाथ जी १६११ वि०, यदुनाथ जी १६१५ वि० तथा घनश्याम जी १६२८ वि०

२. वल्लभाचार्य और उनके सिद्धांत, पृ० २०८-१०

३. श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता, पृ० ३३ पर लिखा है कि 'फेरि श्री गोसाईं जी ने श्रीनाथ जी के खरच को प्रमाण बांध्यो सो वर्ष दिन के एक लक्ष रुपया में सब ठौर लड्डुवा और सामग्री आदि आरोगन लागे और उत्सव के प्रकार सब श्री गुसाईं जी ने बाँधे।

का वैभव और आनन्द मन्दिर में दृष्टिगोचर होने लगा। गान, वाद्य और भोग-राग सम्प्रदाय के प्रचार में बड़े सहायक हुए। साथ ही उसके साथ व्रज जीवन की सरलता, स्पष्टता और मोहकता का मणि कांचन योग भी हो गया। विट्ठलनाथ जी ने राधा की महत्ता अधिक प्रतिष्ठित की। सेवा में राधा भाव का महत्व विशेष हो गया किन्तु स्वकीया भाव ही ग्रहणीय हुआ परकीया भाव नहीं। बाद में सेवा अत्यंत आडम्बरपूर्ण होती गई।

गोसाई जी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'अष्टछाप' की स्थापना थी। उसकी स्थापना के समय के सम्बन्ध में विवाद होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि १६०२ वि० की तिथि स्वीकृत हो सकती है।[१] यह एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसका प्रभाव हिन्दी साहित्य की वृद्धि पर पड़ा। आठों सखा उच्चकोटि के कवि, गायक और भक्त थे। गो० विट्ठलनाथ ने प्रत्येक दर्शन, उत्सव आदिं के अवसर पर इन्हीं के पदों को विशेष रूप से गाए जाने की व्यवस्था कर दी थी। इनके अनुकरण पर अन्य सम्प्रदायों में भी व्रज-भाषा के पद गाए जाने की प्रथा चल पड़ी जिससे साहित्य प्रांगण मुखर हो उठा। साम्प्रदायिक दृष्टि से अष्ट सखा ठाकुर जी के अष्ट प्रहर के साथी हैं। रात्रि के समय वे स्वामिनी जी की लीलाओं में सखी भाव से सम्मिलित होते हैं। श्री गोवर्द्धन पर नित्य निकुंज लीला भूमि है जिसके अष्टद्वार हैं। अष्टछाप वाले सखा इन द्वारों के अधिकारी हैं, प्रत्येक को विशेष लीला से आसक्ति है।[२]

गोसाई विट्ठलनाथ जाति-पाँति की कट्टरता और ऊँच-नीच के भेदभव के समर्थक नहीं थे। अछूत, माली, काछी, कुनबी, धीवर आदि निम्न जाति के तथा तानसेन, रसखान आदि मुसलमान शिष्य इसके प्रमाण हैं। एक ओर जहाँ वे धर्माचार्य एवं विद्वान थे, दूसरी ओर वे एक कलाकार, काव्य और संगीत के मर्मज्ञ एवं व्रजभाषा के परम पोषक थे। उन्होंने अपनी समस्त प्रतिभा को भगवत् सेवा में लगा दिया था। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में समस्त उत्तरी भारत के पश्चिमांश को कृष्ण प्रेम में रंजित करने का प्रमुख श्रेय उन्हीं को मिल सकता है। वे एक कुशल नियोजक और निर्मायक थे। उनके प्रयत्न से लगभग समस्त गुजराती जन समाज ने पुष्टि मार्ग को स्वीकार कर लिया था। निस्संदेह राजाओं और सामंतों ने इन्हें अनेक सुविधाएँ प्रदान की थीं जो सम्प्रदाय के प्रसार में सहायक सिद्ध हुई।

जीवन भर सम्प्रदाय की विविध सेवा कर अंतिम समय में गो० विट्ठलनाथ ने अपने सातों पुत्रों में अपनी चलाचल सम्पत्ति को बाँट दिया। सात स्वरूपों को भी इनमें विभाजित कर दिया जिससे सात पीठों की प्रसिद्धि हुई।[३] श्री वल्लभाचार्य के द्वारा प्राचीन स्वरूप श्रीनाथ जी और नवनीत प्रिय जी को ज्येष्ठ पुत्र गिरधारी जी को इस अभिप्राय से दिया कि उन पर सबों का समान अधिकार रहे। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' के आधार पर श्री कंठमणि जी शास्त्री १६४४ वि०

---

१. अष्टछाप परिचय, पृ० ३६

२. वही, पृ० ३७-३८

३. सात भाइयों को क्रमशः ये सात स्वरूप प्राप्त हुए:—गिरधर को मथुरेश जी, गोविन्ददास को श्री विट्ठलनाथ, बालकृष्ण को द्वारकाधीश जी, गोकुलनाथ को गोकुलनाथ जी, रघुनाथ को गोकुलचन्द्रमा जी, यदुनाथ को बालकृष्ण जी तथा घनश्याम को मदनमोहन जी।

में विट्ठलनाथ का नित्य लीला प्रवेश मानते हैं, किन्तु अन्य विद्वान इसका समय १६४२ वि० स्वीकार करते हैं।[१] इसके निश्चय का अभी तक कोई पुष्ट आधार नहीं मिल सका है।

विट्ठलनाथ के पश्चात्

इसके बाद का इतिहास अधिकांशत: तिमिराच्छन्न है। नियत वर्षों के अनन्तर उनके सात पुत्रों ने अपने-अपने सेव्य स्वरूपों और शिष्यों की पृथक व्यवस्था करना आरंभ कर दिया था।[२] उन सबका कोई पूर्ण एवं प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। केवल तृतीय घर का इतिहास 'काँकरौली का इतिहास' के नाम से लिखा गया है जो कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अन्य वंशों के इतिहास की सामग्री यत्र-तत्र बिखरी हुई है। वह मुख्यत: वचनामृतों और प्राकट्य वार्ताओं के अंतर्गत प्राप्त होती है। विशाल वचनामृत साहित्य सैकड़ों वर्षों से रचा जा रहा है, किन्तु लगभग सभी सामग्रियाँ विभिन्न घरों में अप्रकट पड़ी हुई हैं। सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से इनका अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

तृतीय गृह के इतिहास से पता चलता है कि वहाँ एक भी वंश नहीं चल पाया और अनेक बार गोद लेने की आवश्यकता पड़ी। जहाँ तक कि साहित्यिक सृष्टि का सम्बन्ध है, इस घर के तिलकायतों ने केवल कुछ स्तोत्र, टीकाएँ और साम्प्रदायिक इतिहास ही लिखे हैं। १९८४ वि० में एक अच्छा पुस्तकालय अवश्य ही विद्या विभाग के नाम से स्थापित हुआ। अन्य घरों के सम्बन्ध में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। श्री वल्लभाचार्य और उनके सिद्धांत में लिखा है कि 'सम्प्रति जितने गोस्वामी यहाँ विराजमान हैं वे सब गिरधर जी और यदुनाथ जी के वंशज हैं। अवशिष्ट पुत्रों का वंश चला नहीं।'[३]

पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय का वैभव दिन प्रति दिन बढ़ता ही जाता था। श्रीनाथ जी की प्राकट्यवार्ता में अनेक स्थलों पर सहस्रों मुद्राओं और अनेक ग्रामों के भेंट का उल्लेख है। 'काँकरौली का इतिहास' में तृतीय पीठ को प्राप्त होने वाले अनेक ग्रामों का वर्णन है। हर मंदिर में इतनी सम्पत्ति एकत्रित हुई कि तिलकायतों (पीठाधीशों) को महाराजश्री पुकारना आरम्भ हो गया। औरंगजेब ने जब मंदिरों को तोड़ने का उपक्रम किया वल्लभ सम्प्रदाय के सेव्य स्वरूप हिन्दू राज्यों में फैल गए। श्रीनाथ जी १७२८ वि० में और तृतीय गृह के सेव्य श्रीद्वारिकानाथ १७२६ वि० में राजपूताना पहुँच कर मंदिर में स्थापित हुए थे।

भविष्य में सप्तगृहों के वंशजों में बहुधा कलह होती रही है। उसका प्रारम्भ सेवा के अधिकार अथवा भूमि के कारण होता है।[४] इनमें से सबसे बड़ी घटना छठे घर से सम्बन्ध

---

१. देखिए काँकरौली का इतिहास, पृ० १११ तथा 'अष्टछाप परिचय' पृ० २०-२१ और वल्लभाचार्य, पृ० २८३

२. अष्टछाप परिचय के अनुसार वह समय १६४५ वि० के लगभग है, पृ० ४४

३. अष्टछाप परिचय, पृ० २०७

४. श्रीनाथ जी के प्राकट्य वार्ता में एक घटना का वर्णन मिलता है जिसमें बादशाह ने भाइयों के झगड़ों को निपटाया था। उसमें फैसला हुआ कि साठ उत्सवों के मुख्य श्रृंगार तो विट्ठलराय करें और बाकी तीन गुसाईं जी के बालक करें। (पृ० ४४-४५)

रखती है। गो० विट्ठलनाथ के छठे पुत्र यदुनाथ को बालकृष्ण का छोटा स्वरूप स्वीकार न हुआ था। इसलिए वह थोड़े दिनों के लिए तृतीय स्वरूप के साथ पधरा दिया गया था। कालांतर में वंश न चलने और गोद लेने की गड़बड़ी में छठे स्वरूप के कई अधिकारी निकल आए। यहाँ तक कि लूटपाट भी हुई। आज भी यह निश्चय नहीं है कि उसके वास्तविक अधिकारी कौन हैं।[१]

सातों घरों की सेवा विधि लगभग समान है। यत्किंचित अंतर प्रत्येक स्थान पर है जिसके कई कारण है। 'जो जहाँ स्वरूप विराजे हैं तिनकी लीला के भावना सो सेवा होय है, कही नंदालय की लीला है कहीं निकुंज की है। काहू प्रमाण प्रकर्ण की प्रकट और गुप्त है कहीं प्रमेय प्रकर्ण प्रकट और गुप्त है।' गोस्वामी बालकों ने 'मनोर्थ करके सब घरन में कितेक रीत अधिक बढाई और कोई कारण करके कितनी प्राचीन रीत गुप्त होति गई है।'[२]

गोकुलनाथ

साम्प्रदायिक अथवा हिन्दी साहित्य के दृष्टिकोण से गो० विट्ठलनाथ के अनन्तर केवल दो गोस्वामियों का महत्व अधिक है—गोकुलनाथ और हरिराय। विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र गो० गोकुलनाथ थे। दीर्घ जीवन पाने के कारण वे बहुत दिनों तक सम्प्रदाय के आचार्य और व्यवस्थापक बने रहे। वे बड़े विद्वान थे। व्याख्यानों एवं प्रवचनों के द्वारा वे भगवत् चर्चा कर साम्प्रदायिक रहस्यों को खोलते और पिता तथा पितामह के प्रमुख शिष्य की जीवनचर्या की चर्चा किया करते थे। प्रसिद्ध है कि गो० गोकुलनाथ अथवा गोकुलेश्वर के मौखिक व्याख्यानों का संकलन ही ८४ और २५२ वैष्णवों की वार्ता के नाम से प्रचलित हुए। कुछ लोग उसके रचयिता के प्रति संदेह प्रकट करते हैं। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने सिद्ध किया है कि दोनों वार्ताएँ श्री गोकुलनाथ द्वारा कथित हैं, इसीलिए वे उसके कर्ता कहे गये हैं, परन्तु वे उनके शिष्य द्वारा लिखित और श्री हरिराम द्वारा सम्पादित है।[३] अत: असंगतियों का परिमार्जन हो जाता है। गो० गोकुलनाथ के बाद वार्ताओं के कहने, सुनने और लिखने की एक परिपाटी चल निकली।

सम्प्रदाय के प्रचार के लिए व्रजभाषा का बाहुल्येन प्रयोग उन्हीं ने सबसे पहले किया। वचनामृतों मे हास्य का बहुत सुन्दर पुट उन्होंने दिया है, जो अभूतपूर्व है। उन्होंने श्रीनाथ जी

---

१. **सूरत, बड़ौदा और काशी के क्रमशः बालकृष्ण जी, मुकुन्द राय जी और कल्याणराय जी के अधीश्वर महाराज उस घर पर अपना अधिकार दिखाते हैं। (वल्लभाचार्य और उनके सिद्धांत, पृ० २७७-२७८) काँकरौली का इतिहास, पृ० १४४ के अनुसार 'ठाकुर जी के हिसाब से सूरत, बड़े पुत्र के हिसाब से कल्याणराय जी वाले और बाद में प्रदत्त सम्मान के अनुसार काशी वाले तिलकायित कहे जाते हैं जो एक विषम पहेली है।'**

२. **श्री वल्लभ विलास, भाग ३, पृ० ६ तथा १२। चौकी के क्रम, शृंगार के आभूषण, वस्त्र, भोग के क्रम और उत्सवों की प्रणाली आदि में भेद मिलता है।**

३. **अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० १३४-१४०**

की सेवा प्रकार और आभूषणों का विभिन्न अवसरों के अनुकूल प्रयोग आदि का सम्यक् विस्तार किया था। पुष्टिमार्ग के पर्व, उत्सव, स्वरूप आदि के अंतर्गत भावना को अभिव्यक्त करने में वे अग्रणी थे। वल्लभाचार्य और उनके वंशजों को ईश्वरावतार समझने की भावना भी सम्भवत: उन्हीं के समय से प्रारम्भ हुई थी। उनकी गद्दी का शिष्य समुदाय भड़ूची वैष्णव के नाम से प्रसिद्ध है। वे ठाकुर की स्वरूप सेवा के स्थान पर गोकुलनाथ जी की गद्दी को ही सर्वस्व मानता है। उनके ब्रह्मसंबंध की शब्दावली और तिलक में भी थोड़ा भेद है।[१]

हरिराय और उनके बाद

गुसाईं विट्ठलनाथ के द्वितीय पुत्र गोविन्दराय जी के पौत्र तथा कल्याणराय जी के पुत्र हरिराय जी का समय १६४७ वि० से १७७२ वि० तक माना जाता है। वे गो० गोकुलनाथ के शिष्य और उनके सिद्धांतों के रहस्योद्घाटक थे। वे विद्वान थे और संस्कृत, गुजराती तथा व्रजभाषा पर समान अधिकार रखते थे। उन्होंने ८४ और २५२ वार्ताओं का सम्पादन किया है और उनपर भाव-प्रकाश नामक टीका लिखी है। भाषा ग्रंथों पर टीका लिखने की यह एक नई परिपाटी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रंथों का निर्माण किया और अन्य ग्रंथों पर विवरण तथा टीकाएँ लिखी हैं। उन्होंने अनेक उपनामों से रचना की थीं, यथा रसिक, रसिकराय, हरिराय, हरिधन, हरिदास आदि।

गो० हरिराय के पश्चात् वल्लभ वंश में किसी ने भी विद्वत्ता के कारण महत्व नहीं पाया। तृतीय गृह के एकमात्र प्राप्त इतिहास से इसकी पुष्टि होती है। कूटनीतिज्ञता तथा राजसी व्यवहार उनमें चाहे जितना रहा हो, किन्तु नव-नव उन्मेषशालिता प्रतिभा का इनमें सर्वथा अभाव रहा है। १८६१ ई० में बम्बई हाई कोर्ट के सम्मुख इस सम्प्रदाय का जो मुकदमा आया था, उससे स्पष्ट हो गया था कि लगभग सम्पूर्ण महाराज वर्ग स्वसाम्प्रदायिक सिद्धान्तों से भी अनभिज्ञ था।

धीरे-धीरे सम्प्रदाय की बड़ी अवनति हो गई थी। यहाँ तक कि श्री करसनदास मूलराज को सत्यप्रकाश पत्रिका द्वारा महाराजों के चरित्र सुधार का अनुरोध करना पड़ा था। उन्होंने उनके ऊपर दो आक्षेप किए थे। पहला यह कि महाराजों की चरित्र हीनता सम्प्रदाय के सिद्धान्त का आवश्यक अंग है और दूसरा यह कि पुष्टिमार्गीय वैष्णवों की चरित्रच्युति भी उन्हीं सिद्धान्तों के कारण है। इस पर सूरत के जदुनाथ महाराज ने मूलराज जी पर १८६१ ई० में मानहानि का मुकदमा चलाया जो 'महाराज लाइबल केस' के नाम से विख्यात है। इस मुकदमे का कोई विशेष फल न हुआ और दोनों पक्षों को दंडित होना पड़ा था। उसके आधार पर पाश्चात्य जगत् और अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय पुष्टिमार्ग को चारित्रिक दौर्बल्य और इन्द्रिय सुख को प्रोत्साहन देने वाला अखाड़ा समझने लगे। पुष्टि शब्द का अर्थ शरीर का पोषण समझा जाने लगा।

---

१. **अष्टछाप परिचय, पृ० ४३-४४**

पतन के कारण

सम्प्रदाय के पतन का पहला कारण वंशजों की ही एकमात्र गुरुवंश परम्परा का होना है। वल्लभाचार्य स्वयं इस प्रणाली के पक्ष में न थे।[१] गो० विट्ठलनाथ ने स्वपुत्रों की सप्तस्वरूपों की सेवा का अधिकारी बनाकर इस प्रथा की नींव पक्की कर दी।[२] यह एक नवीन पद्धति थी। अन्य सम्प्रदायों में शिष्य वर्ग भी दीक्षा दे सकते थे, किन्तु यहाँ नहीं। पतन का दूसरा कारण प्रत्येक वंशज को साक्षात् कृष्ण समझना है। सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापकों को अवतार समझने की प्रथा तो बहुत पुरानी है, किन्तु उनके सभी वंशज अवतार न होते थे। विट्ठलनाथ के बाद इने-गिने ही ऐसे व्यक्ति हुए जो अपनी विद्वत्ता और भक्ति के द्वारा जन समाज पर अधिकार जमा सकते। अज्ञानी गुरुओं के समय में यह भावना फैल गई कि समस्त ऐहिक वस्तुएँ जो आराध्य को समर्पित की जाती हैं, वे वस्तुतः गुरुओं के उपभोग में आ सकती हैं। इस भावना के कारण निम्नतम चारित्रिक दौर्बल्य का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है।

पतन का तीसरा प्रमुख कारण वित्तजा सेवा का अधिकार है। सम्प्रदाय में यद्यपि उसे निम्नतम स्थान दिया गया है, तथापि उसके कारण सम्प्रदाय में अपरिमित सम्पत्ति आ गई है। वैभवजन्य दोष का उस सम्पत्ति के अधिकारी गुसाई में आ जाना आश्चर्यजनक नहीं है। प्रतिफल यह हुआ कि टीकैत केवल नाम मात्र के 'महाराज' न रह सके वे तदनुरूप जीवन भी बिताने लगे।

महाराज लाइबल केस से एक बड़ा हित पुष्टि सम्प्रदाय का हुआ। दुःख्याति के मार्जन के लिए अनेक व्यक्ति कटिबद्ध हुए। कई संस्थाएँ बनीं और उनके द्वारा साम्प्रदायिक ग्रंथों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। संस्कृत, हिन्दी और गुजराती साहित्य का एक अच्छा पुस्तकालय तैयार हो गया। आधुनिक काल में चैतन्य को छोड़कर अन्य किसी सम्प्रदाय का इतना अधिक विवेचन नहीं हुआ है।

राधावल्लभी सम्प्रदाय

हरिवंश-जन्मकाल

राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश हैं। हिमकर मिश्र के पुत्र केशव दास

---

१. श्रीनाथ जी के बंगाली पुजारी, शूद्र अधिकारी और पुत्रों के प्रति कहे गए अंतिमकाल के 'शिक्षा श्लोक' इस बात के साक्षी हैं।

२. श्री परेख जी ने श्री वल्लभाचार्य (पृ० ३६६) पर लिखा है कि वंशानुगत गुरु परम्परा चैतन्य सम्प्रदाय से गो० विट्ठलनाथ ने ग्रहण की थी। यह ठीक है कि गौडीय सम्प्रदाय के कई शिष्यों के वंश में गुरु परम्परा चली, किन्तु यह बाद की बात है। चैतन्य की मृत्यु १५९० वि० में और वल्लभ की १५८७ वि० में हुई थी। गोपीनाथ जी से विट्ठलनाथ ने १६०० वि० तक सम्प्रदाय की बागडोर संभाल ली थी। उस समय तक कदाचित् ही किसी गौडीय गोस्वामी का वंश चलता रहा होगा। षडगोस्वामियों के वंश चलने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था।

व्यास अथवा व्यास मिश्र थे और उनके पुत्र थे हरिवंश।[१] इनके जन्म के समय के विषय में विद्वानों और साम्प्रदायिक जनों में बड़ा मतभेद है। श्री ग्राउस तथा श्री रामचन्द्र शुक्ल प्रभृत विद्वान उनका जन्मकाल १५५९ वि० मानते हैं।[२] सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि वैशाख शुक्ल, ११, १५३० वि० में उनका प्राकट्य हुआ था।

सम्प्रदाय के इतिहास की एकमात्र प्रकाशित पुस्तक 'राधावल्लभ भक्त माल' में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख है। उसके अनुसार हरिवंश जी के पितामह हिमकर मिश्र ने तोमर राजा कीर्तिचन्द्र के साथ मिलकर बाबर को सहायता दी थी और इब्राहिम लोदी को हराया था। कीर्तिचन्द्र के नाती तथा हुमायूँ के कृपापात्र विजय बहादुर ने व्यास मिश्र को पंचहजारी मनसबदार का पद दिया था। उनकी अधिक अवस्था हो जाने पर भी जब अनेक उपायों द्वारा पुत्र की प्राप्ति न हुई तब संन्यासी नरसिंहाश्रम के वरदान से हरिवंश जी का जन्म हुआ था।[३] यदि इन सभी घटनाओं पर विश्वास किया जाए तो हरिवंश जी का जन्म १५८८ वि० के पूर्व नहीं हो सकता, क्योंकि हुमायूँ १५८७ वि० में गद्दी पर बैठा था। परन्तु अन्य प्रमाणों के आधार पर इनके जन्म का समय इसके बहुत पूर्व होना चाहिए। संभवत: साम्प्रदायिक महत्व को बढ़ाने के लिए बाबर, हुमायूँ आदि की घटनाएँ कल्पित की गई होंगी।

श्री राधावल्लभ के वर्तमान मंदिर का निर्माण एक प्रस्तर लेख के अनुसार १६८३ वि० में हुआ था, किन्तु श्री ग्राउस ने प्रोफेसर विल्सन की १६४१ वाली सूचना का भी उल्लेख किया है।[४] अकबर के एक खजांची सुन्दरदास ने ही इसे निर्विवाद रूप से बनवाया था। उसके निर्माण में तीन वर्ष लगे थे और उसके पूर्व की कई घटनाओं की चर्चा 'राधावल्लभ भक्त माल' में है।[५] सुन्दरदास हित हरिवंश जी के तृतीय पुत्र गोपीनाथ के शिष्य थे। घटनाओं पर विचार

---

१. देववन में ही रहत हिंकर और गजाधर।
भए हिंमकर के श्री केशोदा व्यासवर।
× × ×
व्यास मिश्र उदोत सुत श्री हरिवंश सुनाम।
दम्पत्ति हित अवतार है व्यास मिश्र के धाम

—अनन्यसार द्वितीय विलास, पत्र ६

२. मथुरा मेमायर, पृ० १८७, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८० तथा मिश्रबन्धु विनोद, पृ० २७२

३. राधावल्लभ भक्तमाल, पृ० १८-१९ तथा 'श्रीमद्धितहरिवंश जी की जीवन लीला' में हुमायूँ द्वारा व्यास मिश्र के सम्मान का उल्लेख (पृ० ५) है। अनन्यसार में लिखा है कि 'पातसाह' ने व्यास मिश्र की प्रशंसा को सुनकर उन्हें बुलाया और चार हजारी मनसबदार का पद दिया। हरिवंश जी के जन्म के समय वे 'पातसाह' के साथ व्रज में आए थे और बाद गाँव में ठहरे हुए थे, पत्र ७-१०

४. मथुरा नोट्स ज०ए०सो० बंगाल, खंड ४७, १८७८ ई०, पृ० १०१

५. पृ० ८२ तथा ३१२-३१५, इसकी पुष्टि अनन्यसार में भी है, पत्र १३१

करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्येष्ठ पुत्र वनचन्द्र जी मंदिर की समाप्ति से कम से कम ६-७ वर्ष पूर्व ही गद्दी पर बैठे होंगे। अतः हित हरिवंशजी का निकुंज धाम गमन १६३५ वि० के पूर्व होना चाहिए।

हित हरिवंश की जीवनी के सम्बन्ध में राधावल्लभी सम्प्रदाय के अनन्यसार, रसिक अनन्य माल, हित मालिका तथा गो० कृष्णचन्द्र द्वारा लिखित दो श्लोक प्रमाण कोटि में माने जाते हैं। प्रथम पुस्तक में केवल तिथि का उल्लेख है, संवत का नहीं।[१] रसिक अनन्यमाल में भगवत मुदित ने सम्प्रदाय के नाद (शिष्य) परिकर का वर्णन किया है। बाद में उत्तमदास जी ने 'हरिवंश चरित्र' लिखकर उसके प्रारम्भ में जोड़ दिया है। हित जी के जन्म समय के विषय में उसमें लिखा है—

पन्द्रह से उनसठि संवतसर।
बैसाखी सुदि ग्यास सोमवार।
तहाँ प्रगटे हरिवंश हित रसिक मुकुट मनिलाल।
कर्म ज्ञान खंडन करन प्रेम भक्ति प्रतिपाल।[२]

राधावल्लभ का पाटोत्सव १५९२ वि० में हुआ था।[३] आधुनिक काल में कतिपय साम्प्रदायिक जनों ने उसमें सुधार करना चाहा है और उन्होंने 'पन्द्रह सौ त्रिशत संवत्सर, माधव शुक्ल सोमवार' कर दिया है।[४] परन्तु प्राचीन प्रतियों में प्रथम संवत् का ही निर्देश है।

गो० कृष्णचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध श्लोक तथा हितमालिका में १५३० वि० जन्म समय दिया हुआ है।[५] दोनों प्रमाणों के प्रति संदेह उत्पन्न होने के कई कारण हैं। गो० कृष्णचन्द्र के

---

१. जन्म भयो बैशाख सुदि ग्यारस तिथि उद्योत।
प्रगटे दम्पति हित प्रभु व्यास धाम सुष होत।

२. रसिक अनन्यमाल, पत्र ४, ५८-५९

३. कातिक सुदि तेरस सुख छायो।
पन्द्रह से बानव जु सुहायो। ३६—वही पत्र ८
'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में इस पंक्ति का पाठ भेद इस प्रकार दिया है :
पन्द्रह से इक्यानबे सुहायो, कातिक सुदि तेरस सुख छायो—पृ० ६४

४. श्रीमद्धित हरिवंश जी की जीवनलीला, गो० गोपाल वल्लभ जी, वृन्दावन, पृ० १०

५. वियद्गणेषु शुभ्रांशु संख्ये संवत्सरे शुभे।
माधवे मासि शुक्लेकादश्यां च सोमवासरे॥
गोस्वामि श्री हरिवंशाख्यः श्री मन्माथुरमंडले।
वादग्रामे शुभस्थाने प्रादुर्भूतो महान्गुरुः॥ —पृ० ९
तथा
माधवे मास शुक्लैकादश्यां सोमेरुणोदये
एकोनषाड्शशतको परित्रिशच वेक्रमे।
श्री हरिवंशको नूनं प्रादुर्भूतो महान् प्रभु।
—हितमालिका, प्रकरण १, श्लोक ९, पृ० २०

नाम से प्रसिद्ध श्लोक उनकी किस कृति में है, इसका पता नहीं चलता।[१] हितमालिका हित हरिवंश के पौत्र, गो० कृष्णचन्द्र के पुत्र गो० वृन्दावन दास के द्वारा लिखी हुई कही जाती है। उसमें व्याकरण तथा छंदोभंग के दोषों का बाहुल्य है। यद्यपि वह लगभग ३५० वर्ष पूर्व लिखी गई है तथापि उसकी शैली तत्कालीन संस्कृत की शैली से मेल नहीं खाती। वह अधिक से अधिक १००-१२५ वर्ष की कृति प्रतीत होती है। उसमें वर्णित घटनाएँ भी अतिरंजित हैं। उसमें वल्लभाचार्य जी संन्यासी के वेश में हित जी से मिलते और उनके शिष्य बनते हैं। चैतन्य, नित्यानन्द, स्वामी हरिदास, गोपाल भट्ट, सनातन आदि सभी समकालीन महात्मा भी उसमें शिष्य बने हैं। ऐसी स्थिति में उनके प्रति अनास्था का होना स्वाभाविक है।

सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि मतभेद १५३० वि० अथवा १५५९ वि० जन्म काल मानने के लिए है। तिथि और दिन के सम्बन्ध में सब एक मत है कि वह वैशाख शुक्ल एकादशी का सोमवार है। सिद्धान्त शिरोमणि तथा सूर्य सिद्धान्त दोनों के आधार पर गणना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि १५५९ को ही वह तिथि और दिन था। १५३० वि० में एकादशी के दिन मंगलवार था सोमवार नहीं।[२] श्री पिल्लई की कृति इंडियन क्रानालोजी के अनुसार भी वैशाख शुक्ल एकादशी को सोमवार १५५९ वि० में ही निश्चित होता है। अतः यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि १५५९ वि० ही जन्म काल मानना उचित है।

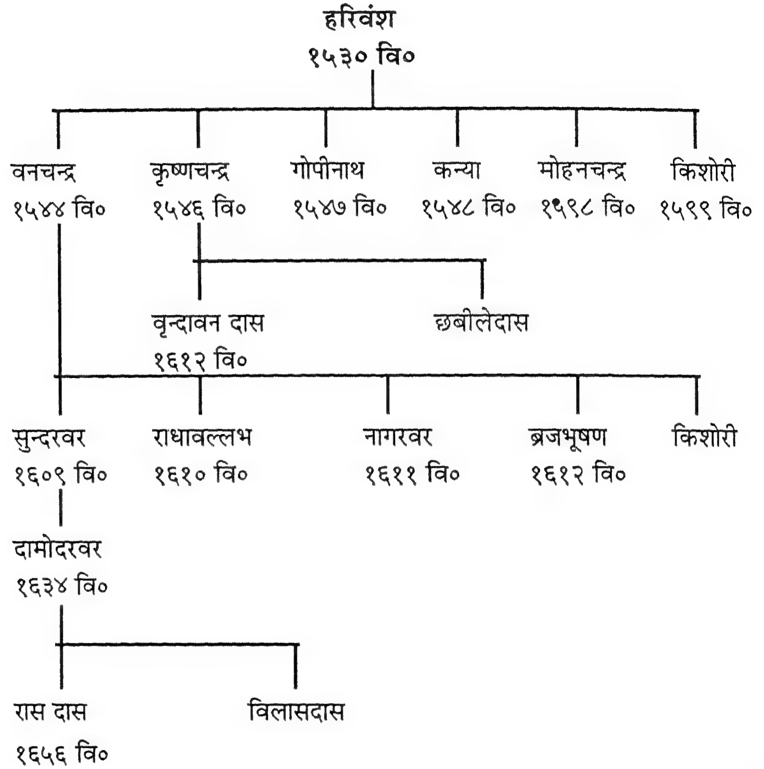
इस समय को स्वीकार कर लेने के उपरांत अन्य बातों की भी संगति बैठ जाती है। महाराज मधुकर शाह के राजगुरु हरिराम व्यास १६२२ वि० में हित हरिवंश के शिष्य बने थे।[३] साथ ही 'राधावल्लभ भक्तमाल' में दी हुई वंशावली की तिथियों के प्रति उत्पन्न होने वाले संदेह की भी निवृत्ति हो जाती है। सम्प्रदाय का आरम्भिक वंशवृक्ष यह है :

---

१. प्रस्तुत लेखक ने गो० कृष्णाचन्द्र के ये ग्रन्थ देखे हैं :
कर्णानन्द, अशाशतस्तव, उपसुधनिधि, यमुनाष्टक तथा अष्टपदी

२. षडर्धभोगिरुद्रवातान्तकेन्द्राधिपवरुणानि।
शेषाण्यतः पंचदशेक भोगान्युक्तो भभोगः शशिमध्यभुक्तिः॥
सर्वक्षभोगोनितचक्रलिप्ता वैश्वाग्रतः स्यादभिजिद्भभोगः
कलीकृतारिष्ट खगाद्विशोध्य दानादिभोगान् गतमानि विद्यात्॥
विशुद्ध संख्यानि गतं तुं शेषमशुद्धभोगात् पतितं तदेष्यम्।
गतागतेषष्टि गुणे विभक्ते ग्रहस्य भुक्त्या घटिका गतेष्याः॥
—सिद्धान्त शिरोमणि, त्रिप्रश्नाधिकार, श्लोक ७३-७५ तथा सूर्य सिद्धान्त स्पष्टाधिकार : श्लोक ६६

३. महाराज मधुकर शाह का राज्यकाल १६११-४९ वि० तक है। बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १२६-१२७



यह अनुमान करना अयुक्त न होगा कि गो० सुन्दरवर तथा उनके वंशजों की तिथियाँ अशुद्ध नहीं होंगी, क्योंकि उस समय तक सम्प्रदाय की यथेष्ट प्रतिष्ठा हो चुकी थी और तिथियों आदि का विवरण रक्खा जाने लगा था। राधावल्लभ भक्तमाल में वनचन्द्र जी के पुत्रों का जन्म क्रमशः ६५, ६६, ६७ तथा ६८ वर्ष की अवस्था में होना लिखा है। इस अवस्था में लगातार चार वर्ष संतान होना संदेह उत्पन्न करता है। हरिवंश जी का जन्म १५५९ वि० मान लेने पर उनके ५० वर्ष तथा उसके बाद पौत्रों का जन्म उचित प्रतीत होता है।

प्रथम स्त्री से हरिवंश जी के तीन पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ था। वृन्दावन में निवास के लिए जब वे घर का त्याग कर चले, तो उन्हें मार्ग में चरथावल के एक ब्राह्मण की दो पुत्रियों को एवं 'राधावल्लभ' की मूर्ति को ग्रहण करना पड़ा।[१] यही मूर्ति सम्प्रदाय की प्रधान उपास्य मूर्ति है। इन कन्याओं से एक पुत्र तथा एक पुत्री का जन्म हुआ। सम्प्रदाय की स्थापना इसके पूर्व ही हो चुकी थी। जब उसकी प्रसिद्धि चतुर्दिक होने लगी तो हरिवंश जी के बड़े पुत्र भी उसके साथ आकर रहने लगे।

---

१. उन ब्राह्मण कन्याओं में से एक का नाम हरिदासी और दूसरी का नाम मनोहरदासी था।
—राधावल्लभ भक्तमाल, पृ० ५१

सम्प्रदाय के सभी इतिहास में हित हरिवंश का निकुंज गमन १६०९ वि० में लिखा है। श्री वनचन्द्र गोस्वामी उसी वर्ष उनकी गद्दी पर बैठे थे। श्री वनचन्द्र जी के बाद सेवाधिकारी या अधिकारी की परम्परा मिलती है।[१] गोस्वामी वनचन्द्र जी का अधिकार १६०९ वि० से १६६४ वि० तक था।

सम्प्रदाय

वृन्दावन में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि हित हरिवंश पहले मध्वगौडीय सम्प्रदाय के अधिष्ठाता गोपाल भट्ट स्वामी के शिष्य थे। एकादशी के सम्बन्ध में मतभेद होने पर वे सम्प्रदाय के बाहर चले गये। इस कथा का जो पूर्णरूप है वह विश्वसनीय नहीं है। दूसरी ओर राधावल्लभी सम्प्रदाय के लोग प्रबोधानन्द को हितजी का शिष्य और गोपाल भट्ट को स्वसम्प्रदायी बतलाते हैं।[२] प्रबोधानन्द पहले अद्वैती प्रकाशानन्द सरस्वती के नाम से काशी में प्रसिद्ध थे। चैतन्य से प्रभावित होकर वे वैष्णव बन गए थे। जब वे वृन्दावन आए उन्होंने हित हरिवंश में महान् भक्तात्मा के दर्शन किया और उन्हें गुरु तुल्य मानने लगे। उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि चैतन्य और हित हरिवंश दोनों ही उनके गुरु थे।[३] चूँकि चैतन्य की प्रेरणा से वे वृन्दावन गए थे, इस विचार से गोपाल भट्ट ने उनसे दीक्षा ली होगी, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हितजी की शिष्य परम्परा में थे। सम्भवतः इस प्रकार के परस्पर आक्षेप का कारण साम्प्रदायिक विद्वेष है। उनसे कोई सन्देहरहित निर्णय करना संभव नहीं है।

सम्प्रदाय के प्रचार के लिये अथवा स्वमत स्थापना के लिये हित हरिवंश ने कभी किसी प्रदेश की यात्रा नहीं की। गृह त्याग के अनन्तर वे वृन्दावन के आस-पास ही अंत समय तक रहते रहे। उन्होंने कोई उल्लेखनीय शास्त्रार्थ भी किया हो इसका विवरण नहीं मिलता। स्वतंत्र दर्शन का निर्माण अथवा भाष्य लिखने का उनका कोई उद्देश्य न था। उन्होंने प्रायः स्तोत्रों अथवा पदों की ही रचना की है। राधावल्लभ सुधानिधि, यमुनाष्टक तथा हितचौरासी उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। प्रथम दोनों संस्कृत में तथा अंतिम व्रज भाषा में लिखी हुई पुस्तकें हैं।[४]

---

१. १६६० वि० में हितकुल शाखा में महात्मा जयकृष्ण ने लिखा है—
संवत सोलह सै नव सुदी कातिक सुदि तेरस दृढ़ गही।
आसन पर बैठे गुरुराज श्री वनचन्द्र सुहृद सिरताज॥

२. अनन्यसार, रसिक अनन्यमाल और हितमालिका में प्रबोधानन्द के शिष्य होने का प्रसंग मिलता है।

३. भिदाभावाच्छिष्यो भयंरहितमार्गे ह्ययमभूत्
ततो जाता भक्तिर्हृदि हि हरि चैतन्य कृपया।
हरेः कल्यालोकः क्वचिदपि न जातोवत ततः,
प्रबोधोभूच्छिष्यः सुहित हरिवंशाभिधप्रभोः॥ —वृन्दावन शतक, श्लोक १

४. इनके अतिरिक्त तीन ग्रंथ संस्कृत में चतुःश्लोकी एवं राधातन्त्र तथा व्रजभाषा में फुटकर वाणी का उल्लेख और मिलता है।
—कल्याण, वर्ष १२, अंक १, पृ० ५२४

तीनों बडी ही रसपूर्ण एवं हृदयग्राही कृतियाँ है।

एक नवीन प्रथा, जो इस सम्प्रदाय में हित हरिवंश ने प्रारंभ की, है राधा की उपासना। अभी तक राधा की आराधना कृष्ण की प्रिया के रूप मे होती थी। अब कृष्ण का महत्व राधिका के वल्लभ होने के कारण ही रह गया। राधा ही भक्तो की अवलम्ब बन गई, जिनके बिना उनकी गति संभव नहीं है।[१] राधा परम स्वकीया है, परकीया नहीं। कृष्ण भी अन्य स्त्री का ध्यान नहीं करते। वृन्दावन नाथ की पट्टमहिषी, उनकी शक्ति होते हुए भी स्वतंत्र, शृंगार लीला कला वैचित्री एव प्रेम परिपूर्ण हृदय वाली राधा ही परम सेव्या है।[२] नव किशोर और नव किशोरी नित्य निकुंज विहार में ही निमग्न रहते हैं। भक्त राधा की सखी का भाव धारण कर के ही उनकी सेवा का अधिकार पाते हैं।[३] सभी अपनी अपनी रुचि के अनुकूल उनको प्रसन्न करते हैं। युगल स्वरूप के नाना केलि कला कौतुक को देखकर वे आनन्दित होते हैं, किन्तु उनके मन में कभी किसी विकार का प्रवेश नहीं होता। यही कारण है कि भक्त उन्मुक्त शृंगार का भजन करते हुए भी चरित्रवान ही रहते हैं। उनके लिये शृंगारिकता केवल प्रतीकात्मक ही रह जाती है। एक ही स्थान पर केन्द्रित रह सकने वाला मन अलौकिक रस के साथ-साथ लौकिक रस का अस्वादन नहीं कर पाता।

आजकल हित शब्द वंशानुगत उपाधि का रूप धारण कर चुका है। स्वयं हरिवंश जी के नाम के साथ उसका प्रयोग सार्थक समझ कर किया जाता था। जगत का हित कृष्ण (ब्रह्म) से है, और वह राधा के हृदय में नित्य स्थित है।[४] वहाँ से विस्तीर्ण होकर प्रियवादिनी वंशी ने सखी का स्वरूप धारण किया। कलिकाल मे वही वंशी सखी व्यास मिश्र के पुत्र हरिवंश के नाम से प्रकट हुई।[५] अतः संसार के हित की कामना से राधा-वल्लभ की उपासना का प्रचार करने वाले हरिवंश, हित शब्द से अभिषिक्त किये गये हैं। कतिपय साम्प्रदायिक जन् हित

---

१. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरतये राधाद्वच्छटा।
बैकुंठे नरकेऽथवा मम गतिर्नान्यस्तु राधा बिना॥

—राधासुधानिधि, श्लोक १६४

२. राधासुधानिधि, श्लोक ७८

३. तिय के तन को भाव धरि, सेवा हित शृंगार।
युगल महल को टहल का, तब पावै अधिकार॥

—व्यालीस लीला, भजनसत लीला, पृ० ७५

४. शतपथ ब्राह्मण में एक श्रुति मिलती है :
'हितं तै ब्रह्म'

५. हितं श्रीकृष्ण विषयं तद्राधोरसि च स्थितिं
विपुलीभूय सम्भिन्नं सख्यभूत प्रियवादिनी।
व्यास मिश्रस्य भार्यायां तायांच वरानने,
हरिवंशभिद्यो भद्रे कलौ प्रादुर्भविष्यति॥

—ईशावास्योपनिषद् भाष्य भूमिका, प्रियादास, श्लोक १

शब्द का अर्थ 'प्रेम' करते हैं और कहते हैं कि प्रिया प्रियतम दोनों एक दूसरे के हृदय में स्थित हैं। अत्यन्त प्रेमावस्था में वे अपनत्व भूल कर हितमय अर्थात् प्रेममय बन गए। तब प्रभु ने दोनों के प्रेम का संयोग कर तीसरा रूप प्रकट किया, वही हित हरिवंश है।[१]

हित हरिवंश के शिष्यों में कई अच्छे कवि और अनेक राजे अथवा ओहदेदार थे। ओड़छा के राजगुरु व्यास जी तथा सेवक जी की रचनाएँ बड़ी आदर और प्रशंसा की दृष्टि से देखी जाती हैं। सेवक वाणी का महत्व हित चौरासी से कम नहीं समझा जाता। मनसबदार परमानन्द दास चौहान, सूर्यगढ़ के दीवान खगरसेन, चित्तौड़गढ़ के ठाकुर जयमल, जसवंत सिंह राठौर तथा जूनागढ़ के प्रधान विट्ठलदास भी उनके शिष्य थे। जयमल ने तो अपने राज्य के अधिकांश लोगों को अनन्य धर्म का उपासक बना दिया था।[२]

हित जी के पश्चात्

जीवन के अंतिम काल में हित हरिवंश ने अपने पुत्रों को राधा-वल्लभ की सेवा का अधिकार सौंप दिया था। स्वयं वे मानसरोवर पर रहते थे। उन्होंने गद्दी का अधिकार अपने ज्येष्ठ पुत्र वनचन्द्र को दिया था। द्वितीय पुत्र कृष्णचन्द्र पंडित थे। उन्होंने काशी आदि स्थानों पर जाकर शास्त्रार्थ भी किया था। उनकी लिखी हुई संस्कृत की पुस्तकों में विद्वत्ता एवं काव्य प्रतिभा का विकास मिलता है। कर्णानन्द, उपसुधानिधि, आशाशतस्तव और अष्टपदी उनकी संस्कृत की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र वृन्दावन दास भी विद्वान हुए हैं। उन्होंने सेवा-विवेक, सेवा-पद्धति (अष्टयाम), सिद्धान्त कल्पतरु आदि ग्रंथ बनाए हैं। हितमालिका उनकी संदिग्ध पुस्तक है। हित जी के तृतीय पुत्र गोपीनाथ 'रहस' के अधिकारी समझे जाते थे। वे देववन में ही रहकर 'रंगीलाल' की मूर्ति की सेवा करते थे। इनके लिखे हुए कोई ग्रन्थ नहीं मिलते। मोहनचन्द्र ने केवल राधाष्टक की रचना की है।

गद्दी पर बैठने के अनन्तर गो० वनचन्द्र ने वनमाली की उपाधि धारण कर ली थी। उन्होंने अनेक प्रदेशों की यात्राएँ भी की थीं, परन्तु दक्षिण की यात्रा की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। इनके द्वारा लिखित व्रजभाषा के केवल फुटकर पद ही मिलते हैं। जिस प्रकार पुष्टिमार्गीय गो० विट्ठलनाथ ने सात स्वरूपों को अपने सात पुत्रों में वितरित कर दिया था, वैसे ही उन्होंने राधावल्लभ की सेवा का अधिकार अपने चार पुत्रों में बाँट दिया था। गो० सुन्दरवर को सांध्य आरती, गो० राधावल्लभ दास को श्रृंगार आरती, गो० नागरवर को राजभोग आरती और गो० व्रजभूषण दास को मंगला आरती का अधिकार मिला था। आजकल भी इन्हीं चारों के वंशज उन्हीं सेवा आरतियों के अधिकारी हैं।

गो० वनचन्द्र के शिष्यों ने भी सम्प्रदाय के प्रचार तथा विस्तार में बड़ा योग दिया था। गाढ़ा ग्राम के निवासी चतुर्भुजदास उपनाम मुरलीधर ने अनेक स्थानों का भ्रमण कर

---

१. कृष्ण कल्पतरु का सेवन, हित रणछोड लाल जी, कल्याण, वर्ष १५, अंक ३, पृ० २९३

२. राधावल्लभ भक्तमाल, पृ० २४६

राधावल्लभ का यश गाया था। इनके साथ साधुओं की एक जमात चलती थी। कई छोटे-मोटे राजा इनके शिष्य थे। इन्होंने 'द्वादश यश' की रचना की है।[१] झूँढा स्वामी ने नागा वैष्णव की गद्दी स्थापित की है। उनका अखाड़ा राधावल्लभी निर्मोही के नाम से विख्यात है। सूरजध्वज ने देशदेशान्तरों में राधावल्लभी सम्प्रदाय की ध्वजा आरोपण की थी। इनके अतिरिक्त उनके छोटे भाइयों के शिष्यों में अनेक उच्च वर्ग के लोग थे।[२]

हित हरिवंश के वंशज शनैः-शनैः अनेक स्थानों पर फैल कर बसने लगे। पश्चिम में अहमदाबाद , सूरत, जयपुर, बड़ौदा, भोपाल आदि स्थानों पर, दक्षिण में बुरहानपुर ओड़छा, अलवर तथा पूर्व में मिर्जापुर और पटना तक इनके मंदिर फैले हुए हैं। गोस्वामी वर्ग अथवा उनके शिष्य बहुधा वैष्णव जमात लेकर भ्रमण के लिए निकल जाते थे। वे नागा कहलाते हैं। कभी-कभी वे जमातें शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर भी रहते थे। उन्होंने अनेकानेक छोटे-बड़े राजाओं, जागीरदारों, साहूकारों आदि को सम्प्रदाय में दीक्षित किया था। आज भी अनेक राजवंश उनसे प्रभावित हैं।

इस सम्प्रदाय में अन्य सम्प्रदायों से अधिक व्रजभाषा की रचना हुई है। आज तक गोस्वामियों के बीच पद्य रचना की एक परम्परा चली आ रही है। केवल चाचा वृन्दावन दास के ही चार लक्ष पद इत्यादि कहे जाते हैं। उनका व्रज-प्रेमानन्द-सागर ६१४७ दोहा-चौपाइयों का वृहत ग्रंथ है। उन्होंने १६ समय प्रबंध अनेक लीलाएँ तथा अन्य भक्तिपूर्ण पदों की रचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्त चतुर्भुजदास, नागरीदास, लालस्वामी, दामोदरदास, ध्रुवदास, अतिवल्लभ केलिदास, अनन्य आदि कवियों ने सहस्रों पदों और सैकड़ों पुस्तकों की रचनाएँ की हैं। यह अवश्य है कि उनकी रचनाएँ अष्टछाप के समकक्ष नहीं हैं। उनमें नव-नव उद्भावनाओं की न्यूनता है। प्रियादास (पटना) ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना कर सम्प्रदाय के सिद्धांत निर्माण में बड़ा काम किया है। उनके लिखे हुए तत्व-निर्णय, व्यासनंदन-भाष्य, प्रमाण-चतुष्टय ईशावास्योपनिषद् भाष्य भूमिका, सम्प्रदाय-निर्णय तथा हितामृत-चंद्रिका प्राप्य हैं। प्रियादास (रीवां) ने भी संस्कृत में अनन्याश्रम-पद्धति, सुसिद्धान्तोत्तम, उत्सव-निर्णय सटीक तथा राधातत्व दर्पण जैसे उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना की है।

हरिदासी या सखी तथा टट्टी सम्प्रदाय

स्वामी हरिदास

दोनों सम्प्रदायों के प्रवर्तक स्वामी हरिदास ही समझे जाते हैं। दोनों में भेद बिन्दु और नाद परिकर का है। हरिदासी गो० जगन्नाथ के वंशज हैं, और टट्टी स्थान वाले शिष्यों की परम्परा में गिने जाते हैं। वर्तमान समय में पारस्परिक मनमुटाव के कारण दोनों शाखाओं ने अपने इतिहासों में परिवर्तन कर लिया है। उन लोगों में न केवल स्वामी हरिदास के

---

१. खोज रिपोर्ट में 'श्री हितजू को मंगल' का भी उल्लेख मिलता है। १९०६-८ ई०, संख्या ४८ सी

२. राधावल्लभ भक्तमाल, पृ० २६१-२६७

जन्म समय पर ही विरोध है, अपितु पिता, जन्म स्थान, जाति तथा मूल सम्प्रदाय सभी बातों पर वैमत्य हैं।

टट्टी स्थान में प्रचलित हैं कि १५३७ वि० के भाद्रपद शुक्लाष्टमी का बुधवार उनका जन्म दिन है।[१] उनके पिता गंगाधर सनाढ्य वृन्दावन के निकट राजापुर के रहने वाले थे। निम्बार्क सम्प्रदायी आशुधीर सारस्वत उनके गुरु थे। वे ब्रह्मधीर के वंशज थे। स्वामी हरिदास के उत्तराधिकारी विट्ठल विपुल थे। और उनके शिष्य थे विहारिनदेव। विरक्तावस्था में उन्होंने श्री बाँकेबिहारी की सेवा मुल्तान के उच्च ग्राम के निवासी जगन्नाथ को सौंप दी थी। कालांतर में निधुवन भी उनके वंशजों के हाथ में चला गया। लगभग एक शताब्दी बाद ललित किशोरी देव ने निधुवन पर पुनः अधिकार करना चाहा, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इस पर वे यमुना के तट पर रहने लगे और उन्होंने टट्टी स्थान की स्थापना कर ली।[२] उनका जन्म १७३३ वि० में और नित्यलीला प्रवेश १८२३ वि० है।

हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी हरिदास का जन्म-काल भाद्रपद शुक्लाष्टमी १५६९ वि० माना जाता है। उनका कहना है कि आशुधीर गुरु नहीं पिता थे।[३] वे मुलतान के उच्च ग्राम के निवासी सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके दो संतानें और थीं, जगन्नाथ तथा गोविन्द, जिनका जन्म क्रमशः १५७५ वि० तथा १५८७ में हुआ था। स्वामी जगन्नाथ गृहस्थ शिष्य थे और स्वामी गोविन्द के पुत्र विट्ठल विपुल विरक्त शिष्य थे।[४] उन्हीं से दो शाखाओं की स्थापना हुई है एक बिन्दु दूसरी नाद। वे लोग वस्तुतः विष्णु स्वामी सम्प्रदायानुयायी हैं निम्बार्क के नहीं।

दोनों के पास किसी निश्चय पर पहुँचने के लिऐ कोई प्राचीन सामग्री नहीं है। निजमत सिद्धांत में कुछ घटनाओं का उल्लेख है जिनसे यह सिद्ध होता है कि १५३७ वि० स्वामी जी का जन्म काल कदापि नहीं हो सकता। उसकी एक कथा विहारिणदास से संबंध रखती है। वे राजा मित्रसेन के पुत्र थे और अकबर के कृपा पात्र थे। राजा मानसिंह जब बंगाल में संधि करके लौटे तो बैरम खाँ के पुत्र खानखाना ने उसे पसंद नहीं किया। इसलिए वे दूसरी बार बंगाल और आसाम की विजय करने के लिए गए। उन्होंने विजय प्राप्त की और एक राजा कमलापति को धोखे से मरवा डाला। खानखाना के साथ विहारिणदास भी थे। इस अन्याय पूर्ण कृत्य को देखकर वे विरक्त हो गए और वृन्दावन में आकर विट्ठल विपुल के शिष्य बन गए।[५] उस

---

१. संवत पन्द्रह से सैंतीसा भादों शुक्ल अष्टमी दीसा।
बुद्धवार मध्यान्ह विचार्‌यो श्री हरिदास प्रकट तनु धार्‌यो

—निजमत सिद्धांत, खंड २, पृ० ५४

२. 'निम्बार्क माधुरी', पृ० १९५

३. श्रीमत्कुंजबिहारी वार्षिकोत्सव व्रत—निर्णय पत्रम्, सं० २००६, पृ० १० तथा १५

४. टट्टी स्थल में विट्ठल विपुल के पिता गुरुजन बतलाए जाते हैं।—निजमत सिद्धांत खंड २, पृ० ३९

५. वही, खंड २, पृ० १४३-१५६

समय तक स्वामी हरिदास जीवित थे और उन्हीं की आज्ञा से विट्ठल विपुल ने उन्हें शिष्य बनाया था।[१]

इतिहास से पता चलता है कि राजा मानसिह १५९० ई० से पूर्व बंगाल नहीं गए थे। उसके पूर्व वे राजपूताना, दिल्ली और काबुल में ही सेनानायक तथा राजप्रबन्धकर्ता बने रहे। कमलापति का कोई विवरण इतिहास में नहीं मिलता। संभव है कि वे उन बड़े जमींदारों में रहे हों जिन्होंने विद्रोह में भाग लिया था।[२] इसके बाद ही खानखाना की घटना संभव हो सकती है। अतएव यह निश्चित है कि १६४७ वि० के बाद भी स्वामी हरिदास जीवित थे। सम्प्रदाय में उनकी आयु ९५ वर्ष मानी जाती है।[३] इस हिसाब से उनका जन्म १५५३ वि० से पूर्व नहीं हो सकता, किन्तु इसके बाद भी स्वामी हरिदास जीवित रहे, इस बात का आभास निजमत सिद्धांत में वर्णित घटनावली से मिला है। श्री ग्राउस ने महंतों की गुरु परम्परा के आधार पर यह निश्चय किया था कि स्वामी हरिदास का निधन १५६५ वि० से पूर्व नहीं हो सकता, क्योंकि औसत में ३० वर्ष एक महंत का समय मानना अनुचित नहीं है।[४] इस दृष्टि से १५६९ वि० में ही स्वामी हरिदास का जन्म माना जा सकता है।

शेष बातों का निर्णय करना संभव नहीं है। सखी सम्प्रदाय के लोग जितने प्रमाण देते हैं, उनमें से केवल दो में ही स्वामी जी स्पष्ट आशुधीर के पुत्र कहे गए हैं। उनमें से एक श्लोक ईश्वर सिह कृत भक्तमाल का है, और दूसरा प्रमाण चाचा वृन्दावन दास कृत चौपाई है। प्रस्तुत लेखक ने चाचा वृन्दावन दास की जितनी कृतियाँ देखी हैं, उनमें वे पंक्तियाँ नहीं हैं। महाराज ईश्वरीसिह १९वीं शताब्दी के लगभग हुए थे, किन्तु उनकी किसी कृति को देखने का अवसर नहीं मिला है। टट्टी स्थान में प्रमाण कोटि में केवल दो ग्रंथ हैं। प्रथम है किशोरदास का लिखा हुआ 'निजमत सिद्धांत' और द्वितीय है सहचरि शरण द्वारा रचित—'ललित प्रकाश'। दोनों ही १९वीं शताब्दी की रचनाएँ हैं। गणना करने से भी प्रसिद्ध दोनों संवतों में बुधवार

---

१. स्वामी कर शिर पर धरयो सुख स्वरूप दरशाय।
कुंडलिया ताही समें, अद्‌भुत प्रगट सुनाय॥

... ...

आज्ञा पाय विपुल तेहि काला। संस्कार कीनों निज चाला।
दयो कमंडलु निज कर केरो। राखो निपट निकट नित नेरो॥

—निजमत सिद्धान्त, खंड २, पृ० १५६

२. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड ३, पृ० ११५-१३६

३. वरष पचीस गृहामधि वासा।
सत्तरि वरकत विपिन निवासा।
पांच घाटि शतवर्ष लौं, इच्छा विग्रह धारि।
सकल सुखन को सार रस, महामधुर विस्तारि॥

—निजमत सिद्धांत, खंड २, पृ० १५८

४. मथुरा मेमायर, पृ० २०५

भाद्रपद की अष्टमी को नहीं पड़ता। अत: उसके अनुसार भी कुछ निश्चय नहीं हो सकता।

जहाँ तक सम्प्रदाय का प्रश्न है, यह संभव नहीं है कि विष्णु स्वामी से दोनों में से किसी शाखा का संबंध हो। निम्बार्क सम्प्रदाय से परम्परा का संबंध हो सकता है, क्योंकि दोनों शाखाओं में सखी भाव की ही उपासना होती है। प्रिया प्रियतम का नित्य विहार ही उनके सिद्धांत का आधार है। इन दोनों तथ्यों का साम्य निम्बार्क सम्प्रदाय से है, रुद्र सम्प्रदाय से नहीं। वहाँ तो बालभाव की उपासना ही प्रधान है। संभवत: परस्पर कलह के कारण ही हरिदासी सम्प्रदाय ने विष्णु स्वामी से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है।

गृहत्याग के अनन्तर स्वामी हरिदास वृन्दावन में आकर रहने लगे। उन्होंने निधुवन को अपना निवास स्थान बना लिया। आज भी वहाँ उनकी गद्दी और उनके उपभोग की वस्तुओं की सेवा होती है। उन्होंने श्री बाँकेबिहारी की मूर्ति की सेवा प्रचलित की। स्वयं वे विरक्त थे और कुंजबिहारी और उनकी प्रियतमा के नित्य केलि कलाओं का ध्यान करते रहते थे। वे एक सिद्धहस्त गायक थे। प्रसिद्ध है कि तानसेन ने भी उनसे गायन विद्या सीखी थी। उनकी कीर्ति दूर-दूर स्थानों तक फैली हुई थी और अनेक राजा आदि उनके दर्शन करने आते थे। कहा जाता है कि एक बार स्वयं अकबर बादशाह भी उनसे मिलने आए थे। अन्य सम्प्रदाय वाले भी आपका सम्मान करते थे। राधावल्लभी सम्प्रदाय के व्यास जी ने अपने एक पुत्र को उनका शिष्य बनवाया था।

स्वामी हरिदास किसी से वाद-विवाद नहीं करते थे। उन्होंने किसी संस्कृत ग्रंथ की रचना नहीं की है। उनके द्वारा रचित केवल १८ सिद्धांत के पद और १०८ रस के पद अथवा केलिमाल मिलते हैं।[१] इन पदों में रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। आगे भी इस सम्प्रदाय में संस्कृत में ग्रंथ नहीं लिखे गए। केवल व्रज-भाषा के वाणी ग्रन्थ ही निर्मित हुए हैं। टट्टी स्थान में कुछ दिन पहले तक ग्रंथों की रचना और उनका प्रकाशन होता रहा है। सखी सम्प्रदाय में केवल आदि के अष्टाचार्यों की वाणियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रकाशित हुआ। वर्तमान समय में दोनों स्थानों पर विद्वानों की संख्या भी अल्प है।

हरिदास के बाद

स्वामी हरिदास के नित्य-लीला प्रवेश के अनन्तर उनके शिष्य विट्ठल विपुल गद्दी पर बैठे। वे भी विख्यात भक्त थे। उनके लिखे हुए शृंगार रस के ४० पद ही प्राप्त हैं। उनके पश्चात् उनके शिष्य विहारिनदेव गद्दी के अधिकारी हुए। उन्होंने सबसे अधिक रचनाएँ की हैं। टट्टी स्थान में एक वाणी संग्रह है उसमें उनके ११३८ पद, चौबोला, कवित्त, कुंडलियाँ, सवैया और दोहे-चौपाई हैं।[२] ये भी विरक्त थे और निशि बासर मानसी सेवा किया करते थे। विरक्त शिष्यों की परम्परा में रसिकदेव जी, विक्रम की १८वीं शताब्दी के मध्य में, गद्दी के

---

१. इनके अतिरिक्त वाणी, पद, भरथरी वैराग्य और हरिदास जू को ग्रन्थ की सूची मिश्रबन्धुओं ने दी है। वे सब या तो उन्हीं १२३ पदों के संग्रह मात्र हैं अथवा किसी अन्य हरिदास के लिखे हुए हैं।

२. वाणी संग्रह, टट्टी स्थान, १८६३ वि०

अधिकारी बने थे। उन्होंने रसिक बिहारी जी के मन्दिर का निर्माण कराया था। उनके रचे हुए ग्यारह ग्रन्थ कहे जाते हैं। उनके ही शिष्य ललित किशोरी थे और उनके ललित मोहिनी। उन्होंने टट्टी स्थान की स्थापना की थी।[१] वह एक विरक्तों का स्थान है। वहाँ के लोग मिट्टी का करवा आदि ही नित्य व्यवहार में लाते हैं। शरीर पर वे सदैव मिट्टी लगाये रहते हैं। वे अपने निवास स्थान के चारों ओर से बाँस की टट्टियों से घेरे रहते हैं। इस कारण उसको टट्टी स्थान कहते हैं।

बाँकेबिहारी के मंदिर के अधिकारी गोस्वामी जगन्नाथ के वंशज हैं। उनके तीन पुत्र थे, गोपीनाथ, मेघश्याम और मुरारी दास। गोपीनाथ श्रृंगार सेवा, मेघश्याम राजभोग सेवा तथा मुरारीदास शयन सेवा के अधिकारी थे। इनमें से प्रथम की मृत्यु निःसंतान हुई थी। आजकल शेष दोनों पुत्रों के वंशज ही सेवा के अधिकारी हैं।[२] उन्होंने मंदिर को, इस डर से कि कहीं हरिजनों का प्रवेश न हो 'प्राइवेट' बना लिया है। श्री बाँकेबिहारी के दर्शन में एक विशिष्टता है। वहाँ प्रति मिनट पर्दा गिरता और उठता रहता है। संभवतः उन्हें यह भय रहता है कि कहीं प्रिया प्रियतम को दृष्टि-दोष न लग जाय। इसका मूल कारण यह भी हो सकता है, जो इनके सिद्धांत से मेल खाता है, कि भक्त इस अल्प विरह की वेदना से चिर विरह की वेदना का अनुभव प्राप्त कर ले और उसके मिलन की इच्छा तीव्रतर हो जाये। अथवा यह कारण हो सकता है कि माया का आवरण प्रिय-प्रियतम के स्वरूप का सम्यक दर्शन और तज्जनित पूर्णानन्द की अनुभूति में बाधक है जिससे विमुक्ति न पाकर चिर सामीप्य की प्राप्ति की लालसा बढ़ जायें। बाँकेबिहारी के मंदिर के अतिरिक्त संभवतः कोई दूसरा मंदिर हरिदासी सम्प्रदाय वालों के पास नहीं है।

दोनों शाखाओं में स्वकीया भाव से युगुल मूर्ति की सेवा की जाती है। सहचरी के रूप में भक्त उनकी नाना केलि कला कौतुक की स्वानुभूति किया करता है। उनके उपास्य श्रृंगार रस के प्रतिरूप ही हैं।[३] उनकी नित्यलीला में प्रवेश करना ही भक्त का परम लक्ष्य

---

१. टट्टी स्थान के वंशवृक्ष में आचार्यो की परम्परा इस प्रकार दी हुई है :
स्वामी हरिदास, विट्ठल विपुल, बिहारिनिदेव, सरसदेव, नरहरिदेव, रसिकदेव, ललित किशोरी देव, ललित मोहिनी देव, महंत चतुरदास, ठाकुरदास, सखीशरण, राधिकादास, राधाप्रसाद और भगवानदास। इनके बाद रणछोरदास तथा राधाचरण दास महंत हुए हैं।
—वंशावली शाखा, १९८५ वि०
श्री ग्राउस ने सरसदेव के पूर्व नागरीदास और नरहरिदास के पूर्व नवलदास को भी गद्दी का अधिकारी लिखा है। साथ ही उन्होंने ललित किशोर और ललित मोहिनी को एक ही समझ लिया है। यह उनकी भूल प्रतीत होती है।
—मथुरा मेमायर, पृ० २०५

२. वही, पृ० २०१

३. विवि तनु व्यापक विपुल प्रेम वस कीने दंपति,
सेवन सहचरि रूप सहज नैनन निज सम्पति।
—निम्बार्क माधुरी, भगवत रसिक, पृ० ३६७

है। यद्यपि राधा की महत्ता कृष्ण से अधिक है, क्योंकि उनके वश में व्रजराज हैं, तथापि राधावल्लभियों की भाँति वहीं सब कुछ नहीं है। भक्तमालकार ने भी इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है।[१]

निम्बार्क ने भी राधाकृष्ण की उपासना प्रणाली को स्वकीया के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने परिणय और मान के विभिन्न भेदों को लक्ष्य कर, नित्य और नैमित्तिक उपासनाओं में, दोनों विग्रहों की समय-समय पर वाम तथा दक्षिण स्थापना की प्रथा भी स्वीकार की है। निम्बार्क सम्प्रदायी उपासक तटस्थ अंतरंग भक्त की भाँति उद्दीपन विभाव का ही कार्य करता रहा है। इसके विरुद्ध राधावल्लभी और हरिदासी अथवा टट्टी सम्प्रदाय का उपासक राधाकृष्ण की रसमयी उपासना में स्वकीयात्व के साथ-साथ सहचरी भावना को भी ग्रहण करता है और स्वयं भक्तयावेश में तथानुभूति का भाजन बन जाता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय राधा की प्रधानता में अपने नित्य साहचर्य सख्य को ही सर्वस्व मानने लगा, किन्तु हरिदासी सम्प्रदाय उद्दीपन भाव के साथ नर्म साचिव्य अथवा साहित्यिक दृष्टि से संचारी भावों का अनुभवकर्ता भी बन गया। वह निर्वेद, दैन्य, ग्लानि आदि अंतरंग आलम्बन विभाव धर्म का भी स्वयं भाजन बन बैठा।

चरणदासी अथवा शुक सम्प्रदाय

पूर्व वर्णित चार कृष्ण सम्प्रदायों के अनन्तर लगभग दो सौ वर्षों तक उत्तर भारत में कोई अन्य उल्लेखनीय सम्प्रदाय का उद्‌भव नहीं हुआ। पूर्व में चैतन्य और पश्चिम में तथा मध्य भारत में शेष तीनों मतों का प्रचार और विस्तार होता रहा। उनके साथ ही रामभक्ति और संत-मत की क्षीण धाराएँ भी प्रवाहित होती रहीं। उत्तरी पश्चिमी प्रदेशों पर संत मत का प्रभाव अधिक पड़ा था और मध्य प्रदेश के पश्चिम में कृष्ण भक्ति का। दोनों की सीमा पर एक ऐसे सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था जो दोनों से अनुप्राणित हो सकें। फलतः विक्रम की १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिल्ली में जिस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई उसे वैष्णव तथा संत-मत का संकर कहा जा सकता है। वह सम्प्रदाय अथवा पंथ शुक अथवा चरणदासी के नाम से विख्यात है।

---

१. हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोऊ जानि है।
राधाचरण प्रधान हृदे अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी।
—भक्तमाल सटीक, छप्पय ९०, पृ० ६०४-६०५

तथा
आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की।
जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत रहें केलि सखी सुरत के अधिकारी।
—वही, छप्पय ९१, पृ० ६०७

श्यामचरणदास

शुक सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री श्यामचरणदास दूसर थे। उनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का कुंजी रानी था। उनका जन्म १७६० वि० के भाद्रपद शुक्ल तृतीया मंगलवार को अलवर से तीन कोस दूर डहरा नामक ग्राम में हुआ था। छः वर्ष की ही अवस्था मे पिता का देहांत हो गया, उसके अनन्तर वे दिल्ली में अपनी माता के साथ ननिहाल में रहने लगे। यह प्रवाद फैला हुआ था कि बाल्यावस्था से ही वे भक्ति में डूबे रहते थे और चमत्कार दिखाते रहते थे। ११ वर्ष से १९ वर्ष तक की अवस्था तक वे सतगुरु की खोज में भ्रमण करते रहे। अंत में श्री शुकदेव ने उन्हे सविधि मंत्र की दीक्षा दी। उन्होंने पीला चोला और टोपी पहिन कर निसंग योगी का भेष धारण कर लिया। उसके पश्चात चौदह वर्ष तक वे दिल्ली में एक गुफा बनाकर अष्टांग योग की साधना करते रहे। फिर पाँच वर्ष तक राजवेश में उन्होने अपना जीवन व्यतीत किया था।[१]

श्यामचरणदास जी के जीवन में अनेक करामातों की घटनाएँ उसी प्रकार जुड़ी हुई हैं जैसे सूफी अथवा संत महात्माओ की जीवनियों में देखने को मिलती हैं। कहा जाता है कि नादिरशाह ने भी उनकी करामातों को देखा था। एक बार वे वृन्दावन भ्रमण करने गए थे। प्रसिद्ध है कि उन्हें युगल सरकार के दर्शन सेवाकुंज में हुए थे जिसके बाद वे प्रेम विभोर होकर भक्ति रस में डूब गए। उन्होंने यौगिक साधनाओं का परित्याग सा कर दिया। स्वमत के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक स्थानों की यात्राएँ की थीं। अंत में १८३९ वि० के मार्गशीर्ष मास में उन्होंने समाधि लगा कर देह त्याग किया था। उनके नाम के अंतिम अंश के आधार पर ही उनके सम्प्रदाय का नाम चरणदासी प्रख्यात हुआ है।

शिष्य वर्ग

उनके ५२ प्रमुख शिष्य थे जिनको उन्होंने पीला चोला और टोपी पहना कर सौ दो सौ संतों के महंत बनाकर प्रसिद्ध नगरों में गद्दी स्थापित करने के लिए भेज दिया था।[२] स्वामी समरूप जी, उपनाम गुरु भक्तानंद, चरणदास के प्रधान शिष्य थे। उनका जन्म दिल्ली में जयसिह पुर के समीप गौड़ ब्राह्मण के घर पर हुआ था। पिता का नाम महाराम था। गुरु भक्तानंद अपने गुरु के ग्रंथों की प्रतिलिपि कर बाँटा करते थे। स्वयं भी गजल और पद की रचना किया करते थे। उनके दो ग्रंथ अधिक महत्व के हैं। 'मुक्तिमार्ग' में ज्ञान और भक्ति का विचार है और 'गुरु भक्ति प्रकाश' में चरणदास जी का जीवन चरित्र है। उन्होंने कई स्थानों पर रामत किया था।[३] शुकदेव जी की एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा उन्होंने ठाकुर जी की छतरी के

---

१. नवसन्तमाल, रूपमाधुरी, पृ० ९

२. वही, पृ० १८

३. रामत के अर्थ शिष्य दल तथा उपास्य स्वरूप के साथ स्थान-स्थान की यात्रा करना और उपदेश देना है, इस शब्द की उत्पत्ति रमण शब्द से हुई है, योगियों के साथ इसका उपयोग 'रमता जोगी' के रूप में होता है, वहीं से वह इस सम्प्रदाय में ग्रहण किया गया है।

जगमोहन में की थी। उनके प्रमुख शिष्य ८२ संत महंत थे, जिन्होंने युगल बिहारी की मूर्ति पधराई थी।

अन्य शिष्यों में सहजो बाई ने 'सहज प्रकाश' ग्रंथ की रचना की है। वे गुरु की परम भक्त थीं और लालित्य पूर्ण रचनाएँ किया करती थीं। दयाबाई द्वारा लिखित 'दयाबोध' नामक ग्रंथ प्राप्य है। उसमें निर्गुण पक्ष का अच्छा स्वरूप देखने को मिलता है। मौलवी मौलाराय ने कंधार में उनके मत का प्रचार किया था। रामधड़ल्ला पहले एक डाकू था जो चरणदास जी के आगे ध्वजा लेकर चला करता था। जोग जीत महाराज का बहुत प्रभाव था। उनके लिखे हुए ग्रंथ 'लीलासागर' में गुरुजी के समस्त शिष्यों की कथा तथा करामातों का वर्णन है। कतिपय शिष्यों ने लखनऊ, इलाहाबाद, जयपुर, भरतपुर आदि स्थानों पर गद्दियाँ स्थापित की थीं।

स्वामी रामस्वरूप के शिष्य वर्ग में सतवादी राम जी बड़े विद्वान और गान विद्या के बड़े पंडित थे। किंवदन्ती है कि वे संत हरफन के गुरु थे। हिन्दू और मुसलमान उनका समान आदर करते थे। जयपुर के गुरु छौना जी कि शिष्य अखेराम ने अनेक वाणियों एवं वैद्यक के ग्रन्थों की रचना की है। सरस माधुरी का जन्म १९१२ वि० में हुआ था उन्होंने सम्प्रदाय के प्रचार और साम्प्रदायिक ग्रंथों के प्रकाशन की चेष्टा की थी। सिद्धान्त और उपासना-प्रकार पर 'श्री शुक-सम्प्रदाय-सिद्धान्त-चन्द्रिका' नामक संग्रह ग्रन्थ उन्होंने प्रकाशित किया था। इनके द्वारा रचित पद, वाणी, गजल आदि सरस माधुरी के नाम से तीन भागों में छपे हैं। रचना परिणाम में किसी अन्य चरणदासी की उनसे तुलना नहीं हो सकती। उनके प्रमुख शिष्य रूप माधुरी की गद्दी वृन्दावन में जुगल घाट पर है।

शुक सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव पश्चिमी प्रदेशों पर ही पड़ा है, यद्यपि गद्दियाँ बिहार में भी मिलती हैं। अरबी और फारसी की भाषा तथा शैली को इन संतों ने भली भाँति ग्रहण किया है। पूर्ववर्ती प्रबल वैष्णव सम्प्रदायों के सम्मुख अन्य सम्प्रदाय कठिनाई से ठहर सकता था। इसलिए चरणदासियों ने सहज निर्गुणियों की साधना की भित्ति पर श्रृंगारिक प्रेम का मंदिर खड़ा किया है। युगल बिहारी शब्द ब्रह्म का उसी प्रकार प्रतीक है जैसे अन्य संतों के बीच राम। एकमात्र हरि ही वह प्रतीक न हो सकता था, क्योंकि हिन्दू समाज राधाकृष्ण की रसमयी लीला का रसास्वाद कर चुका था। युगल सरकार एक प्राण और एक तत्व है। केवल स्वरूप दो हैं। वे प्रकृति पुरुष नहीं हैं।[१] अनेक सम्प्रदायी संतों ने राम शब्द का व्यवहार परम्परा वश ही किया है।

अन्य सम्प्रदाय ·

विक्रम की १६वीं शताब्दी के उत्तरांश अथवा उसके बाद जितने भी सम्बन्धित सम्प्रदाय स्थापित हुए उनमें मौलिकता की न्यूनता थी। उनके प्रतिष्ठापकों में न तो वल्लभाचार्य के सदृश पांडित्य था और न चैतन्य के तुल्य भक्ति विह्वलता ही। वे भक्त तो अवश्य थे परन्तु सिद्धान्तों की विवेचना अथवा नव-उपासना पद्धति की उद्‌भावना की शक्ति उनमें स्वल्प थी। वे केवल पूर्व प्रचलित मतों एवं उपासना विस्तार में ईषत् परिवर्द्धन, परिवर्तन अथवा मिश्रण कर अपने

---

१. श्री शुक सम्प्रदाय-सिद्धान्त-चन्द्रिका, पृ० १३९-४०

सम्प्रदाय की स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण कर सके हैं। उनका प्रचार भी सीमित रहा है। १८वीं शताब्दी के बाद नारायणदासी को छोड़कर कोई भी ऐसा कृष्ण सम्प्रदाय नहीं बना जिसका कुछ भी महत्व हो। वह भी केवल गुजरात के कुछ स्थानों तक ही फैल पाया है। उसमें वल्लभ और रामानुज के मत का सांकर्य मिलता है। सनातन धर्म के कर्मकांड की उसमें अधिकता है। मौलिकता की कमी के कारण उसकी विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

उत्तर कालीन सम्प्रदायों में राधा अथवा उनकी सखियों पर ही विशेष बल दिया गया। कृष्ण की बाल लीला नहीं, वरन् कैशोर्य-लीला ही उनके आकर्षण का प्रधान केन्द्र बन गई। अष्टछाप के कवियों ने भी कृष्ण की श्रृंगारिक लीला का उन्मुक्त वर्णन किया था, फिर भी वे उनके अन्य कृत्य भूले न थे। उनके बाद अन्य साम्प्रदायिक कवियों ने एकमात्र शक्तितत्व सहकृत कृष्ण की लीला का वर्णन किया है। उन्हें कृष्ण के स्वतंत्र अस्तित्व तक में सन्देह होने लगा। भक्त की परमाकांक्षा केवल राधा की सखी बनने तक ही सीमित रह गई। दार्शनिक सिद्धान्तों की न्यूनता अथवा अभाव में लौकिकता के साथ साम्य, शिष्यों के आकर्षण का अच्छा साधन भी था।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि उन सभी सम्प्रदायों पर निम्बार्क का परोक्ष अथवा अपरोक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि वल्लभाचार्य ने सिद्धान्तों को परिपुष्ट करके एक नवीन वैष्णव पद्धति का प्रचलन किया था, जिसके सम्मुख पूर्व प्रचलित निम्बार्क सम्प्रदाय का स्थान गौण हो जाना चाहिए था, तथापि हुआ इसके विरुद्ध ही। संभवतः गौडीय सम्प्रदाय के परकीयावाद ने उसमें सबसे अधिक योग दिया था। यह भी संभव है कि प्रतिभा की न्यूनता के कारण अन्य सम्प्रदायों ने निम्बार्क से प्रेरणा ग्रहण की हो, क्योंकि प्राचीन सम्प्रदायों में केवल वही राधाकृष्ण की उपासना से सम्बन्ध रखता था।

❑❑

तृतीय प्रकरण
दर्शन की विवेचना

विषय प्रवेश

दर्शन का मुख्य विषय मनस्सापेक्ष आत्मबोध करना है। मीमांसा का उत्तर भाग, जिसे वेदान्त कहते हैं, ब्रह्म जिज्ञासा से प्रारंभ होता है, साथ ही उसमें दैहिक कर्मकाण्ड का विलय भी हो जाता है। शंकराचार्य के पूर्व ही वेदान्त की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली गई थी। यद्यपि उसमें 'तत्व प्रत्यभिज्ञानात् तदधिगमः' सूत्र के द्वारा तत्व की एकता पर अधिक बल दिया गया है, परन्तु आचार्यों की रुचि एवं प्रतिभा की उत्कृष्टता के कारण अनेक वाद चल पड़े, जिनको तीन विभागों में विभाजित किया जाता है—शैव, वैष्णव तथा शाक्त।

वैष्णव वेदान्तियों का एक लक्ष्य शंकर के मत का खंडन करना भी रहा है। 'अणुवः सर्व शक्तित्वात्' के अनुसार अद्वैत दर्शन अवयव और अवयवि के भेद को नहीं मानता।[१] इसके विपरीत वैष्णव दर्शन का उपक्रम ही नाम और विग्रह के भेद से होता है। माया और अविद्या नाम की वस्तु काल्पनिक नहीं वास्तविक है। अद्वैत सिद्धि में आश्रय सिद्धि का अपरिहार्य दोष वैष्णवों की विशेष वार्ता है। अद्वैती जगत् की प्रवाह नित्यता स्वीकार कर कार्य और कारण का प्रश्न ही नहीं उठने देते। वैष्णव दर्शन सर्वथा द्वैत होने के कारण जगत् और ब्रह्म में कार्य-कारण-भाव अणु और त्रसरेणु की भाँति मानता है। विकारहीन वस्तु के द्वारा सविकार और नित्य के द्वारा अनित्य की उत्पत्ति अथवा साध्यांश का साधन में अतिरेक भागासिद्धि दोष में परिणत हो सकता है। द्वैत के संरक्षणार्थ यह अत्यंत आवश्यक है कि अणु और स्थूल दोनों में मित्यता मानी जाय और दोनों के कार्य-कारण-भाव को वास्तव मानते हुए भी उन्हें एक-दूसरे से पृथक माना जाय, अन्यथा विग्रह ही में अनंत निष्ठा के द्वारा गुरु दीक्षानुसार अर्चना, निज औपासनिक पद्धति से तत्वज्ञान, स्थिरप्रज्ञता की प्राप्ति तथा सामीप्यात्मक मोक्ष की उपलब्धि कभी संभव नहीं है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य जहाँ शंकराचार्य के मत में 'जहदजहद लक्षणा' का उदाहरण है, वहाँ वैष्णव परम्परा में अभिधा के द्वारा ही जीव और ब्रह्म का सर्वथा पृथक अंशांशि भाव उसमें समन्वयित किया गया है निम्बार्काचार्य ने दशश्लोकी में 'श्री बिहारी जी' के चरण चंचरीक की अद्‌भुत वर्णन पद्धति में, सम्पूर्ण ब्रह्मरस का समावेश किया है। साथ ही साथ

---

१. **अवयवान्नातिरिच्यते समुदायः**

—वैशेषिक सूत्र, वाचस्पत्य भाष्य, पृ० ७

उन्होंने यह कह कर कि भक्ति का रस ही वस्तुतः ब्रह्म है, स्थूल और सूक्ष्म भेद का साधक ब्रह्म या जीव कोई भिन्न वस्तु नहीं, वह तो अन्यथा ख्याति और आत्मभ्रांति का ही दोष है, द्वैताद्वैत सिद्धान्त को स्थिर करने का अति सफल उपक्रम किया है।

यहाँ पर केवल व्रज से सम्बन्धित, १६वीं शताब्दी तथा उसके बाद के, वैष्णव दर्शनों पर ही कुछ विशदता से विचार करना अभीष्ट है। अंत में उन सबों का यथासम्भव समन्वय करने की भी चेष्टा की जाएगी क्योंकि दर्शन यथार्थ में मार्ग अर्थात् प्रापणीय है, प्राप्य नहीं। उनमें केवल काल्पनिक एवं शाब्दिक भेद हो सकता है। ज्ञान, भक्ति, योग, उपासना, कर्मकाण्ड, कीर्तन आदि प्रक्रियाएँ अपने-अपने ढंग की हो सकती हैं, परन्तु परम सत्य में कभी अंतर नहीं पड़ सकता। संभव है कि निरूपण करने वाली पद्धतियों में मौलिक अंतर भासित हो, किन्तु उनका अवसान सदा एक होगा। गणित शास्त्र में संकलन और व्यकलन की विभिन्न पद्धतियों के होते हुए भी उनके द्वारा फलादेश में अंतर नहीं पड़ता।

शुद्धाद्वैतवाद

वल्लभाचार्य का मत साम्प्रदायिक दृष्टि से पुष्टिमार्ग कहलाता है और तात्विक दृष्टि से शुद्धाद्वैतवाद अथवा ब्रह्मवाद।

किसी एक प्रतिमा में आराध्य बुद्धि और स्वयं में आराधक बुद्धि रखना स्पष्ट ही प्रमाण और प्रमेय में भेद ज्ञान की निवर्तिका तथा तत्वतः उस ज्ञान की साधिका विशिष्ट बुद्धि है। इस विरोध को ध्यान में रखकर वैष्णव सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने बड़ी सावधानी एवं बुद्धिमत्ता के साथ अपने सिद्धान्तों के निरूपण के अवसर पर दोनों के समन्वय का विशेष प्रयत्न किया है। वल्लभाचार्य ने अपने दर्शन सिद्धान्त को निज विग्रह में न केवल समन्वित किया है अपितु सभी आर्ष ग्रन्थों द्वारा उनको प्रमाणित भी किया है। सुबोधिनी जी के तृतीय स्कंध के प्रारम्भ में जो स्तव पाठ है उसमें उन्होंने ब्रह्म की व्यापकता, सृष्टि के प्रसंग में उनकी उपादानता, विग्रह के द्वारा उसकी आराधना, उत्पादक तथा अभिवर्द्धक शक्तियों का एक में अन्तर्निधान आदि दार्शनिक और औपासनिक पद्धतियों का स्पष्ट निरूपण किया है।[१]

ब्रह्म

'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्र के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ब्रह्म सिद्ध करने का वल्लभाचार्य का उपक्रम आकर्षक ही नहीं नूतन भी हैं। सूत्र का 'आदि' शब्द जन्म से लेकर सभी भाव विकारों का संग्रह ध्वनित करता है। यद्यपि वह शब्द धर्मपरक है, किन्तु लक्षणा के द्वारा वह अपने धर्मों का भी बोधक है। धर्म- धर्मी सापेक्ष उत्पत्ति भाव विकारों की उपलक्षिका है। शंकराचार्य ने नाम-रूप प्रपंच की कर्तृता की बात उठाई है जिसका कि पृथक-पृथक उपपादन भी है, किन्तु सूत्र के अक्षरों से उसका प्रश्न ही नहीं उठता। वेद के आधार पर केवल ब्रह्म को कर्ता मानना अस्वाभाविक है। अनुमान के द्वारा भी ब्रह्म का निरूपण नहीं हो

---

१. श्रीमद्भागवत् की टीका, सुबोधिनी जी, स्कंध ३, पृ० १-२

सकता। वह तो प्रत्यक्षाश्रित है। वह जगत् का समवायि कारण हैं, निमित्त नहीं।[१]

शास्त्रीय ढंग पर ब्रह्म के प्रमाण की जिज्ञासा करना भ्रम है। व्यवहार मात्र के निर्वाहक प्रमाण (संकुचित और स्वल्प मात्रिक) प्रमेय (विशद और विभु) ब्रह्म के निरूपक नहीं हो सकते। जीव की आश्रित तथा शरीर से संबद्ध ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा स्वत: प्रामण्य के प्रश्न का समाधान संभव नहीं है।[२] गुणयुक्त (सगुण) परमात्मा को गौण प्रकृति के गुण सत्व से संबंधवान मानना अस्पष्ट श्रुति का विरोध करना है। छान्दोग्य का 'स ऐक्षत' आदि वाक्य यह उद्घोष करता है कि आत्म शब्द निर्गुण शब्द का वाचक है। औपचारिक गौणत्व होने पर भी प्रापंचिक धर्म रहित ब्रह्म में परिनिष्ठित प्राणी मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यदि जगत् का कर्ता गौण होता तो उसमें निष्ठा रखने वाले प्राणी का कभी मोक्ष नहीं हो सकता था।[३]

ब्रह्म सब व्यवहारों से अतीत नहीं है। यद्यपि अभ्यासवश जीव को पदार्थ कहा जाता है, तथापि उसकी क्रियाएँ निरंतर चलती रहती हैं। यहाँ तक कि सुषुप्ति दशा में भी जीव निष्कर्म नहीं रहता। मोक्षावस्था में सब पदार्थ और सभी क्रियाएँ अनायास ब्रह्म रूपता को प्राप्त कर लेती हैं। आनन्दात्मक और सर्व सुखात्मक ब्रह्म एकाकी नहीं रम सकता। अत: उसे द्वितीय की इच्छा होती है, परन्तु वह द्वितीय (संसार, कर्म, जीव आदि निखिल भाव पदार्थ) केवल नाममात्र हैं, वास्तव भेदक पदार्थ नहीं।[४] इतर जीव सर्वथा आनन्दमय नहीं है। यदि फल के भोग मात्र से ही उसकी आनन्दमयता मान ली जाए तो वह स्वतंत्र रूप से जगत का कर्ता होकर अलौकिक माहात्म्यवान हो जाएगा। जड़ प्रकृति को भी सृष्टि का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि काम चेतन धर्म है। चेतन ही आनन्दमय है और उससे जीव की आनन्दमय आत्मा भी उपसंक्रान्त है। इसलिए ब्रह्म ही आनन्दमय है और जीव उसका अंश होने के कारण ही आनन्दमय है।[५]

छान्दोग्य उपनिषद के प्रथम पपाठक में हिरण्यमय पुरुष की चर्चा के साथ ही उसकी आकृति और गुणों का भी वर्णन है। उससे यह भ्रम उत्पन्न होता है कि अधिष्ठातृ देवता को शरीर माने कि परब्रह्म की। शुद्धाद्वैत वाद सदसद् दो भिन्न वस्तुओं को स्वीकार नहीं करता। वह ब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता में विश्वास रखता है। ऐसी स्थिति में उसको केवल सत् से ही संबंधवान् मानना उपहासास्पद है। सभी देवताओं और उनके मंत्रों का वर्णन वक्रोक्ति से ब्रह्म का ही वर्णन है। ब्रह्म की व्यष्टि शक्तियाँ विभिन्न देवताओं के रूप में प्रस्फुटित होती हैं और उनका नामान्तर हो जाता है। भेद के व्यपदेशमात्र से अन्यता और अभेद के व्यपदेश से अन्यत्व का अभाव मानना स्थूल दृष्टि है। ब्रह्म को चाहे उपासना रूप में और चाहे ज्ञान रूप में

---

१. अणुभाष्य, सप्रकाश, १:१:२:, पृ० ५९-८४

२. वही, १:१:३-४

३. वही, १:१:५-६, पृ० १४०-१४२

४. स नेव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत,

—वही, १:१:११, पृ० १६९

५. वही, १:१:१५-१८

माना जाय, दोनों में लेश मात्र भी अंतर नहीं है। कारण में कार्य धर्म का आरोप आयुक्त है, किन्तु कार्य मे कारण धर्म का आश्रय और उपासना के साथ फल का अभेद तो सर्वत्र मान्य है।[१]

जो लोग ब्रह्म का सगुण और निर्गुण भेद मानते हैं वे स्वयं ही अपने को ब्रह्म जिज्ञासा का अनधिकारी सिद्ध करते हैं। ब्रह्मवाद में जैसे संख्या विशेषण का प्रयोग नहीं होता, वैसे ही उसके साथ गुण का संबंध भी स्थापित नहीं हो सकता। सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म रूप से उपासना करना ही कर्त्तव्य है। पुराणों में विराट रूप की उपासना का भी यही तात्पर्य है। जीव विज्ञानमय है, अत: उसकी भी ब्रह्म रूप से उपासना संभव है। जगत् की ब्रह्म रूप से उपासना विराट भगवान की उपासना है। वह काल्पनिक नहीं अपितु अनुमान प्रमाण वेद्य है। इसका फल अन्त:करण की शुद्धि है।[२]

'ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। गीता का यह वाक्य आधराधेय भाव का बोधक नहीं है। वह सर्वाश में व्यापकत्व का द्योतक है। यहाँ एक संदेह अवश्य ही होता है कि प्रत्येक प्राणी के हृद्देश में पूर्ण ब्रह्म की अवस्थिति मानने पर ब्रह्म के भोग संभोग आदि का अभिनिवेश भी क्यों न स्वीकार किया जाय। इसका एक ही समाधान है कि सर्वरूपता, आनन्दमयता, स्वकर्तृता आदि विशेषताएँ ब्रह्म में ही संभव हैं जीव में नहीं। सभी दार्शनिकों के मत में अकर्म ब्रह्म का क्रियमाण और संचित कुछ भी नहीं है। अत: जीव को ही भोग की प्राप्ति होगी, ब्रह्म को नहीं। भोग सर्वथा आपेक्षिक है उसका अनपेक्षित और सामान्य भाव बाधित है। 'तत्वमसि' महाकाव्य भी इसका पोषक है।[३]

गो० विट्ठलदास ने ब्रह्म के सधर्मक और निधर्मक होने पर विचार उपस्थित किया है। उसे सधर्मक मानने का अर्थ है धर्म को पृथक समझना, जिससे ब्रह्म का केवल संबंध है। इससे द्वैतभावना और सहयोग भावना के दो दोष उत्पन्न हो जाएँगे। निधर्मक मानना भी उतना ही आपत्तिग्रस्त हैं। श्रुतियों और उपनिषदों में इस संबंध में अनेक परस्पर विरुद्ध वचन उपलब्ध होते हैं। अत: कालिक भेद से ब्रह्म में दोनों का बिना किसी विरोध के समन्वय ही किया जा सकता है। यहाँ श्रुति सिद्ध धर्म का निषेध करने का तात्पर्य नहीं है, लौकिक स्थूलादि धर्मो का निषेध ही मन्तव्य है। लौकिक क्रियाओं में एक ही काल में किसी भी पदार्थ का भावाभाव यद्यपि असंगत है, फिर भी काल के भेद से उसका निरूपण संभव भी है। सोपाधि ब्रह्म का निरूपण उपासना के लिए आवश्यक है। उपासना के द्वारा चित्त की शुद्धि होने पर निर्विशेष

---

१. **कारणे कार्य धर्मारोपस्त्ययुक्त एव। कार्ये पुन: कारणधर्माधिकरणत्वेनोपासना अभेदात् फलायेति सर्वत्र व्यवस्थिति:**

—वही, १:१:२०, पृ० २३२

२. **तत्र परमशान्तस्य सर्वस्य जगतो ब्रह्मत्वेनोपासनया शुद्धान्त:करणस्य सर्ववेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्मोपदेश एव मुक्तो मननरूपी, न तु क्वचित् सिद्धस्य जीवस्योपासना।**

—वही, १:२:१, पृ० २८१

३. **वही, १:२:८, पृ० १९७**

ब्रह्म की प्रतिपत्ति स्वत: हो जाती है।[१]

जीव

उपनिषद में जीव की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं मिलता। इसके विरुद्ध अज, नित्य, शाश्वत तथा अविनाशी आत्मा का वर्णन मिलता है। नैयायिकों ने मन का स्वरूप अणु और आत्मा का विभु माना है। वे सुषुप्ति दशा में आत्मा और मन का वियोग मानते हैं। श्री भास्कराचार्य जी ने ब्रह्म और जीव में भेदाभेद को ही स्वीकार किया है, किन्तु शुद्धाद्वैतवाद की मूल भित्ति इसके अत्यंत विरुद्ध है। वहाँ तो जीव का स्वरूप वस्तुत: अणु ही माना जाता है। ब्रह्मसूत्र में 'नाणु अतच्छ्रुतै:' सूत्र जीव के अणुत्व का विरोधी है, किन्तु जीव के व्यापकत्व, विभुत्व आदि प्रश्नों का समर्थन अंशांशि के विलयावस्था में ही संभव है, अन्यथा यदि जीव की व्यापकता ब्रह्म के रूप में मानी जाएगी तब तो शंकर मत के साथ वल्लभ मत का सांकर्य हो जाएगा और यदि वह व्यापकता जीव रूप में मानी जाएगी तो ज्ञान, तृप्ति, सुख और दुख का साक्षात् अधिकरण एक व्यक्ति का आश्रित जीव अन्य व्यक्ति के आश्रित जीव के तृप्त होने पर तृप्त हो जाएगा। व्यवहार जगत् में ऐसा नहीं होता। अत: जीव का अणु स्वरूप मानना ही उचित है। इस पर अन्य सम्प्रदाय वाले यह शंका करते हैं कि जीव का अणु स्वरूप मान लेने पर सम्पूर्ण शरीर में एक साथ चैतन्य की उपलब्धि कैसे हो सकती है। इसका समाधान गिरधरजी ने जीव को प्रभाववान्, इतरापेक्ष तथा विलक्षण कह कर दिया है। उनका कहना है कि जीव की गति इतनी द्रुततम है कि वह एक काल में ही सम्पूर्ण शरीर में युगपत् व्याप्त रहता है।[२]

शक्ति और शक्तिमान में आश्रय और आश्रयी का भेद वास्तविक नहीं है, अपितु काल्पनिक है। कर्म जड़ है। वह स्वयं भोक्ता नहीं हो सकता। ईश्वर यदि कर्माधीन हो तो उसकी स्वतंत्रता नष्ट हो जाएगी। इसलिए जीव को ही फल का भोक्ता मानना पड़ेगा। उसकी कर्तृता स्वत: या भगवत्प्रेरणा पर अवलम्बित है। यहां शंका उठ सकती है कि जीव और ब्रह्म का धर्म भिन्न है अथवा अभिन्न। जैसे सूर्य और उसके तेज में भेद नहीं है, वैसे ही धर्म यदि ब्रह्म है तो धर्मी भी उससे भिन्न नहीं हो सकता।[३]

'प्रमेयरत्नार्णव' में अणु स्वरूप जीव के दो भेद बालकृष्ण भट्ट ने किए हैं। एक है देव और दूसरा असुर। प्रथम भेद के भी दो भेद हैं—मर्यादामार्गीय तथा पुष्टिमार्गीय। भगवान का अविद्या के संबंध में देवत्व संपादन, मर्यादा मार्गीय जीवों की अपेक्षा विशेष अनुग्रह के आधार पर पुष्टिमार्गीय फल प्राप्ति आदि सब कादाचित्क है। मर्यादामार्गीय जीव ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग आदि अनेक लिप्साओं पर लुब्ध हो कर सदा शास्त्र प्रतिपादित आचरणों के पालन में ही

---

१. विद्वन्मंडन, पृ० ११-२४

२. शुद्धाद्वैतवाद मार्तण्ड, कारिका ४३, और उस पर प्रकाश, पृ० ३०-३१

३. धर्माधर्मि विचारोऽपि ज्ञेयमेवं विचक्षणैः
प्रकाशाश्रय दृष्टान्तेप्यभेदो बोध्यते किल।

—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, कारिका ,पृ० ५०

कर्त्तव्य की इति मान बैठता है। संभव है कि उसे भी मोक्ष मिलता हो, किन्तु ऐसी संख्या स्वल्प होगी। पुष्टिमार्गीय जीव तो सर्वात्मना स्वात्म का समर्पण कर और शास्त्र विधि के प्रपंच से अछूता रह कर ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।[१]

जगत्

जगत् के निरूपण प्रसंग में सृष्टि और उसके विलय का प्रश्न भी स्वाभाविक है। दृष्ट वस्तु की सृष्टि और उसके द्वारा ही अदृष्ट जगत् की कल्पना की जा सकती है। ब्रह्म की रूपोपासना जागतिक प्रक्रिया है। यह कथन अनुचित न होगा कि प्रकृति नटी का उच्चावच गमन, उप्लुति तथा अपप्लुति का नियति के अनुसार तिरोधान एवं आविर्भाव का वर्णन ही दर्शन कहलाता है। वस्तुत: दृष्टि के उपघात का संवरण और असंवरण दोनों ही दर्शन के अभिधेय के लिए हैं।

श्रीमद्‌भागवत के तृतीय स्कंध में ब्रह्म का 'त्व' शब्द से निर्देश, अनेक शरीरों द्वारा धर्म संरक्षण अथवा धर्मतत्व का गुह्य स्वरूप और निर्विकल्प ब्रह्म सभी का प्रतिपादन उपलब्ध होता है।[२] यही जगत् है। वहाँ पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों का समीकरण स्पष्ट ध्वनित होता है। ज्ञान की गुह्यता को स्वीकार करते हुए भी अनुग्रह मात्र से वर्ग की प्राप्ति वल्लभाचार्य का ध्येय है। योगियों की उद्दीप्त ज्योति, ब्रह्म योनि तथा अयोनि ब्रह्म आदि प्रक्रियाएँ अनावश्यक और क्लिष्ट हैं। प्राग्भाव आदि का अनंगीकार तो सभी दार्शनिकों के लिए समान रूप से अनावश्यक है। वर्तमान वस्तु की अनुभव योग्यता और उसका आविर्भाव और तिरोभाव इन्द्रिय सहकृत होने पर भी जैसे आत्मवेद्य है, वैसे ही साधनावस्था में इन्द्रिय निरपेक्ष क्षणिक साध्यानुभूति अनुभव की दुर्बलता पर आधारित है। उसका आविर्भाव और तिरोभाव तो क्षणिकता में ही गतार्थ है। इसलिए ही वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार जगत् और संसार दोनों का जन्म न होकर अविधा सहकृत आविर्भाव और तिरोभाव होता है।[३]

'तदनन्यत्वं आरम्भण शब्दादिभ्य:' तथा 'वाचारम्भण विकारो मृतिका इत्येव सत्यं' इन दोनों ब्रह्म सूत्रों के आधार पर श्री वल्लभाचार्य को तथा उनके परिवर्ती गिरधर जी महाराज को कार्य और कारण की एकता मानने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। अत: उन्हें विवश होकर अवस्था भेद और रूप भेद की कल्पना मृतिका के दृष्टान्त के द्वारा ही करनी पड़ती है।[४] कार्य और कारण की एकता वल्लभ सम्प्रदाय में ही मान्य है। श्री शंकराचार्य तो सर्वथा मिथ्यात्व

---

१. प्रमेयरत्नार्णव, जीव स्वरूप निरूपणम्, पृ० ९

२. त्वन्न: सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्त्वया।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकल्पो भवान्मत:॥

—स्कन्ध ३, अध्याय १६, श्लोक १८ और उस पर सुबोधिनी टीका

३. सुबोधिनी, स्कंध ३, अध्याय १६, श्लोक २४

४. पूर्वावस्था तु मृदूषा घटावस्था ततोऽभवत।
घटोऽपि मृत्तिका रूपो लये पश्चाच्च मृत्तिका।

—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, कारिका ४१

आश्रयत्व, होने के कारण उनमें भेद मानते हैं।

यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं, क्या शुद्धाद्वैत में विग्रहोपासना की पद्धति का दृष्टि जगत् से समन्वय हो सकता है? और क्या किसी एक ही विग्रह पर एक नियत, पद्धति से अवलम्बित रहना दर्शन की उपेक्षा नहीं है? ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे पर उसी प्रकार निर्भर करते हैं, जैसे प्रकोष्टक की इष्टिका एक-दूसरे पर आधारित है। सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म के रूप में निरीक्षण करने का अर्थ है प्रत्येक वस्तु को ब्रह्म मानना। यदि एकत्व केन्द्रिता नहीं है, तो अनेकत्व अर्थात् व्यष्टि की उत्पत्ति निसर्गतः हो जाएगी। दो चार का अनुगमक धर्म अंतः सत्ता का प्रयोजक नहीं, क्योंकि वह एक है। बाह्याकृति का स्थूल भेद ही उसका प्रयोजक हो सकता है। उपास्य और उपासक की भावना में मूलतः अनुगमन धर्म का अभाव रहता है विग्रह की आकृति का स्पष्टीकरण भेद का साधक न होकर एकत्व का ही प्रतिष्ठापक है। एक रूप की उपासना एकत्व की ही समर्थिका है। उपासना और दर्शन दोनों में समन्वय करने के लिए 'एकोहं बहुस्यामि' श्रुति का उल्लेख मिलता है।

अविद्या

वल्लभ सम्प्रदाय वालों को अविद्या जनित बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की चर्चा अत्यधिक खलती है। उनका कहना है कि अन्तःकरण पक्ष में जीवन मुक्त व्यक्ति भी संसारी हो सकते हैं और उसके अभाव में सर्वथा परम मुक्ति की ही प्राप्ति होती है। ऐसी परिस्थिति में जीवन मुक्ति के प्रश्न का ही विलय हो जाता है। अतः अविद्या को मानना आवश्यक है।[१] शंकरमतानुयायियों का यह तर्क अमान्य है कि प्रारब्ध रूप में अवशिष्ट अविद्या की तत्पर्यन्त अवस्थिति अवश्य रहती है। ब्रह्म के साक्षात्कार के अनन्तर जीवन्मुक्त पुरुष की सभी दुरित और प्रतिबन्धक सामग्रियों का नाश अवश्यम्भावी है। रज्जुज्ञान के अनंतर किसी व्यक्ति को किसी भी अंश में सर्प का ज्ञान नहीं हुआ करता। अंगुलि आदि के सम्पर्क से जैसे चन्द्र आदि में द्वैताभास होना अवास्तव है, वैसे ही अविद्या के द्वारा ब्रह्म में अनेकाभास अयथार्थ है। जीव का भी अनेकावभास असंभव है।[२]

एक मुख्य समस्या यह है कि अविद्या और ब्रह्म का क्या सम्बन्ध माना जाय? संयोग सम्बन्ध की चर्चा नहीं हो सकती क्योंकि दोनों विभु रूप हैं। अध्यास का तो सर्वथा अभाव है। स्वरूपात्मक सम्बन्ध मानने पर संसारित्व दोष के साथ ही उसकी क्षणिकता का दोष भी उपस्थिति हो जाता है। अनिर्वचनीय अनादि सम्बन्ध स्वीकार करने पर जीव विभाग को भी अनादि मानना पड़ेगा और अविद्या सम्बन्ध तथा जीव विभाग का कार्य-कारण भाव स्थिर करना दुरूह है। काल्पनिक अभेद सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है क्योंकि ब्रह्म और अविद्या में

---

१. **अन्तःकरणपक्षे जीवन्मुक्तस्य तत्सत्वे संसारित्वमेव स्यात्। तदसत्वे परममुक्तिरेवेति एवं जीवन्मुक्तिः अविद्या पक्षस्तु सुतराम् संगतः**

—विद्वन्मंडन, पृ० ६९

२. **वही, पृ० ६४-६६**

समानरूपता और समानगुणता नहीं है।[१] इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि जीव की निश्चित साधन के अभाव में न तो मुक्त रूप में हो सकती है और न बद्ध रूप में, क्योंकि उसमें भवितव्य है और इन दोनों के अतिरिक्त अवस्था बुद्धिगम्य नहीं है।[२] जबकि ब्रह्म और अविद्या का कोई निर्दोष सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता तब माया रूप में अविद्या का अस्वीकार करना हो शुद्धाद्वैत दर्शन का विषय है।

श्री वल्लभाचार्य का संसार रूपता में शंकर के सिद्धांत के साथ संघर्ष केवल प्रपंच रूप में ही हैं। अविद्या स्वरूपता, अज्ञान, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और आरोप में अधिष्ठान स्वरूप प्राणाध्यास (आरोप) का प्रपंच मात्र ही है। वह यदि स्वतः अथवा उपाय द्वारा नष्ट हो जाय तो उसके साथ ही उसकी कार्यभूत अहंता तथा संसाररूपता का भी विनाश संभव है। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध मायिक नहीं अपितु तात्विक है। सम्बन्ध है भी या नहीं, यह विवादास्पद है, क्योंकि सम्बन्ध दो पृथक वस्तुओं में होता है। अंशाशि भावभेदक न होकर भेद व्यावृत्ति का पोषक है। नामान्तर मात्र से वास्तव भेद की कल्पना यदि की जाएगी तो दाहक अथवा प्रकाशक शक्तियों से विरुद्ध पदार्थ में भी विस्फुलिग प्रमाणित हो सकता है।

माया को जन्य अथवा अजन्य मानने की भी एक जटिल समस्या है। यदि उसे अजन्य मान लें तो अद्वैतवाद की स्थिति डाँवाडोल हो जाएगी और 'आत्मैवेदयग्र असीत' श्रुति से विरोध होगा। उसे जन्य मानने पर उसका जनक ब्रह्म ही होगा, किन्तु तब ब्रह्म में सविशेषता की आपत्ति उपस्थित हो जाती है। अतः इस सम्बन्ध में विवाद करने से कोई लाभ नहीं। शंकराचार्य ने अविद्या से मुक्त चैतन्य को कार्य और माया से युक्त चैतन्य को कारण माना है। वहाँ मत सांकर्य हो जाता है। इसलिए उसकी निवृत्ति के लिए शुद्ध विशेषण लगाना आवश्यक है। अद्वैत विशेष्य में शुद्ध विशेषण का एक देशीय पदार्थ में अन्वय मानना ही उचित है। इस प्रकार माया के सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म कार्य और कारण उभय रूप होते हुए भी मायिक नहीं है। शंकर मत में संसारावस्था में ब्रह्म को माया से लिप्त और संसार को मायिक माना है। इसके विरुद्ध वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को नितांत शुद्ध और संसार को तद् व्यतिरिक्त यथार्थ माना है। गिरधर जी महाराज ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए शुद्ध और ब्रह्म में कर्मधारय समास स्वीकार किया है।[३] सुवर्ण आभूषणावस्था में भिन्नाकार प्रतीत होता है परन्तु वह वस्तुतः भिन्न है यह समझना भ्रान्ति है।

---

१. अन्तःकरणपक्षे जीवन्मुक्तस्य तत्सत्वे संसारित्वमेव स्यात्। तदसत्वे परममुक्तिरेवेति एवं जीवन्मुक्तिः अविद्या पक्षस्तु सुतराम् संगतः —विद्वन्मंडन, पृ० ६७-६८

२. व्युत्पत्तिवाद, कारिका १

३. शुद्धाद्वैतपदेज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः॥
मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम॥

—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, कारिका २७-२८

मोक्ष

सामान्यतः सभी वैष्णवाचार्यों का ध्येय शंकर के ज्ञान की प्रधानता का विनाश करना भी रहा है। उन्होंने ज्ञान के स्थान पर भक्ति की प्रधानता स्थापित की है। जिस भक्त की मनोभावना इष्टदेव की पराकाष्ठा को प्राप्त हो चुकी है, वह कभी मोक्ष के द्वारा अपनी उपासना से मुक्ति पाना नहीं चाहेगा। वह तो क्षण मात्र भी उपास्य देव से पार्थक्य की कल्पना नहीं करेगा। वह न केवल द्वैत-अद्वैत, मुक्ति-भुक्ति तथा ज्ञान-अज्ञान के विवादमान विषयों से ही विरक्त रहता है अपितु विधि निषेध की चिता से भी उन्मुक्त रहना चाहता है। ऐसी स्थिति में वैष्णव दर्शन की उपयोगिता संशय में पड़ जाती है। अतएव वैष्णवाचार्यों ने अपने सम्प्रदाय एवं विग्रहोपासना को निगम और आगम के द्वारा प्रमाणित किया है।

वैष्णव दर्शन में भक्ति और भक्ति के द्वारा प्रतिपाद्य तन्मयता को ही भगवत् सान्निध्य मोक्ष माना गया है। यद्यपि सायुज्य का भी उल्लेख है, किन्तु वस्तुतः उसका वहाँ कोई स्थान नहीं है। शुद्धाद्वैतवाद में भक्ति के साथ ही ज्ञान की अंगता स्वीकार की गई है। भक्त और भजनीय का भेदक ज्ञान उपासना का मूल है। उपचार और उसकी पद्धतियाँ भिन्न सत्ता की पोषिका हैं। इसलिए यदि भक्ति के साथ ज्ञान का प्रसार न हो तो भक्ति स्वतः अपूर्ण रह जाएगी। भक्ति और कर्त्तव्य का संयोग समन्वयात्मक है। यह तभी संभव है जब भक्ति और ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का परस्पर साध्य और साधन भाव स्वीकार कर लिया जाय। जीव की आत्यन्तिक मुक्ति सायुज्य नहीं वरन् अनुग्रहणीय है। मर्यादा मार्ग (वैदिक मार्ग) एक मात्र ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्ति का चाहे समर्थन करे और उसके द्वारा जीव को अक्षर प्रकृति पुरुष का प्रत्याभास भी चाहे हो, किन्तु लीला पुरुषोत्तम आनन्दकंद श्री कृष्णचन्द्र की प्राप्ति अनन्य भक्ति के द्वारा ही साध्य है।[१]

उपास्य, पुष्टिमार्ग और भक्ति

कृष्ण शब्द में आए हुए वर्ण सांकेतिक हैं। उन वर्णों की अपनी महत्ता ब्रह्म की ओर स्वभावतः आकृष्ट करती है।[२] भगवान कृष्ण को पूर्ण, पुरुषोत्तम, नित्यानंद स्वरूप, अपाणिपाद, सच्चिदानंद, विग्रह तथा पूर्ण ब्रह्म मानना आवश्यक है, अन्यथा कृष्ण का स्थान एक विशिष्ट विभूति के सदृश हो जाएगा। श्रीमद्‌भागवत में भी 'कृष्णास्तु भगवानस्वयं' उक्ति द्वारा इसका पोषण मिलता है। पुराणों के कृष्ण का द्विभुज औद विष्णु का चतुर्भुज होना लिखा है। यह उनकी एकता में बाधक नहीं है। कालिक एवं दैशिक भेद से वह महामायावी द्विभुज तथा चतुर्भुज रूप में अंतर्दृष्ट होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में इसका स्पष्ट उल्लेख है।[३] कृष्ण दशावतारों

---

१. अणुभाष्य, तृतीय अध्याय ३ पादः पृ० १०५९-१०६७

२. कृषिर्भूवाचकः प्रोक्तो णश्चनिर्वृत्तिवाचकः।
तपोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण अत्यभिधीयते॥ —प्रमेयरत्नार्णव, पृ० ११

३. परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुंठे गोकुले स्वयं
चतुर्भुजश्च वैकुंठे गोकुले द्विभुजं स्वयं।
—ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय ७, श्लोक ३२

के मूल स्वरूप हैं। वे ही पुरुषोत्तम स्वरूप, अक्षर रूप और अंतर्यामी रूप हैं। यही अलौकिक प्रमेय है जिसकी प्राप्ति भगवत् कृष्ण पर ही आधारित है।

वल्लभाचार्य का कहना है कि ज्ञानमार्ग से पुरुषोत्तम की प्राप्ति कल्पनातीत है। अन्तस्थ लीलावतार भगवान श्रीकृष्ण की षडविधि तथा षोडशविधि उपासनाओं के द्वारा ही वह संभव है।[१] स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम लीला की बुद्धि से, न कि इच्छा से, अपने सत्, चित् और आनन्द तीनों पूर्ण अंशों के अतिरेक को तिरोहित कर जीव संज्ञा का बोधक होता है इस तरह लीला का प्रसारण और आकुंचन ही क्रमश: जीव और ब्रह्म है। जैसे अनेक भेष धारण करने वाले शैलूष का नैसर्गिक स्पष्ट प्रतीयमान व्यक्तित्व परिवर्तित नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म जब लीला बुद्धि से जीव संज्ञा ग्रहण कर लेता है, तब उसका स्वव्यक्तित्व (इतरभिन्नत्व) का लोप कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान आचार्य ने यह कह कर किया है कि परात्पर परब्रह्म में लौकिक दृष्टान्तों का समन्वय संभव नहीं है।

विद्वन्मंडन में इसी विषय को लेकर आविर्भाव और तिरोभाव के कारणों को अत्यन्त स्पष्ट किया गया है। वहाँ अनुभव की विषय योग्यता को आविर्भाव और अनुभवशून्यता को तिरोभाव बतलाया गया है।[२] हो सकता है कि अनुभव की चरमावस्था में संसारी जीव को भी, जिसकी प्रकृति अत्यन्त आसुरी है, तिरोभाव के सदानन्द का रसास्वादन मिलता हो, किन्तु फिर भी उसकी सिद्धि तो पुष्टिमार्ग के द्वारा ही हो सकती है। लौकिक ऋद्धियाँ और वैदिक सिद्धियाँ सभी पुष्टिमार्ग पर आधारित हैं। ज्ञान की स्वीकृति में उच्चावच्य के साथ भक्ति का उच्चावच्य और फिर उभय विधि सिद्धियों का उत्तमाधम भाव मानने का झंझट उपस्थित हो जाता है। अत: प्राणि मात्र का कर्त्तव्य है कि वह पुष्टि मार्ग का अवलम्बन ग्रहण करे। वह केवल अनुग्रह के साध्य है। उसके लिए प्रपंचों की चर्चा में पड़ना अनावश्यक है।[३]

पुष्टिमार्ग का शब्दिक अर्थ पोषण पद्धति है। 'पोषण तदनुग्रह:' आदि वाक्य शब्दिक अर्थ के अतिरिक्त किसी काल्पनिक अभिव्यंजना की ओर आकृष्ट नहीं करते। पुष्टि का कार्य लोकसिद्धि अनुग्रह, गूढ़ भावाभिव्यक्ति, उत्तम फल जनन-स्वभाव, वलवत् प्रतिबन्ध का निवारण तथा अनिष्ट फल वाली शंका का सुकृति के द्वारा उपशमन करना है। वह द्रव्यांश के आधान अथवा नाम संकीर्तन अथवा स्वत: अनुग्रह के आधार पर प्रकट होती है। पुष्टि भक्ति

---

१. **तेन ज्ञानमार्गीयाणां न पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति सिद्धम्।**
यस्यान्तस्थानीत्यनैन परस्य लक्षणमुक्तम्।

—अणुभाष्य, ३:३:३३, पृ० १०८८

२. **अनुभवविषयत्व योग्यता आविर्भाव:**
तदविषयक अयोग्यता तिरोभाव:

—विद्वन्मंडन, पृ० ७

३. **अनुग्रहेणेव सिद्धिलौकिकी यत्र वैदिकी।**
न यत्नादन्यता विघ्न पुष्टिमार्ग: स कथ्यते॥

—प्रमेयरत्नार्णव, पुष्टिविवेक, कारिका २, पृ० १९

का स्वरूप है भगवत् स्वरूप के अतिरिक्त अन्य की फलाकांक्षा का न होना। मर्यादा भक्ति का यथार्थ न होकर केवल बाह्य आवरण ही है। यहाँ तो सम्बन्ध, साधन और फल सब ही भगवत् इच्छा से प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मावाप्ति के लिए इससे सीधा और सरल उपाय और दूसरा कोई नहीं है। इसमें भक्ति के आविर्भाव की भी अपेक्षा आगे चल कर नहीं होती। स्वतंत्र रूप से जिस प्रकार का भी अनुभव हो उस अनुभवाभास का ही यदि निरंतर आत्माधिकार में पोषण होता रहे तो ब्रह्मावाप्ति हो जाती है। पुष्टिमार्गीय जन, संयोग में जितना आह्लादित होता है वियोग में भी उतने आह्लाद का अनुभव करता है।[१] वर्तमान शरीर में अपने स्वत्व का भाव न होना और परोक्षावस्था में भी सदा अर्थी बने रहना पुष्टि भक्ति की विशेषता है। चरमावस्था में सर्वभावेन समस्त विषयों का परित्याग और देहादि का आराध्य में समर्पण इच्छा के बिना अपने आप ही हो जाता है। व्यक्ति चाहे जो हो, यदि उसके हृदय में आरम्भ से ही भगवत्कृपा का अंकुर प्ररोहित है, इस मार्ग का अधिकारी है। यहाँ स्वयं भगवान् ही सम्पूर्ण बाधाओं का निवारण तथा भक्ति को पुष्ट करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। इस मार्ग में दीक्षित होकर प्रत्येक व्यक्ति आदेश का पालन करे, माया मोह से निवृत्त रहे और स्थाणु की भाँति उसकी अचल स्थिति हो यही इस सम्प्रदाय का उपदेश है।[२]

भाष्य लिखने का प्रयोजन

अनेक जन्मों के निरंतर तपोनुष्ठान करने पर भी पर्याप्त मात्रा में सुकृति राशि का संचय हो पाता है, या नहीं, यह सन्देहास्पद है। अल्प प्रयास में अधिक फल प्राप्ति और अधिक प्रयास में स्वल्प फलों की प्राप्ति प्रारब्ध सूचक न होकर भगवत् अनुग्रह का सूचक है। ब्रह्म निरूपण के साथ-साथ उनकी शक्तियों का निरूपण और शक्तिज कार्यों का समवधान शंकर के प्रारब्धवाद का विलोपक है, अन्यथा उपासना और तत्सहकारी भक्ति पद्धति का विलय हो जाएगा। फलतः सभी वैष्णव आचार्यों की दृष्टि भक्ति और उपासना के साथ दर्शन के समन्वय की ओर आकृष्ट हुई। इसी कारण उन्होंने ब्रह्म सूत्र पर भाष्य लिखना आवश्यक समझा। उसकी उपयोगिता वल्लभाचार्य ने आत्मा का वास्तव ज्ञान और उससे सम्बन्धित विरोधी तर्कों का उन्मूलन बतलाया है। यदि आत्मज्ञान की परम्परा भ्रामक या विकृत हुई तो उससे बढ़ कर और कोई पाप नहीं हो सकता।[३]

---

१. यत्र वा सुखसम्बन्धी वियोगे संगमादपि।
सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥
—प्रमेयरत्नार्णव, पुष्टिविवेक, कारिका १५, पृ० २२

२. कृष्णवाञ्छं सदाकार्य मायामोहं निवार्यहि।
वृक्षवन्तु स्थितिः कार्या शुद्धन्नेन च वर्त्तयेद्॥ —वही, फलविवेक, पृ० ४३

३. 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' —नैषा तर्केण गतिरापनेया इति
—अणुभाष्य, १:१:१, पृ० १७

बुद्धि भ्रम स्वाभाविक है। परम स्वार्थ मोक्ष भ्रामक बुद्धि दोष से उत्पन्न सिद्धांत के द्वारा कभी संभव नहीं है। इसलिए सूत्रात्मक शास्त्र का स्वायत्तीकरण आवश्यक है।[१] यद्यपि वेदान्त शास्त्र का फल ब्रह्म साक्षात्कार नहीं है, शब्दात्मक शास्त्र, अनुभववेद्य ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार करा भी नहीं सकता, फिर भी वेदान्त शास्त्र के सतत अनुशीलन से अनुभव शक्ति में स्थिरता अवश्य प्रस्फुटित होती है। सभी प्रकार के वेदान्त ब्रह्मपरक ही हैं। शब्द की समता मात्र से किसी मत की सिद्धि अथवा संदिग्ध वाक्य से असंदिग्ध पदार्थो का निर्णय असंभव है। उसके लिए सर्वथा त्रिकालवाधित अनुभूति शास्त्र का ही आश्रय लेना पड़ता है। जहाँ तक सांसारिक वस्तुओं का सम्बन्ध है, वहाँ शरीर के अन्तस्थित अनेक द्रव्यों और उनके विशेष गुणो की कल्पना करना वेदान्त शास्त्र के लिए भी आवश्यक है। यह अवश्य है कि अन्ततः सबका पर्यवसान योग्य भोक्ता और भोजक में ही होता है। आगे चलकर अविज्ञानवान को अनधिकारी बताया गया है। सम्पूर्ण भूतों मे आत्म रूप चैतन्य अन्तर्हित है, इस भावना का प्रकाशन सूक्ष्म और श्रेष्ठ बुद्धि का कार्य है। सूक्ष्म बुद्धि वह है जो वेदान्त के द्वारा निर्मित हो अथवा भगवद् ज्ञान में प्रतिबिबित हो। दूसरे शब्दो में यह भी कहा जा सकता है कि तत्वतः ज्ञान के अनन्तर ही बुद्धि में अंतः प्रवेशक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद

महाप्रभु चैतन्य द्वारा लिखित कोई भी सैद्धान्तिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। उनकी प्रेरणा षड्गोस्वामियों ने और उनके बाद विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के लगभग गोविन्ददास उपनाम बलदेव विद्याभूषण ने दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाया है। अन्य साहित्यिक ग्रंथों और जीवनियों में भी यत्र-तत्र बिखरे हुए विचार मिलते हैं। उनके आधार पर गौडीय सम्प्रदाय का मत अचिन्त्य भेदाभेद के नाम से प्रसिद्ध है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद का सुन्दर समन्वय इन आचार्यो ने किया है। यद्यपि अन्य दर्शनों की भाँति यहाँ भी सृष्टि और प्रलय, इष्ट और अनिष्ट की हानि तथा प्राप्ति, कर्म फल का प्रतिबन्ध, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता का अवस्थाकृ त भेद तथा अभेद, विर्वत एवं परिणाम आदि की विवेचना मिलती है, किन्तु ब्रह्म, जीव, मोक्ष तथा इन तीनों के गुण, क्रिया और स्वरूप के विवेचन मे अधिक बल दिया गया है। अन्य विषयों को या तो मतैक्य के कारण ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है अथवा केवल संकेत मात्र ही यथेष्ट समझ लिया गया है। शंकराचार्य के ब्रह्म की संजहीर्षा एवं संचिकीर्षा इच्छाएँ, सृष्टि का उदय और विलय, अविद्यामूलक एवं विद्यामूलक मोक्ष आदि विषयों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि ब्रह्म निर्गुण निराकार न होकर साकार है, वह अद्वैत न होकर अचिन्त्य है, मोक्ष पारमार्थिक ही

---

१. संदेहवाहकं शास्त्रं बुद्धिदोषात् तदुद्भवः।
विरुद्धशास्त्रसंभेदादंगेश्चाशक्य निश्चयः॥
तस्मात् सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः।
अन्यथा प्रश्यते स्वार्थन्मध्यमश्च तथादिपः॥

—अणुभाष्य, पृ० २०

नहीं स्वार्थिक भी है और ज्ञान निरालम्ब न होकर श्रीकृष्ण के रूप गुण तथा क्रिया पर सदा अवलम्बित है।

प्रमाण

प्रत्यक्ष ज्ञान पर कुछ निर्भर नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह मायावित है। जीव के लिए एकमात्र ज्ञान की प्राप्ति शब्द के द्वारा ही संभव है। वह शब्द ज्ञान ब्रह्म की प्रेरणा से तीन साधनों से प्राप्त होता है—गुरु, आम्नाय तथा श्रुति।[१] वेद संक्षेप रूप है। उसका विस्तार इतिहास तथा पुराणों में मिलता है। पुराणों का महत्व इतिहास से अधिक है। वे कल्पभेद से तीन भागों में विभक्त हैं सात्विक, राजसिक तथा तामसिक। केवल सात्विक पुराण ही प्रमाण कोटि में आ सकते हैं। उन पुराणों में भी वैमत्य मिलता है जिसका समाधान वेदान्तसूत्र के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी अनेक टीकाएँ और भाष्य हैं। वेदव्यास ने स्वयं ही उसका भाष्य श्रीमद्भागवत के रूप में किया है। शंकराचार्य ने लक्षणावृत्ति के द्वारा भाष्य कर नास्तिकता का प्रचार किया है।[२] अतः श्रीमद्भागवत ही परम प्रमाण और पुनीत ग्रन्थ है।

ब्रह्म

श्री शंकराचार्य के अनिर्वचनीय ब्रह्म का स्वरूप ग्राह्य नहीं है, क्योंकि अनिर्वचनीयता ब्रह्म के अत्यन्ताभाव की समर्थिका भी हो सकती है। साथ ही जगत् जैसी अनिर्वचनीयता यदि उसमें भी मान ली जाय तो संसारावस्था में भी ब्रह्म और जगत् में भेद स्थिर करना दुष्कर कार्य होगा। ब्रह्म के लक्षण और सभी गुण स्वाभाविक रूप से श्रीकृष्ण में संगत हैं। वही शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव ब्रह्म हैं। अतः ब्रह्म की अनुभव वैधता किसी तद्तद् विलक्षण अनिर्वचनीयता पर आश्रित न होकर भगवान कृष्ण के व्यामोहक रूप और गुण पर आश्रित है। ज्वरार्त प्राणी को शीतल जल जैसा सुस्वाद लगता है, वैसे ही भौतिक व्याधियों से विद्ध प्राणीमात्र को श्रीकृष्ण का नाम सुचारु तथा शाश्वत सुखद प्रतीत होता है।[३]

---

१. मायामुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्ण ज्ञान।
जीवरे कृपाय कैल कृष्ण वेद पुराण।
शास्त्र गुरु आत्मा रूपे आपना जानान।
कृष्ण मोर प्रभु भ्राता जीवेर हय ज्ञान।

—चैतन्य चरितामृत, मध्य, अध्याय २०, पृ० ६००

२. वही, अध्याय ६, पृ० १४९

३. ध्यानं च संकीर्तनवत् सुखप्रदं
यद् वस्तुनोभीष्टतरस्य कश्चित्।
चितेन भूत्यापि यथेच्छमुद्
भवेच्छान्तिस्तदेकाति विषक्ति चेतसाम्।
यथाज्वररुजार्तानां शीतलामृत पाथसः
मनः पानादपिश्रुयेतृडवैकुल्यं मुखं भवेत्॥

—वृहद् भागवतामृत २ : ३ : पृ० १५४-१५५

शून्यवाद और ज्ञानवाद निराधार हो अथवा समष्टि पर अवलम्बित, फिर भी प्रमात्मक यथार्थता के लिए किसी श्रेय-प्रेय देने वाली मूर्ति को हृदाकाश अथवा चिदाकाश में प्रतिष्ठित नहीं करना चाहिए। उसे अभिव्यक्त, अनुपम, रूपान्तर एवं अलौकिक श्रीकृष्ण में ही अन्तर्हित करना चाहिए। यह चैतन्य सम्प्रदाय का सार है।[१] सामवेद का स्तुति परक गान, यजुर्वेद के अनुष्ठानात्मक मंत्र, ऋग्वेद की आख्यायिकाएँ आदि सभी भगवान श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर लिखी गई हैं। वेदों के तात्पर्य को स्पष्ट करने वाले इतिहास और पुराण भी देवादिदेव कृष्ण को ही नृसिह, वामन, राम आदि अनन्त रूप बतलाते हैं। सर्वगुण सम्पन्नता रूप में ही स्थिर नहीं है, उसका नाम और रूप के साथ दृढ़ सम्बन्ध है। अतः यह मानना कि किसी एक नाम एवं रूप को साधन का अंग बना कर कोई साधक यथार्थ सिद्धि प्राप्त कर सकता है, भ्रम है। भगवद् विग्रह नित्य तथा अप्राकृत है। श्री रूप गोस्वामी ने दानकेलि कौमुदी तथा ललित माधव में इसका उल्लेख किया है।

ब्रह्म कृष्ण सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से सर्वथा शून्य है। आराध्य भगवान श्रीकृष्ण वैदूर्यमणि के सदृश्य हैं, जिसकी विशेषता यह है कि वह स्वयं और उससे प्रतिबिम्बित पदार्थ भेद शून्य सा प्रतीत होता है। भेदाभाव और भेदकार्य का प्रमात्मक ज्ञान और वहीं पर कदाचित् स्पष्ट भेदानुभूति का प्रतिनिधि 'विशेष' कहलाता है।[२] नैयायिकों ने ही सर्वप्रथम विशेष को भेदाभाव में भेद का आभासक, अदृष्ट और अचेतन पदार्थ माना था, किन्तु प्रस्तुत सिद्धान्त में वह चेतन रूप में परिणत हो गया है। भेद व्यवहार तो इसका पूर्ववत् स्थिर ही है। यदि विशेष को न स्वीकार किया जाएगा तो गुण और गुणी की भावना का समाधान नहीं हो सकेगा। उसके द्वारा ही अचिन्त्य भेदाभेद को सिद्ध करने में सरलता होती है।[३]

जीव और ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन भेदरूप से करना दुष्कर है। चिन्ता से व्यावृत धर्मो के समवाय में ही भेद सम्भव है। समस्या यह है कि यदि दोनों में व्यावृत धर्मो का अत्यन्ताभाव है तो फिर क्यों न दोनों में सर्वथा अभेद ही स्वीकार कर लिया जाए। इसका समाधान जीव गोस्वामी ने सुन्दर रीति से भगवत् संदर्भ की 'सर्वसंवादिनी' टीका में किया है। उनका कहना है कि भेदाभेद उभय की चिन्ता बाह्य उपकरणों अथवा करणों एवं अन्तः अनुभव अथवा ज्ञान किसी के द्वारा संभव नहीं है। स्वरूप तथा उससे सम्बद्ध सर्वज्ञत्व, विभुत्व आदि गुणों में इतना अधिक साधर्म्य है कि हमको विवश होकर शक्ति और शक्तिमान में भेदाभेद स्वीकार करना

---

१. वृहद् भागवतामृत २ : २ : पृ० १६६-१६७

२. यत्र भेदाभावोभेदकार्य च प्रमिते तत्रैव भेदप्रतिनिधिर्विशेषः कल्पते।

—सिद्धान्तरत्न, पृ० २३

३. तेनेव तस्य वस्त्वभिन्नत्वं स्वनिर्वाहकत्वं च स्वस्य तादृशे तदभावो जृंभकम् अचिन्त्यत्वं सिद्धयति।

गोविन्द भाष्य, सुषमा टीका, ३ : २ : ३७

पड़ता है।[१] भेद अर्थात द्वैत जीव तथा अभेद अर्थात अद्वैत ब्रह्म का सम्बन्ध अचिन्त्य है, अर्थात सूक्ष्म बुद्धि द्वारा भी गम्य नहीं है। इतना ही नहीं ब्रह्म की अपनी शक्तियाँ अपरिच्छिन्न होने के कारण स्वयं अचिन्त्य हैं। जीव विभु होकर भी अपनी उद्‌भावक अचिन्त्य शक्तियों के कारण भेद तथा अभेद का ही प्रयोजक है। आराध्य और आराधक भाव लघुता अथवा गुरुता का द्योतक नहीं है।

भगवान श्रीकृष्ण ही परातत्व हैं। शक्ति—शक्तिमान् का भेदाभेद तर्कयुक्ति से अगम्य है अत: वह अचिन्त्य है। जो प्रकृति से परे आप्रकृत वस्तु है, वह जीव बुद्धि से अचिन्त्य है। ब्रह्म स्वरूप से शक्ति की अभिन्न एवं भिन्न रूप में चिन्तना न कर पाने के कारण वह तर्कयुक्ति से भी अचिन्त्य है।

विष्णु पुराण के आधार पर भगवान की तीन शक्तियाँ मानी जाती हैं स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति और मायाशक्ति।[२] बाह्य स्वरूप के साथ ही साथ श्रीकृष्ण के अंत:स्वरूप का साक्षात्कार स्वरूप या पराशक्ति है जिसे चित् तथा अंतरंग नाम से भी पुकारा जाता है। वैकुंठादि इसी स्वरूप के वैभव हैं। भक्तों की श्रेणी के अनुसार वह तीन भागों में विभक्त हो जाती है—ह्लादनी, संघिनी तथा संवित। ह्लादनी शक्ति का प्रादुर्भाव भक्त के हृदय में होने पर उसे भक्ति और भजनीय दोनों का अपने से भिन्न अनुभव नहीं हो पाता। इसी आनन्द की अवस्था को आचार्यों ने यत्र-तत्र कालिक मोक्ष शब्द से व्यक्त किया है। संघिनी और ह्लादनी दोनों शक्तियाँ परस्पर समन्वित होकर ऐहिक और आमुष्मिक फलों की हेतु बन जाती हैं। सृष्टि का निर्माण भी इन्हीं पर आधारित है। सत् स्वरूप ब्रह्म जिस अनिर्वचनीय हेतु सत्ता से अपनी सत्ता को जीव शक्ति में हस्तांतरित करता है, और जो सर्वदेश, सर्वकाल और सर्वद्रव्य में व्याप्ति का साधन है, उसे ही संघिनी शक्ति कहते हैं।[३] ज्ञान स्वरूप ब्रह्म जिस शक्ति के द्वारा अपने को प्रकट करता है उसे संवित शक्ति कहते हैं।

---

१. अतो भेदाभेदवादो विशिष्टवस्तु अपेक्ष्येवप्रवर्तताम् अभेदवादश्च विशेषानुसन्धान-राहित्येनेति। अपरेतु तर्काप्रतिष्ठानात् ब्रह्मसूत्र २:१:१११ भेदेऽपि अभेदेऽपि निर्भर्यादात् दोषसत्वाति दर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुं अशक्यत्वात् अभेदं साधयन्तः तद्वत् भिन्नतथापि चिन्तयितुमशक्यत्वात् भेदमपि साधयन्तोऽचिन्त्य भेदाभेदं स्वीकुर्वन्ति।

—सर्वसंवादनी, पृ० १४९

तथा:—अद्वैतं ब्रह्मणो भिन्नमभिन्नं वा त्वयोच्यते।
आद्ये द्वैतापत्तेरन्ते सद्भिसाधनता श्रुतेः

—प्रमेयरत्नावली, प्रमेय ४, पृ० ९३

२. विष्णु शक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्यातथापरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीयाशक्तिरिष्यते॥

—विष्णुपुराण, ६:६:६१

३. सदात्मापि च यां सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिनी।

—सिद्धान्तरत्न, पृ० ३९-४०

ब्रह्म तीन स्वरूप धारण करता है। संकर्षण, अथवा महाविष्णु रूप में वह अनन्त जीवों एवं प्रकृति पर, जो विस्फुलिग की भाँति उसके अंग हैं, शासन करता है। प्रद्युम्न रूप में वह जीवों के अन्त:करण का समष्टि रूप में नियंत्रण करता (जीवान्तर्यामी) है। प्रथम स्वरूप में प्रकृति तथा जीव की पृथक सत्ता नहीं रहती, किन्तु द्वितीय स्वरूप में जीव प्रकृति से अलग हो जाता है। अनिरुद्ध रूप से वह प्रत्येक जीव के अन्तस्तल में निवास करता है। लीलावतार कृष्ण अनन्त स्वरूप धारण कर भक्तों को अनुभूत होता है। तीन स्वरूप धारण कर वह नाना रूपों की श्रृंखला बना लेता है।

जीव

भक्ति का व्यापक विवेचन और कर्त्तव्य का निर्देश प्रत्येक वैष्णव दर्शन में मिलता है। उसके बाद कर्तृ रूप से जीव का प्रश्न अनिवार्यत: उपस्थित होता है। वह जीव विभु नहीं हो सकता, क्योंकि तब ब्रह्म की विभुता के साथ उनका संघर्ष होगा। भक्ति की चरम सीमा दास्य भाव में पर्यवसित होती है। यदि जीव को अणु न स्वीकार किया जाएगा तो अंगागि भाव का पोषक दास्य नहीं हो सकेगा। जीव की नम्रता और ब्रह्म की उत्कृष्टता दातृदेव भाव से आभासित होती है।[१] वह शुद्ध और माया से मुक्त है, किन्तु मायासक्त है। वह चेतन होते हुए भी अस्वतंत्र है और उसमें कर्त्तव्य की शक्ति नहीं है।[२]

जीव की पृथक नित्य सत्ता होते हुए भी उसका अष्टादश दोषों का आश्रय स्वभाव सिद्ध है।[३] अन्य सम्प्रदायी उनमें से अनेक दोषों का साक्षात् कारण इन्द्रिय अथवा उसके संचालक मन को मानते हैं, जीव अथवा आत्मा को नहीं। चैतन्य मत की विशेषता है कि वह 'रथगत्येव सारथि:' का सम्बन्ध सीधे जीव के साथ जोड़ता है। यदि मन को सारथी माना जाएगा तो भक्तिकाल में वह कदाचित् भक्त को विचलित कर सकता है। भक्ति उन आत्म सम्बद्ध दोषों का निराकरण या मार्जन नहीं करती। ये दोष श्रीकृष्ण के सान्निध्य में या तो स्वत: प्रकाश के कारण गुण रूप में परिणत हो जाते हैं अथवा भक्त उन दोषों की ही कामना करता है, क्योंकि उसके द्वारा ही भगवान् का साक्षात्कार होता है। जीव सेवक, कर्ता और कर्मफल का भोक्ता है। उसकी अपनी सार्थकता निरन्तर भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा और पूजा में ही निहित है, किन्तु उसके लिए वह स्वतंत्र है। इसी के कारण वह या तो नित्यमुक्त होता है अथवा नित्यबद्ध। अविद्या माया की आवरणात्मिका अथवा विक्षेपात्मिका वृत्ति के वशीभूत होकर बद्ध जीव अपने स्वभाव को भूल जाता है। जब तक वह अपने शरीर के साथ तादात्म्य बनाए रखता है, अथवा निर्वाण की ओर उन्मुख रहता है, उसे भक्ति करने योग्य भगवत् तनु की प्राप्ति नहीं होती।

---

१. **प्रमेयरत्नावली, षष्ठ प्रमेय, पृ० ९८-९९**

२. **चेतनस्यापि जीवस्याश्म काष्ठलोष्ट्वत्।**
अस्वातंत्र्यात् स्वत: कर्तृत्व रूपानापत्ति:।

—गोविन्द भाष्य, २:१:२३

३. **हरिभक्ति रसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, लहरी १, पृ० १७६-१७७**

चैतन्य चरितामृत में जीव दो प्रकार के बताए गए हैं—(१) नित्यमुक्त और (२) बद्ध। नित्यमुक्त ही कृष्ण पार्षद हैं। श्रीकृष्ण करुणावान् हैं जो ह्लादनी प्रधान स्वरूप शक्ति की वृत्ति विशेष को भक्त-चित्त में निक्षिप्त कर देते हैं। इससे भगवत्सेवा और भगवत्परिकरत्व प्राप्त हो सकता है। आनुगत्यमयी सेवा से वह परमास्वाद्य रस ब्रह्म श्रीकृष्ण की लीला माधुरी का आस्वादन करने योग्य हो जाता है। बद्ध जीव वे हैं जो अनादिकाल से कृष्ण बहिर्मुख मायाबद्ध आत्म विस्मृत हैं। वे महत्कृपा और साधना से श्रीकृष्णसेवा प्राप्त कर सकते हैं।[१]

जगत्

श्री शंकराचार्य ने जगत् को जगत् के अर्थ में यद्यपि प्रपंच माना है, किन्तु सत्य अर्थ में वे उसे ब्रह्म से भिन्न स्वीकार नहीं करते। उसका कारण संभवत: यह है कि उनके मत में साध्य, साधक और साधना का कोई स्थान नहीं है। चैतन्य सम्प्रदाय में वे तीनों बातें प्रमुख रूप से स्वीकार की गई हैं। वे स्थूल जगत् को वास्तविक मानते हैं। वह रज्जु में सर्प भ्रांति की भाँति असत्य नहीं है, वरन् घटवत् नाशवान है। प्रश्न यह है कि यदि सत् जगत् का उपादान कारण है तो फिर वह असत्य कैसे हो सकता है। अत: उसकी प्रतीति को असत्य क्यों न स्वीकार किया जाए, जैसे शुक्ति में रजत का भ्रम होता है। किन्तु सत्य से आविर्भूत पदार्थ सत्य ही हो यह निश्चित नहीं है। अग्नि से उत्पन्न प्रकाश में दाहकशक्ति नहीं होती।[२] इस प्रकार जगत् न तो असत्य है और न अनादि, वह सत्य है फिर भी परिवर्तनशील है और ब्रह्म की शक्ति के अनुसार आविर्भूत अथवा तिरोभूत होता है। इस अर्थ में सत्कार्यवाद तथा परिणामवाद दोनों ग्रहणीय हैं।[३] जगत् के विलयन और अभिव्यक्ति के संबंध में चैतन्य मत शंकराचार्य के सदृश्य बद्ध मौन है। कदाचित् उन्होंने प्रवाहनित्यता स्वीकार कर ली होती तो अद्वैतवाद के साथ उसका विरोध एकमात्र शाब्दिक ही रह जाता, सैद्धान्तिक नहीं। यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जीव की अविद्या जगत् के अध्यास का कारण है। वस्तुत: ब्रह्म ही सभी का कारण है और चूँकि वह सत्य स्वभाव वाला है[४], वह किसी अवास्तविक की रचना नहीं कर सकता।

चैतन्यमत में जगत् निरूपण का साम्य सांख्यमत के प्रकृति निरूपण से पूर्णतया मिलता है। दोनों में प्रधान भेद यह है कि अचिन्त्य भेदाभेद में प्रकृति भगवान् के बहिरंग शक्ति का स्वरूप है और सर्वथा परतंत्र है। वह वास्तविक पदार्थ होते हुए भी आभूषणवत् नाशवान है। सांख्यमत में उसकी स्वतंत्र सत्ता है और वह सृष्टि के आदि और अंत में भी त्रिगुण रूप में स्थिर रहती है।[५] प्रकृति जड़ रूपा है। वह स्वयं सृष्टि करने में असमर्थ है। जिस प्रकार लोहे

---

१. चैतन्यचरितामृत, २/२२/७-१३
२. षटसंदर्भ, भगवत्संदर्भ, पृ० ६९
३. वही, परमात्मसंदर्भ, पृ० २५९
४. सत्य स्वाभाविका चिन्त्यशक्तिः परमेश्वरस्तुच्छ मायिकमयि न कुर्यात्।
—वही, पृ० २६२
५. द फिलासोफी आफ श्री चैतन्य, पृ० १४४

में दाहक शक्ति अग्नि से ही प्राप्त होती है, वैसे ही प्रकृति में सृजनात्मक शक्ति ईश्वर से ही प्राप्त होती है। माया के माध्यम से संकर्षण स्वरूप ब्रह्मा ही प्राकृताप्राकृत की सृष्टि करता है।[१]

माया

माया इस जगत् के हेतु रूप में उपलब्ध होती है। द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष आदि भेद व्यावहारक सामग्रियाँ उससे ही उत्पन्न होतीं और पनपती हैं। सूर्य प्रकाश बिना सूर्यमंडल में स्थित नहीं रह सकता, किन्तु प्रतिबिम्बित होकर वह प्रकाश दृष्टिदोष उत्पन्न कर सकता है और नानावर्णो की अनुभूति करा सकता है। उसकी प्रकार ब्रह्म की अंतरंग शक्ति से अनुप्राणित होकर माया अपना विस्तार करती है। वह दो रूप धारण करती है—जीवमाया और गुणमाया। प्रथम भू, श्री तथा दुर्गा शक्ति के रूप में सृष्टि, पालन और संहार करती है और द्वितीय जड़ात्मिक रूप से जगत् की कारण है और आत्म माया के रूप में भगवतेच्छा की शक्ति है। आत्म माया के तीन स्वरूप होते हैं स्वरूप शक्ति, ज्ञान क्रिया तथा चिच्छक्सि विलास।[२]

वैकुंठ में माया का प्रवेश नहीं है क्योंकि वह स्वयं स्वरूप शक्ति रूप है, किबहुना वह साक्षात मोक्ष ही है।[३] माया का प्रभाव अशेष जगत् पर है जगदाश्रित भगवत् प्रीति पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता । भगवान् की प्रीति और उसकी वृत्तियाँ मायात्मिका और मायामयी नहीं होतीं। वस्तुतः उनकी अनिर्वचनीय अतएव अलौकिक स्वरूप शक्ति ही आनन्द है और उस आनन्द के अधीन स्वयं भगवान कृष्ण हैं।[४] यह भक्त हृदय की भक्ति का उज्ज्वल प्रमाण है। शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों ने भी माया के निमंत्रण प्रसंग में ब्रह्म की शक्ति को ही प्रधान बतलाया है।

मोक्ष

सम्पूर्ण ऐहिक वासनाओं का त्याग और बीच की खाई माया का समूल नाश करना अर्थात जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही मोक्ष है। उसकी विशेषता है शाश्वत सुख की प्राप्ति। अद्वैत दर्शन इसके लिए निर्विकल्पक ज्ञान को अनिवार्य समझता है। अचिन्त्य भेदाभेद में उसके स्थान पर भक्ति को प्रश्रय दिया गया है। यह निर्विवाद है कि संचित कर्मो के परिपाकोन्मुख होने पर

---

१. जड़ हेते सृष्टि नहे ईश्वर शक्ति बिने।
तहाते संकर्षण करेन शक्ति आधाने।
ईश्वरेर शक्त्ये सृष्टि करये प्रकृति।
लोहयेन अग्नि शक्तिये धरे दाह शक्ति।

—चैतन्य चरितामृत, मध्य, परिच्छेद २०, पृ० ६२२

२. षडसंदर्भ, भगवत्संदर्भ, पृ० ७३

३. वही, प्रीतिसंदर्भ, पृ० ६७५

४. भगवत् प्रीतिरूपावृत्तिर्मायादिमयी न भवति। किं तर्हि स्वरूप शक्त्यानन्द रूपा यदानन्दपराधीनः श्री भगवानप्रीतिः।

—वही, पृ० ७२४

तदनुकूल विभिन्न योनियों में जीव का भ्रमण होता है। उस कर्माशय की दृढ़ ग्रन्थि को खोलना या सदा के लिए नष्ट कर देना वासुदेव की भक्ति पर ही निर्भर है। कृष्ण प्रसाद से शिवलोक निवास से ही प्राप्त दुर्लभ मुक्ति आयासेन प्राप्त हो जाती है। उसके लिए अबला अथवा जाति आदि कोई बाधक नहीं होते, किन्तु उसके लिए उतने ही योग्य भक्त की भी आवश्यकता होती है।[१] भक्त अत्यन्त हार्दिक अनुराग भाव से अपनी परम गति को प्राप्त कर सकता है। यहाँ व्यक्ति की अपनी भावना ही प्रधान है। उसके द्वारा वह जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है।

मोक्ष का अर्थ न केवल शरीर का त्याग है, वरन शरीर की स्थिति में भी अनेक बंधनों और प्रतिबन्धकों का त्याग भी है। भक्ति जीव को मुक्ति की ओर अग्रसर करती है और उसका अल्पज्ञत्व और सांसारिकत्व समाप्त होने लगता है। इसी कारण उसकी दृष्टि में सामाजिक भेद भाव का कोई मूल्य नहीं होता। कर्मकांड के विलोप से उत्पन्न भय की आशंका तो उसे कभी होती ही नहीं। भावावेश में भक्त इतना आत्मविभोर हो जाता है कि उसे चारों पदार्थ तृण तुल्य प्रतीत होते हैं और उसे एक पंचम आलोक का आभास होने लगता है।[२] शास्त्रों में वर्णित ज्ञान द्वारा प्राप्त मुक्ति कठोर साधना से साध्य, क्षणिक और असुखद है। योग, सांख्य, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग आदि मोक्ष के साधक न होकर भक्ति के साधक हैं। भक्ति दशा में प्रत्येक प्राणी को प्रतिपल ब्रह्मानन्द का अनुभव हुआ करता है। यही वास्तविक मोक्ष है।

शारीरिक, ऐन्द्रिक और आत्मिक तापों का शमन मोक्ष का रूप है। समस्त सुखों का प्रतिष्ठान ज्ञान पर आधारित है, यह असाधारण मिथ्या अध्यास है। सुदूर स्थान पर हुई दुर्घटना की सूचना के पूर्व मनुष्य सुखी रहता है, उसके ज्ञान में अनन्तर ही उग्र संताप का अनुभव होता है। वस्तु के अभाव में ही दुःख नहीं होता प्राप्ति के बाद भी अधिकाधिक प्राप्ति की जिज्ञासा भी उसकी कारण होती है। सभी दोषों का उपशमन भगवान कृष्ण के दिव्य शरीर का साक्षात् अथवा अनुभासतः प्रत्यक्ष करने पर ही संभव है। उस दिव्य तनु के दर्शन पर संसार की सभी आकर्षक वस्तुओं से विराग, मनसा, वाचा और कर्मणा स्वयं ही हो जाता है। अतः मोक्ष का प्रथम सोपान भगवत् साक्षात्कार, द्वितीय सोपान उनका नाम कीर्तन तथा तीसरा सोपान विभिन्न प्रकार की उपासनाएँ हैं।

शीतोष्ण सुख, दुःख, द्वन्द्व, इच्छा, काल तथा चेतना के अनुकूल वस्तुओं के प्रति क्षणिक अनुराग और द्वेष, मृत्यु साधक सामग्रियाँ, प्रकृति का प्रकोप आदि मनोधर्म सर्वथा एकाग्र हो

---

१. **कृष्णप्रसादात्तेनैवमादृशामधिकारिणाम्।**
अभीष्टार्पयितुं मुक्तिस्तस्य पत्यापि शक्यते॥
अहो सर्वेपि ते मुक्ता शिवलोके निवासिनः।
मुक्ता तत्कृपया कृष्ण भक्ताश्च कतिनाभवन्॥

—वृहद् भागवतामृत, २:२:८४, ८५

२. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, पृ० ३२-३६

जाने पर एकरूपता का आश्रय लेकर भगवान श्रीकृष्ण के विराग, द्वेष, ईर्ष्या और असूया का रूप धारण कर लेते हैं। आगे चलकर इसी की उत्कर्षता मोक्ष कहलाने लगती है। भगवान (साकार) अवतार और उनकी मौलिक लीलाएँ सभी मोक्ष की ओर प्राणिमात्र को अग्रसर करती हैं। जिस प्रकार मोक्ष भक्ति के द्वारा भगवान के दिव्य तनु के अवलोकन पर निर्भर है, उसकी प्रकार वृन्दावन के पार्श्ववर्ती भूमि में भी यह शक्ति है कि वह पंच महाभूतों के दृढ़ पाश से व्यक्ति मात्र को बिना भेदभाव के मोक्ष प्रदान करें। चूँकि गुण और क्रिया निरावलम्ब नहीं रह सकती, इसलिए उन्हें भगवान कृष्ण के आश्रित कर देना चाहिए।[१]

भक्त और भक्ति

स्वात्मनः भगवान के आश्रित होकर उनकी ही चिन्ता करने वाला एकान्त भक्त कभी उनकी दास्यता का त्याग नहीं करना चाहता। जब तक भगवदनुग्रह न हो जीव स्वभावतः भक्त नहीं हो सकता। सत्संग एवं भगवन्नामोच्चारण के द्वारा वह उस ओर प्रवृत्त होता है। पापों की बहुलता और प्रारब्ध कभी-कभी कीर्तन का शीघ्र फल होने में बाधा डालते हैं, किन्तु श्रद्धा के साथ उसे निरंतर करते रहना चाहिए। आनन्द स्वरूप ब्रह्म ह्लादनी शक्ति के प्रस्फुटन से स्वयं जीवांश को युग्यत् आनन्द की अनुभूति कराता है। वह लीला के द्वारा भक्त के माध्यम से अपना ही आनन्द प्राप्त करता है। जीव गोस्वामी ने भक्त की तीन कोटियाँ स्वीकार की हैं। उत्तम भक्त समस्त भूतों को आत्म तथा भगवत्भाव से देखता है। मध्यम भक्त सत्संग, दया और प्रेम मैत्री का व्यवहार करता है। निम्न कोटि का प्राकृत भक्त केवल पूजा करता है। सत्संग आदि नहीं।

जीव तथा जीवाश्रित शरीर के अन्तः और वाह्य शुद्धियों एवं अन्य पूजा के आडम्बरों पर चैतन्य सम्प्रदाय का समान बल नहीं है। हृषीकेश की सेवा ही सब कुछ है। वैराग्य के बिना भौतिक स्थिति में ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। षोडश कला सम्पन्न कृष्ण की विधिशून्य उपासना भी शून्य को पूर्ण और पूर्ण को अमृत कर देने में समर्थ है। विधि प्रतिपादित सुकृत कर्मो का अंतिम फल स्वर्गानुभूति है जो अशाश्वत है। भक्ति द्वारा ब्रह्म लोक की प्राप्ति शाश्वत और नित्य है। गोलोक ब्रह्मलोक से भिन्न नहीं अथवा स्वयं भगवान कृष्ण ही गोलोक हैं।[२] वैधी भक्ति केवल भगवान के प्रति उन्मुख कर सकती है। उसकी उपयोगिता आत्मनिवेदन अथवा शरणापत्ति की भावना का उदय है।

वस्तुतः भक्ति का उत्कर्ष रागानुगा भक्ति में परिलक्षित होता है। भगवान के प्रति लौकिक भावों का आरोप करना रागात्मिका वृत्ति कहलाती है। समस्त कार्यो को उन्हीं के प्रति करना

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग, लहरी ३, पृ० ३९०

२. गतिः शमदयाद्यानां स्वर्गः सुकृतकर्मणां।
ब्रह्मे तपसियुक्तानां ब्रह्मलोकः परागतिः॥
गवामेव तु गोलोको दुरारोहाहि सागतिः।
सत्लोकः त्वया कृष्ण सीदमानः मृतात्मनः॥

—वृहद् भागवतामृत, २:७:८३-८४

भक्ति की उत्कृष्टता है। व्रजवासियों ने उसका आदर्श प्रस्तुत किया है। वह भक्ति कामरूपा और संबंधरूपा भेद से दो प्रकार की होती है। उनमें भी प्रथम श्रेयस्तम है। जगत् में एक कामिनी जैसे अपनी समस्त ऐषणाओं एवं चेष्टाओं को स्वप्रेमी में केन्द्रित कर तल्लीन हो जाती है वैसे ही श्रीकृष्ण की माधुरी मूर्ति का दर्शन कर माधुर्य भाव में विभोर होना ही परम लक्ष्य है। अंतिम अवस्था में अभेद की अनुभूति महाभाव में परिणत हो जाती है। राधाकृष्ण का प्रेम भक्तों का साध्य है।[१] इसी माधुर्य भक्ति का शिक्षण करने के लिए पूर्ण शक्तिमान ने स्वशक्ति के साथ अवतार लिया था। वस्तुतः वे एक ही स्वरूप और दो रूप हैं। दोनों में भेद होते हुए भी अभेद है।[२]

भक्ति रस की उद्बोधिनी अह्लादिका शक्ति श्री राधा हैं। जिनकी कृपा का ही सुफल है भक्ति अथवा भगवत्प्रेम। इस आनन्द का उद्गम, पोषण और संवर्धन एकमात्र सर्वश्रेष्ठ नायक श्रीकृष्ण की अन्तरंगा शक्ति राधा के अनुग्रह से ही सम्भव होता है। वे ही इस रस को निक्षिप्त कर देती हैं। इस रस के आस्वादक वस्तुतः वे ही भक्त हैं जिनके हृदय में प्राक्तनी और आधुनिकी (इस जन्म की) उत्तम भक्ति भावना विद्यमान है।

अचिन्त्य द्वैत

अचिन्त्य द्वैत

मध्वगौडीय सम्प्रदाय गौडीय सम्प्रदाय की ही एक शाखा है और उनके ही प्राचीन वाङ्मय को उसने अपना मान कर ग्रहण भी किया है। गोपाल भट्ट ने अपनी सत्ता को पृथक बनाये रखने के निमित्त अपने दर्शन में थोड़ा भेद कर लिया है। वे अपना सिद्धान्त अचिन्त्य द्वैत स्वीकार करते हैं। जिसका प्रधान आधार माध्वमत है। 'मध्वमुखमंडन' में उन्होंने अचिन्त्य द्वैत की सार्थकता की विवेचना की है। द्वि इत से निष्पन्न द्वैत (ब्रह्म और जीव) स्मृति योग्य नहीं है यह उनका शाब्दिक अर्थ है। स्मृति का अभाव, प्रतियोगी अर्थात पर्युदस्त

---

१. उज्ज्वलनीलमणि में रूपगोस्वामी ने उस अवस्था का इस प्रकार वर्णन किया है—
अधूणामतिवृष्टिभिद्र्वगुणयन्त्यर्कात्मजा निर्झरं।
ज्योत्स्नस्यन्दि विधूपलप्रतिच्छायं वपुर्षिभ्रती।।
कंठान्तस्पुटदक्षराद्यपुलकैर्लब्धा कदम्बाकृतिं।
राधावेणुधरप्रवातकदलीतुल्या क्वचिद्वर्तते।।

—राधाप्रकरण, श्लोक ४२, पृ० ९२-९३

२. मृगमदतार गन्ध येछे अविच्छेद।
अग्नि ज्वालाते येछे कभू नाहि भेद।
राधाकृष्ण ऐछे सदा एकई स्वरूप।
लीलारस अस्वादिते धरे दुई रूप।

—चैतन्य चरितामृत, आदि, परिच्छेद ४, पृ० ८७-८८

मूलाधार के अभाव का बोधक है।[१] व्यवहार और व्यावहारातिग दशा में जीव तथा ब्रह्म का पार्थक्य अवश्य सनातन है। परस्पर उनके गुण, उनकी इच्छा शक्ति और उनकी स्वांश में पूर्णता एवं विभुता भी भिन्न है।

ब्रह्म और जीव

यहाँ पर शंका होती है कि यदि जीव और ब्रह्म वस्तुत: भिन्न हैं तो अचिन्त्य कैसे और यदि अचिन्त्य हैं तो उनके भेद का प्रमात्मक ज्ञान किस प्रकार सम्भव है? विरोध नित्य और अनित्य दो प्रकार के होते हैं। सभी दर्शनों में शाश्वत और अशाश्वत नाम से उनका उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म तथा जीव की अनेकता का पुष्कल प्रमाण मिल सकता है। अचिन्त्य विशेषण मूल द्वैत तत्व की पृथकत्व भावना का निषेधक न होकर उसके व्याप्य और तद्‌भाव सम्पन्न गुण का निषेधक है। अत: उपर्युक्त दोषाभास का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। मन को छोड़कर शेष दस इंद्रियों से स्मृति का साक्षात अथवा परम्परित संबंध अमान्य हैं। इहामुत्र, भुक्तामुक्त, स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेक विषयों का अहैतुक सहसा उत्पन्न प्रतिच्छायात्मक अनुभव भी स्मृति है। इसलिए मनोज्ञान मात्र पर निर्भर ब्रह्म और जीव का पार्थक्य और उनकी पार्थक्य विभाजक उपाधियों की सूक्ष्मता वाङ्मनसातीत अतएव अचिन्त्य हैं।

लोकेषणा में बद्धमूल जीव कदाचिदपि ब्रह्म से असन्निहित प्रतीत नही होता। राधारमण की युगल मूर्तियों में शक्ति तथा शक्तिमान में तादात्म्य ही लक्षित होता है। ब्रह्म तथा जीव की अचिन्त्यता का परिपोषण भी उस विग्रह का उद्देश्य है। जीव तथा ब्रह्म और ब्रह्म के भी सगुण निर्गुण भेद एवं दर्शन जगत्‌ के पर, अपर और अक्षर ब्रह्म की विभिन्न अवस्थाएँ कोरी कल्पना है।

माया

द्वैतवाद ब्रह्म तथा जीव को ही लेकर नहीं उत्पन्न होता। उसके अन्तस्तल में अन्तर्हित सूक्ष्म रूप से अविद्या को भी प्रचुर प्रश्रय मिलता रहता है। ज्ञान का स्वत: प्रमाण्यवाद इसी पर ही आधारित है। सत्, चित् और आनन्द आदि वस्तुएँ द्रव्याश्रित मूर्त की सहयोगिनी मात्र हैं। रामानुजाचार्य का विशिष्ट शब्द माया के समवायात्मक नित्य सम्बन्ध का द्योतक है। जीव और ब्रह्म कदाचित, माया का स्पष्ट आवरण होने पर भी एक दूसरे के सन्निधान में सहसा प्रतीत होने लगते हैं। गोपालभट्ट ने नव्य न्याय की शैली में इस प्रश्न को उठा कर इसका अच्छा समाधान किया है। विशेषण और विशेषणतावच्छेदक धर्म विधिवाद का पोषक न होकर वस्तुवाद का समर्थक है। विशिष्ट शब्द संबंध द्योतक के साथ ही स्वयं विशेषण भी है, और निरवच्छिन्न विशेषता असम्भव ही नहीं शास्त्रत: एवं लोकत: अग्राह्य भी है। अचिन्त्य शब्द

---

१. **चित् धातु स्मृति का बोधक है। ण्यत् या यत् प्रत्यय योग्य, समर्थ, संभव, अर्थ का वाचक है। नञ्र्थ अभाव, वस्तु भाव प्रतियोगिक मूल सत्ता का निषेधक है। समवाय और विशेष्य विशेषण तादात्म्य नञ्र्थ के सहायक हैं।**

साक्षात विशेषण न होकर इतर धर्म का समन्वयात्मक मात्र है।[१]

शंकर से लेकर परवर्ती सभी आचार्यों ने मिथ्यात्व की चर्चा की है। 'मध्वमुखमंडन' के उपसंहार प्रकरण में संसार की समस्त वस्तुओं को अध्यास मान कर और जीव तथा ब्रह्म की परस्पर उपाधि विभाजकता को अस्वीकार कर मिथ्यात्व का निर्देशन किया गया है। विशेष पदार्थ परमाणु जैसी नगण्य वस्तु का विभेदक न होकर दो चैतन्यों के चिदंश की मापक तुला है। यद्यपि वह नित्य वृत्ति अनन्त है तथापि नित्य तथा अनित्य की सीमा से बाहर ब्रह्म तथा जीव के अन्वय व्यतिरेक का रूप धारण कर लेने पर वह अनन्त न होकर एक है, और नित्य वृत्तिहीन होकर भी एक है। माया, असत् ख्याति, अविद्या और अध्यास इस दर्शन में एक रूप है। सृष्टि की पर्यालोचना अविद्या का विषय न होकर तथ्य है।

भक्ति और भजनीय

जीव का कर्त्तव्य भगवत् सेवा में ही पर्यवसित होता है। सेवा विभु और जीव बद्ध या संसारी है। सेवा से परामुख होना ही कर्त्तव्य की हानि और बद्धता का परिचायक है। मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति राधारमण के विग्रह की तन्मयता पर अवलम्बित है। सायुज्य, सान्निध्य और सामीप्य मुक्तियाँ केवल शब्द वैचित्र्य हैं। वस्तुत: सृष्टि और सर्जक का तद्रूप्य जीव की मुक्ति हैं। निरंतर जन्म लेकर सेवाभाव से भगवान की शरणागति लेना जीव का प्रमुख कर्त्तव्य है। सेवक पर सदानुग्रह और उनकी समस्त ऐषणाओं की निर्हेतुक पूर्ति करना ब्रह्म का कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्य से च्युत होने पर जीव और ब्रह्म दोनों अनुशय करते हैं। अन्य दर्शनों में ब्रह्म के कर्त्तव्यों अथच अनुशय आदि का विरोध मिलता है, क्योंकि विधि और निषेध से शून्य ब्रह्म पर किसी शास्त्र का शासन नहीं हो सकता। अचिन्त्यद्वैत दर्शन का तर्क है कि आचार परम्परा का अतिक्रमण करने वाले उपदेशक का उपदेश्य पर दुर्बल प्रभाव पड़ता है। उपदेशक की सर्वशक्तिमत्ता एवं विभुता की ओर उसका ध्यान नहीं आता, यही कारण है कि वेदों के उपवृंहण भाग (पुराण, इतिहास) में ईश्वर के ऊपर शाप, अन्यकृत संघर्षों की प्रतिक्रिया और देवायत्त फलोपभोग आदि का निर्देश मिलता है। अत: ब्रह्म केवल उपदेशक ही न होकर अनुष्ठाता भी है और जीव के तादृश अनुष्ठान का विधाता भी है। ज्ञातृ और ज्ञेय से सम्बद्ध विधि निषेध की परम्परा का निर्वाह भगवान को भी करना पड़ता है। वास्तविकता और ब्रह्म की दिव्य विशेषताओं का प्रतिभास तो व्रजवासी राधारमण की दिव्य मूर्तियों में ही सन्निहित है। ब्रह्म सगुण, भक्त परतंत्र और भक्ति के लिए लालायित है। जीव सेवक ईषद् गुण सम्पन्न, भजनीय सापेक्ष और भक्त्याधान है। मुक्ति सर्वत्र समान रूप से उपलब्ध है, किन्तु सभी क्रियाओं का समर्पण राधारमण में ही होना चाहिए। मूर्ति की उपासना प्रारम्भिक न होकर आवसानिक भी है।

---

१. **न प्रयत्नाधिक्यात् प्रयत्नार्थक्यं न व साम्यवाद: अन्तर्हित क्रियाया: सूक्ष्मत्वाविशेषणात् तत्र तत्रोपलब्धि: ईश्वरस्य सर्व शक्तिमत्वात् चिदात्मकत्वाच्च।**

—मध्वमुखमंडन, उद्देश्य प्रकरण, पृ० ३२

सिद्धाद्वैत

ब्रह्म एवं कृष्ण

राधावल्लभ सम्प्रदाय का सिद्धान्त सिद्धाद्वैत अथवा द्वैतासिद्धि के नाम से ज्ञात है। उन्होंने चतुर्प्रमाणों में शाब्द को और उसमें भी श्रीमद्भागवत को ही ग्रहणीय माना है। ब्रह्म कृष्ण रूप में विभु, सर्वशक्तिमान, लोकाश्रय, मायाश्रेय, कर्माश्रय, कर्मफल का प्रवर्तक और सच्चिदानन्द विग्रह स्वरूप है। वह नित्य, स्वतन्त्र, राधिकावल्लभ, साक्षात् रसरूप और सर्वदोष विवर्जित है। वह ज्ञान, आनन्द आदि गुणों के कारण सगुण और माया के गुणों से अतीत होने के कारण निर्गुण है।[१] नित्यलीलानुरक्त एकाकी रमण नहीं कर पाता। अतः उसकी सर्जनात्मक इच्छा सृष्टि के लिए और उसके उपकरणों के लिए उसे प्रेरित करती है। राधा पत्नी रूप में उसके साथ प्रतिक्षण नित्य विलास किया करती है।[२] ब्रह्म (अक्षर, अप्राकृत), ईश्वर (प्राकृत, देव) आदि की शक्तियाँ राधा की शक्तियों के समक्ष नगण्य ही नहीं वरन् उनकी कृपार्द्र दृष्टि की अभिलाषुक हैं। सतीर्थ सम्पन्नता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वगुण समवाय समन्विता आदि अद्भुत तथा सर्वजन विमोहक क्रियाएँ, वे चाहे भावात्मक हों या भावनात्मक, सभी राधा में ही उपलब्ध हैं। निश्चय ही निखिल कार्यो में शक्ति की अपेक्षा हुआ करती है, किन्तु लोक में शक्ति स्वयंहीन है। बिना सहायक के अमूर्त शक्ति का उपयोग असम्भव है, परन्तु काल्पनिक जगत्, सृष्टि के निर्माण, संरक्षण संहार आदि कार्यो में शक्ति स्वयं सशक्तिक है। वह राधा है। ब्रह्म नपुंसक पर राधाशक्त है।[३]

भागवत् में 'द्रोणोवसूनां प्रवरोधरया सह भार्यया' का उल्लेख अचिन्त्यशक्तिमत्ता, असीम वैभव तथा अपरिमित गुण समुदाय का पोषक है। गीता में भी योनिगर्भ भूतोत्पत्ति का उल्लेख ब्रह्म के स्त्रीत्व का निदर्शन करता है।[४] गर्भग्रहण, उत्पादन, भरण, वर्द्धन तथा विलयन आदि शक्तियॉ स्त्रीत्व की विशेष सम्पत्ति हैं। उपचयापचय साम्य, ह्रासक और वर्द्धक गुणों का पोषक न होकर उनके अभाव का पोषक है। इसलिए उसमें सृष्टि के निर्माणदि गुण असंभव हैं। ब्रह्म

---

१. अतः सगुणागुणयोर्ब्रह्मणोरभेद एव वेदान्ते निरुपितः

—सुसिद्धांतोत्तम, विश्वकारण निर्णय, पृ० ४५

२. एकोदेवो नित्यं लीलानुरक्तः एकाकी न रमते से द्वितीयमेच्छत। सपतिः पत्नी चाभवताम् इत्यादि श्रुतिषु पत्नीरूपं श्री राधाख्य तत्वे सत्वे एव तद्देव सत्वमित्यन्वयात्।

—व्यासभाष्य, १:१:१

३. अतः अचिद्विश्वस्य चैतन्यं ब्रह्म कारणम्। ननु चेतनाज्जगदुत्पत्ति स्वीकारे असत्यकार्यवादप्रसंगात्सत्कार्य बाधापपित्तिरिति चेन्न। तदा तदात्मकत्वात् तस्मिन्सूक्ष्म रूपेण वर्तमानत्वात्।

—सुसिद्धांतोत्तम, विश्वकारण निर्णय, पृ० २९

४. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्नगर्भ दधाम्यहं।
स्म्भवः सर्वभूतानां ततोभवति भारत॥

—गीता, १४:३

और प्रकृति का स्वाभाविक ग्रन्थिबन्धन चर-अचर समस्त जगत् के उत्पादन का हेतु अन्य दर्शनकारों ने भी स्वीकार किया है। राधासुधानिधि में हित हरिवंश ने राधामाधव के प्रेम व्याज से दोनों की कौमार्य अवस्था का पोषण, उनकी भावी क्रियाओं का निर्देशन तथा आदर्शभूत लौकिक चरित्रों का अनुकरण ध्वनित किया है। यह इस सम्प्रदाय के सूक्ष्म दार्शनिक भेद का द्योतक है।[१]

विवाह का वाचिक अर्थ विशेष भार वहन करने की क्षमता है। जीव माया से उद्‌बुद्ध अथवा प्रेरित होकर अंकुर रूप में ऐन्द्रिक रति का आभास पाता है। क्रिया की अयोग्यता में उसका नाम मात्र भी स्फुरण नहीं होता। साधारण जनों के लिए दर्शन को सुबोध बनाने के निमित्त यह आवश्यक है कि ब्रह्म और प्रकृति की समस्त क्रियाओं का विश्लेषण तद्रूप किया जाए। राधा शब्द संसिद्धि तथा सम्यक् सिद्धि का पर्यायवाचक है। ब्रह्म वृहंण तथा वर्धन का अर्थान्तर है। समस्त क्रियाएँ फलीभूत होकर स्वतः रूप धारण करती हैं। राधा ही विराट जगत् है जिसमें भार वहन की क्षमता है। निर्हेतुक और निर्व्यभिचरित लीलाएँ ब्रह्म की न होकर राधा की लीलाएँ हैं।

जीव

जीव चेतन, आनन्दमय, अव्यय, निर्भय, अक्षर और ज्ञान तथा गुण का आश्रय है। वह सभी अवस्थाओं में भगवत् दास है। उसे तभी विश्राम प्राप्त होता है जब वह भगवत् काम हो और भगवत् में ही विलीन हो जाए। समस्त वैष्णव सम्प्रदाय अपने दर्शन पक्ष में जीव के विवेचन में अत्यंत आकुल जान पड़ता है। निश्चय ही उनकी यह आकुलता अपनी भक्ति परम्परा पुष्ट करने के लिए ही है। जीव का नित्यत्व और विभुत्व कभी भी भक्ति के लिए उपयोगी धर्म नहीं हो सकता। जीव की अणुता और उसकी नित्य दासता में ही भक्त की सम्भावना हो सकती है। प्रियादास ने सुसिद्धान्तोत्तम में कुछ अपात रमणीय तर्कों के द्वारा अन्य दार्शनिकों के खंडन प्रसंग में जीव की अणुता के साथ ही अपने दार्शनिक वाद सिद्धाद्वैत का अनुषंगतः सुन्दर प्रतिपादन किया है।[२]

उन्होंने अद्वैतियों का नाम लेकर और जीव में कल्पित नानात्व की चर्चा चलाकर दो चन्द्र, रज्जु में सर्वारोप तथा आकाश की विभिन्नता की भाँति उसकी अवहेलना की है। भर्तृहरि की एक कारिका का उल्लेख कर उन्होंने आभास और तम के सिद्धान्त से अविनाभाव प्रतीति की मुख्यता दी है। चेतन के बिना जैसे द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही द्वैत के अत्यन्त अभाव

---

१. प्रीतिं कामपि नाममात्रजनित प्रोद्दामरोमोद्‌गमां।
राधामाधवयोः सदैव भजतोः कौमार एवोज्वलाम्॥
वृन्दावन नवप्रसून निचयानानीय कुंजांत्तरे।
गूढं शैशवखेलनैर्वत कदा कार्यो विवाहोत्सवः॥

—श्लोक ५६

२. सुसिद्धान्तोत्तम, द्विविधभक्तिवर्णन, पृ० २४८-२६०

के कारण जीव का नानात्व भी प्रमाणित नहीं होता।[१] यदि जीव की दासत्व एवं ईश्वरत्व से पृथक द्रव्यात्मक सत्ता स्वीकार कर ली जाएगी तो ब्रह्म का मायावरण अथवा तदाश्रय होना ही स्वीकार करना होगा। जीव की अनादिता अद्वैतता की वाधिका अनन्तता अनिर्मोक्ष की कल्पिका होगी। अत: जीव सविकल्पक, अनादि और सांत है। अनादिता जन्म मरण के बंधन से प्रत्यक्ष है और सान्तता कर्म बंधन के नाश से ब्रह्मता की प्राप्ति के अनन्तर पूर्ण है। इसीलिए जीव और ब्रह्म का पूरा-पूरा संवाद सिद्धाद्वैतमूलक है।[२] लीलवश विश्व के प्रकटीकरण का प्रयोजन जीव भोग की अनुभूति है। त्रिगुणाधीन जीव शुभाशुभ कर्मों के द्वारा प्रारब्ध क़ा संचय करता है, किन्तु क्रियमाण को भगवान के प्रति प्रेरित कर वह संचित का विनाश करने में स्वतंत्र है।[३]

ब्रह्म में ईश्वर जीव कल्पना केवल विवाद की वस्तु है। कल्पना प्रसूत वस्तुएँ अणु जीव के पृथकत्व की पोषिका नहीं हो सकतीं। अविद्या के नाश से कल्पित द्वैत स्वत: विनष्ट हो जाता है। नानात्व केवल सेव्य और सेवक भाव के ही आश्रित है। द्रव्य से उसका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह माया अज्ञान कल्पित न होकर नित्य है। सांत जीव के आश्रित वह शक्ति स्वाभाविकी परा और अपरा दो रूपों में प्रतीत होती है।

जगत् और अविद्या

जगत् का कारण सांख्य का प्रधान नहीं हो सकता, क्योंकि वह जड़ और ज्ञानहीन है, कारण है चैतन्य। शुद्ध, मुक्त, चैतन्य स्वरूप जीव भी उसका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अणु कर्माधीन और परतन्त्र है। इन्द्र, अग्नि, ब्रह्मा, शिव आदि जीव ही हैं, इसलिए वे भी कारण नहीं हो सकते। वस्तुत: ज्ञान और क्रिया शक्ति युक्त नारायण, जिनका मूल स्वरूप राधावल्लभ है, उसके कारण हैं।[४] सबसे गरीयसी ह्लादनी शक्ति के माध्यम से आनन्द स्वरूप भगवान ने समस्त भूतों की रचना की है, किबहुना आनन्द ही ब्रह्म है।[५] जगत् घटवत् नाशवान है और उसके नाश के अनन्तर घटाकाश एवं विभु आकाश का अभेद सर्वविदित ही है।

जीव की सहकारिणी और प्रेरिका अविद्या ही माया है, परन्तु ब्रह्म के उज्ज्वल प्रकाश में उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। उनकी सहकारिणी और प्रेरिका माया नहीं, उनकी निर्देशिका राधा है। वही उसकी क्रियाओं के समस्त आकुंचन तथा प्रसारण की अधिष्ठात्री है। नाम, ध्वनि, अव्यक्त अथवा व्यक्त समस्त नाम का उद्गम साक्षात राधा

---

१. सुसिद्धान्तोत्तम, सुमत निर्णय, पृ० ३६०

२. सुसिद्धान्तोत्तम पृ० ३७०-७३

३. वही, द्विविधभक्तिवर्णन, पृ० २६४-२७२

४. अत्र सर्वकाग्णं श्री नारायण एक एव नारायण आसीद्ब्रह्मा न च शंकरो न मेघा वा पृथिव्यौ तत्कारणमपि मूलस्वरूपत्वेन श्रीराधावल्लभ:

—व्यासभाष्य, १:१:२

५. सुसिद्धान्तोत्तम, विश्वकारणनिर्णय, पृ० ४१-५३

का स्वर है। उसका स्वरूप समस्त दृश्य और अदृश्य जगत् के स्वरूप का प्रतीक है। उसका अमूर्तमिलन ब्रह्म की पर्यवेक्षक क्रिया और रूप का मिलन है। वह कृष्णमयी, परदेवता सम्मोहिनी, सर्वकान्ति तथा सर्वलक्ष्मीमयी है। बृहद् गौतमीय तन्त्र में यह प्रसंग आख्यान के रूप में मिलता है।

मोक्ष और भक्ति

जीव के कर्त्तव्य का प्रश्न भक्ति में ही पर्यवसित होता है, परन्तु वह अनुस्यूत परम्परा अविरल प्रवाह से बीज अंकुर की भाँति विवाद की वस्तु नहीं। इसके लिए राधावल्लभ सम्प्रदाय सत्संग की मुख्यता मानता है। उसके अभाव में उत्कृष्ट भक्तियोग और विश्व में हरिरूपता का आभास होना असंभव है। नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्मों से निर्पेक्ष होकर सत्संग के द्वारा परम ब्रह्म कृष्ण की दासता ही जीव के कर्त्तव्य की इति है। यह जगत् चाहे परिणाम हो या विवर्त, परन्तु विश्वात्मा हरि की दासता ही जीव का परिणाम और विवर्त है।[१] ईश्वर, जीव, कर्म, स्वभाव, काल और माया इन छः सनातन पदार्थों में जीव अपने को शेष पाँचों का नियंता मानता है। इस अहं के कारण ही उसका बंधन है। भगवत् प्रीति के अनंतर वह अपने से वस्तुतः अभिन्न ब्रह्म में सबों का एक कालिक समन्वय करता है। यही उसकी मुक्ति है। साधन और साध्य उभय रूप की भक्तियाँ आत्मा के उत्कर्ष में सहायक मात्र होती हैं। निष्ठा, रति, पराभाव और प्रेम के समन्वय के साथ आत्मलाभ करना दर्शन और भक्ति दोनों का समान लक्ष्य है। फिर भी त्याग अथवा ज्ञान के द्वारा हरि का सुखेनमिलन कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि वे दोनों अत्यन्त क्लेशकर एवं भक्ति के बाधक हैं।

वर्ण और आश्रम के उच्चावच भाव ही आत्मश्रेय के साधक नहीं, उनसे विनिर्मुक्त प्राणी एक मात्र राधाकृष्ण रूप हरि के सेवन से उसे प्राप्त कर लेता है। ज्ञान की निराकारिता अप्रकाशित और अप्रमाणित है। इसलिए साकार विषयक ज्ञान ही संभव है जो भक्ति का एकमात्र अंग है।[२] शास्त्र के तात्पर्य के अनुगमन तथा अननुगमन दोनों ही दशाओं में देहस्मरण पर्यन्त भगवत् भजन अद्वैत ज्ञान का आधार है। भक्ति स्वयं ही सुखात्मिका माया बनकर भजनीय और भक्त के अन्तःसम्बन्ध को स्थापित करती है और उसकी अवान्तर द्वैतता में रसवर्धन भी करती है। श्रेय, देहस्मरण का अभाव और प्रेय, निरन्तर व्यावहारिक सुखानुभूति, दोनों ही भक्ति के विषय हैं। ऐसी स्थिति में चिच्छक्ति और गुणात्मिका माया श्रीकृष्ण की प्रिया और इच्छा की सम्पादिका शक्ति ही है। श्रेय और प्रेय उभय की दात्री भक्ति एक दूसरे की चरम दशा में पर्याय मात्र हैं।[३]

श्री चैतन्य एवं श्री हितहरिवंश ने प्रेम भक्ति को सम्पूर्ण वेदों का सार बतलाकर उसे सब वेदान्तवादों से परे घोषित किया।

---

१. सुसिद्धान्तोत्तम, पृ० ३९७-९८

२. वही, द्विविध भक्ति वर्णन, पृ० १९८

३. वही, पृ० २०२-२०६

द्वैताद्वैत

निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद को हरिदासी सम्प्रदाय ने अविकल रूप में स्वीकार किया है। समष्टि की दशा में अद्वैत और व्यष्टि की दशा में निरन्तर द्वैत की प्रतिपत्ति होना ही उनका मान्य सिद्धान्त है। इसीलिए अध्यास, अन्यथाख्याति और जगत् मिथ्यात्व के पक्ष से उनका कठोर वैमत्य है।

ब्रह्म

उनके ब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण ही हैं। वे सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त, उनकी अन्तरात्मा और सबके प्रभव और प्रवर्तक हैं। श्रुति ने उनकी चर्चा द्रष्टा और श्रोता के रूप में की है। वे एकमात्र क्षेत्र और क्षेत्री, नित्यों में नित्य एवं चेतनों में चेतन हैं। वस्तुतः 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की सार्थकता उपर्युक्त ब्रह्म में ही है, अन्यथा शुद्ध, मायोपहित अथवा ज्ञानाध्यास में से कोई भी जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता। यदि शुद्ध ब्रह्म जिज्ञासा का विषय माना जाएगा, तो वह सांसारिक पदार्थ की तरह मिथ्या भी सिद्ध हो सकता है। मायोपहित ब्रह्म निरन्तर माया प्रपंचों से और ज्ञानेन्द्रियों के नियत विषयों से व्यावृत्त होने के कारण जिज्ञासा योग्य नहीं है। उसके विरोध में जीव के निर्मोक्ष का प्रसंग भी दोष रूप में आपतित होगा। अध्यास का बृहत्तर परिवार और ज्ञान की परम्परा में उसका क्रमिक आभास होना संभव नहीं है। अतएव स्वरूप, गुण, अलौकिक शक्तियों से उपवृंहित तथा ब्रह्म शब्द से वाच्य श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं और वे ही जिज्ञास्य हैं।[१]

अद्वैतवादियों के अनुसार जीव और ब्रह्म की एकता, उनके विषय और उनकी अध्यास सम्बन्धिनी एकता आदि चर्चाएँ बरबस ब्रह्म में जीव की भिन्नता का समर्थन करती हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि अभाव और सादृश्य वस्तु सापेक्ष ही हुआ करते हैं। अद्वैतियो की अविद्या और उसकी निवृत्ति दोनों के परस्पर सापेक्ष होने पर भी जीव और ब्रह्म की एकता (अद्वैतता) प्रमाणित नहीं होती। विषय के अत्यंत अभाव में सम्बन्ध का अभाव नहीं, अनुपपत्ति हुआ करती है। ब्रह्म और जीव का विषयाभेद सम्बन्ध के अभाव का पोषक न होकर उसकी साधक अनुपपत्ति का पोषक है। बद्धमुक्त, सुख-दुःख की द्वन्द्व प्रतीति आदि संचित और क्रियमाण वास्तव भेद तो जीव की व्यावहारिकता से भी स्पष्ट है। जीव की संशयापन्न अवस्थाएँ और मूर्च्छा ब्रह्म से सर्वथा भिन्न प्रतिपादन के पर्याप्त प्रमाण हैं।[२]

जीव की सभी अवस्थाएँ संसार से वैराग्योपादन और ब्रह्म में अनुरागोत्पादन के लिए ही हुआ करती हैं। यदि ब्रह्म को भिन्न न स्वीकार करें तो अनुरागोत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठता। दो विभिन्न धर्मी पदार्थों के आंशिक अभेद होने पर भी सम्बन्ध हुआ करता है। अंशांशि भाव से अभेद एवं वास्तव भेद तथा गुण और गुणी का एवं शक्ति और शक्तिमान का

---

१. ब्रह्मसूत्र, वेदान्तकौस्तुभ प्रभा, पृ० २२-२३

२. वही, वेदान्तकौस्तुभ, पृ० ८४३

कार्य कारण जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का पोषक है।[1] जीव चेतन का प्रतिबिम्ब है और उसके अन्तःकरण की उपाधि अविद्या से कल्पित मात्र है। उसके नाश होने पर जीव और ब्रह्म की एकता प्रमाणित होती है।

जगत् में जीव के अध्यास तथा ब्रह्म में जीव के अध्यास का समर्थन शुक्ति में रजत के अध्यास से नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म की दृष्टि सर्वथा उत्कृष्ट है। उत्कृष्ट में ही आधार की कल्पना सम्भव है। अत: कर्तृ, कर्म, वेत्ता, वेदितव्य आदि विषयों के सन्निवेश को ही अध्यास मानने पर वह ब्रह्म की प्रतीक उपास्य सत्ता से भिन्न नहीं हो सकता। आत्मत्व के अनुसंधान के लिए वह केवल प्रतीक न होकर ब्रह्म रूप में ग्राह्य है और वह अभिन्न निमित्तोपादान के रूप में सृष्टि का कारण है।[2] अन्य वेदान्तियों ने ब्रह्म को शुद्ध उपादान कारण के रूप में स्वीकार किया है। निम्बार्काचार्य का तर्क है कि जीवात्माओं के संचित कर्म ही अभिन्न निमित्त के रूप में स्वत: उपस्थित होते हैं। यहाँ स्वत: का तात्पर्य दृष्ट और कर्तृ की सापेक्षता की उदासीनता से है, अर्थात् ब्रह्म स्वयं उपादान और निमित्त बनकर स्थावर जंगम विभिन्न भेदों का सर्जन करता है।

जीव

जीव अणु और अनन्त है। उसकी विभुता और एकता में तात्विक दृष्टि से संसारोपलब्धि नहीं हो सकती। आकाश, काल, दिक् आदि उपाधि रूप से ही विभु स्वीकार किए गए हैं। घटाकाश की भाँति उसे एक देशीय मानने पर जीव और ब्रह्म सजातीय और सधर्मी हो जाएँगे। उसे व्याप्य स्वीकार करने पर सभी उपाधि स्वरूप हो जाएँगे और प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्बन की बात असंगत हो जाएगी। किन्तु जैसे विलीन ऊर्म्मियों को न तो अपने स्वरूप में देखा जा सकता है और न उन्हें जल समूह से पृथक ही किया जा सकता है, वैसे ही प्रतिबिम्ब और बिम्ब के सादृश्य के द्वारा जीव और ब्रह्म का ऐसा ऐक्य संभव नहीं है। जीव में उपाधि सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है, अन्यथा मोक्ष की हानि होगी, क्योंकि वह नित्य ही होता है और मुक्ति अनित्य की होती है, नित्य की नहीं। औपाधिक सम्बन्ध मानने पर अनवस्था और अन्योन्याश्रय की बाधा उपस्थित हो जाएगी।[3]

जीव ब्रह्म में जब तक तात्विक भेद स्वीकार न किया जाएगा, तब तक आत्मवादियों की मुक्ति में संशय उत्पन्न हो सकता है और उसका दुष्परिणाम यह होगा कि वेदान्त श्रवण की प्रवृत्ति और उपयोगिता ही समाप्त हो जाएगी। आस्तिक जगत् में श्रुतियों का स्वत: प्रमाण्य सबों ने माना है। उनके आधार पर जीव और ब्रह्म का सदा सिद्धभेद ही समर्थित होता है। सांख्य

---

१. **अपितु कार्यकारणयोः गुणगुणिनीः शक्तिशक्तिमतो भिन्नाभिन्नयोः पदार्थयोरेव तादात्म्य सम्बन्धः**

—वही, वेदान्तकौस्तुभ, पृ० ११९१-११९२

२. **जगदभिन्न निमित्तोपादानत्वे सति सत्यत्वादि मत्वं ब्रह्मलक्षणं।**

—वही, वेदान्तकौस्तुभ प्रभा, पृ० ४५

३. **वही, वेदान्तकौस्तुभ प्रभा, पृ० २७-२८**

और वेद दोनों ही उनके योग और अनुयोग क्रिया को लेकर उसका समर्थन करते हैं। यद्यपि आत्म शब्द जीव और ब्रह्म दोनों का समान वाचक है, तथापि दोनों को एक कल्पना करना भ्रम है।

जगत् और माया

सृष्टि के अवसर पर पंचमहाभूतों के भिन्न परमाणुओं में कर्मोपादान की सामर्थ्य नहीं हुआ करती, क्योंकि वे स्वत: जड़ हैं। चूँकि अदृष्ट स्वयं अचेतन है, इसलिए जीव अपने अदृश्य के आधार पर कर्म का उद्‌बोध नहीं कर सकता। जीव और परमाणु के सन्निधान को सृष्टि का प्रयोजक मानने पर नित्य उत्पत्ति की शृंखला कभी विच्छिन्न न हो सकेगी। सृष्टि के पूर्व जीव चेतन भी नहीं होता।[१] अतएव सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय दोनों की व्यवस्था अक्षुण्य मानना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है, जब जीव को सर्वथा पृथक स्वीकार कर लें। विश्व अनादि और सनातन है, क्योंकि समस्त रूप जो अतीत में व्यक्त हुए, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे, वे सब ईश्वर के ज्ञान में अवस्थित हैं। महाप्रलय पर्यन्त स्थित रहने वाला यह जगत् जीव की गति है। जब जीव के वैराग्य और उसकी गति, केवल संसार में ही सीमित न होकर, स्वप्न में भी हो, उसे जीवन्मुक्त कह सकते हैं।

माया सत्यसंकल्प सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा निर्मित है। शक्तियों के आधारस्तंभ वासुदेव को, जिनकी सभी चेष्टाएँ आश्चर्यजनक और दुर्लक्ष्य हैं, अथवा जीव की वृद्धावस्था को ही माया कहते हैं। यह माया अपने तिरोधान में मोक्ष का और वाह्य प्रकाशन में बद्ध का रूप धारण करती है।[२] ब्रह्म के स्वांश से उद्‌भूत इस माया की अनादि और अनन्त शृंखलाएँ न केवल अवगुंठन करती हैं वरन् भगवदनुग्रह प्राप्ति पर अनावरण भी करती हैं। जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा उत्क्रांति अवस्थाएँ माया अथवा अविद्या प्रयुक्त ही हैं।

मोक्ष

धर्मीरूप में भासित जीव ज्ञान का आश्रय और विभु सन्निधान के लिए बराबर लालायित रहता है। मुक्त जीव अत्यन्त विभाग की स्थिति में भी ब्रह्मकृत समस्त लीलाओं को अविभाग रूप में स्वयं में अनुभव करता है। यह अनुभूति ही अद्वैत है। श्रुति भी मुक्त जीव की परम समता की पोषिका है। श्री पुरुषोत्तम सम्पूर्ण सांसारिक बंधनों की ग्रंथि काट देते हैं और अपने दिव्य अनुग्रह से अविभाग्य की क्षमता उत्पन्न कर देते हैं। इस सम्प्रदाय में आत्मविद्या अथवा उपासना के प्रकार के अनुगमन का प्रयोजन यही है कि पूर्व संचित अखिल दुष्कर्मो का संहार हो जाए और उसके लिए भक्ति ही एक मात्र उपाय है। अविभागेन दर्शन होने पर मुक्त जीव भजनीय की भक्ति को त्यागना नहीं चाहता। स्वप्न, सुषुप्ति, मोह आदि व्यवयधायक शरीर के धर्मो का अभाव उसे अभीष्ट है, जिससे वह निरंतर उपासना में अग्रगामी होता रहे। सैंधव की

---

१. **न सन्निधितश्च जीव परमाणुसन्निधेर्नित्यतया नित्योत्पादकत्व प्रसंगात्।**

—वेदान्तकौस्तुभ भाष्यद्वयं, पृ० १८७

२. वही, पृ० २७२-७४

तरह बाहर से विरुद्धधर्मी होने पर भी अन्तर में ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित होने के कारण रसघनरूप में परिणत होकर स्व स्वरूप से प्रत्यक् तत्व चेतनत्व का स्थापन करना ही अणु जीव की विशेषता है।[१] यह निम्बार्क मत की देन है।

उपासना

अत्यन्त प्रबल माया के व्यवच्छेद के लिए भक्ति—मूल उपासना का आश्रय लेना पड़ता है। उपासना उनमान का पर्याय है। सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मात्मक श्री वासुदेव ही उपासना पदार्थ हैं। यद्यपि वे स्वयं अपरिमित हैं, किन्तु स्थान विशेष (मंदिर) के माध्यम से परिमित रूप में उनका चिन्तन उपाधि के प्रकाश की भाँति संभव है। पापों का दूरीकरण और अनन्त कल्याणकर गुणों के आकर समता तथा अतिशयता के रूप ब्रह्म के गुणों की उपलब्धि उपासना पर ही अवलम्बित है। कर्म—कारयिता और फल-दातृत्व परमात्मा के नैसर्गिक गुण हैं। उन्हें आत्मसात करने के लिए अथवा उनके सन्निधान में ही परस्पर प्रतिच्छायित करने के लिए उपासना आवश्यक है। इसे ही सामीप्यात्मक मोक्ष कहते हैं।[२]

अद्वैतद्वैत

अद्वैतद्वैत सिद्धि

चरणदासी सम्प्रदाय में अनन्य भक्ति के प्रतिपादन के अतिरिक्त दर्शन और कुछ नहीं है। साम्प्रदायिक विभिन्न रचनाओं के मंथन से उनका वाद अद्वैतद्वैत प्रतीत होता है। निराकार और साकार की बात उठाकर और दोनों ही पदों का एक में ही समन्वय दिव्यलोक में पुरुष सत्ता और इहलोक में सर्वान्तरयामित्व, माया का प्रत्यक्षीकरण और ब्रह्म का अदर्शन आदि का निरूपण अद्वैतद्वैत का ही परिचायक ज्ञात होता है।[३] भक्ति में अन्यत्व का निषेध स्वभावतः प्रातिभासिक द्वित्व का निषेधक है और अद्वैतद्वैत उसका पोषक है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के निरूपण प्रसंग में गंगा की अविच्छिन्न धार का उल्लेख कर ब्रह्म की अविच्छिन्नता और व्यापकता का निरूपण किया है, किन्तु उसका प्रातिभासिक द्वित्व भी समर्थित नहीं होता। यहाँ तो उसकी सत्ता को स्वीकार कर ही अन्यत्वाभास का विधान किया गया है। अतः दोनों मतों में सांकर्य नहीं है।

---

१. न सन्निधितश्च जीव परमाणुसन्निधेर्नित्यतया नित्योत्पादकत्व प्रसंगात्। सूत्र :४:४ से ४:४:६, पृ० १३१०-१३१७.

२. ब्रह्मसूत्र, 'वेदान्तकौस्तुम, पृ० २९६-२९८

३. निराकार तो ब्रह्म है, माया है आकार।
दोनों पदवी को लिए, ऐसा पुरुष विचार॥
....
अमरलोक बिच पुरुष है, ब्रह्म जु सबके मांहि।
माया दरशत है सबै, ब्रह्म दीखते नाहि॥
—भक्तिसागर, अमरलोक, अखंडधाम वर्णन, पृ० ४१-४२

ब्रह्म

इस सम्प्रदाय में वैयाकरणों के अक्षर ब्रह्म की ही चर्चा यत्र-तत्र आई है। यद्यपि यह विशुद्ध अद्वैत का पोषक है तथापि, भावावेश में अथवा उपासना की परम्परा में विलासवाद को लेकर, युगल स्वरूप की भी चर्चा आई है, और दोनों का पर तथा अपर तत्व के नाम से उल्लेख किया गया है। यहाँ द्वैतता का समावेश हो जाता है। ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है और वह नाना रूपों के द्वारा लीला किया करता है।[१] वह सर्वव्याप्य, सच्चिदानन्द स्वरूप और अद्वय है। माया के माध्यम से वह जगत की रचना करता और फिर अपने में विलीन कर लेता है।

जीव, जगत् और माया

जीव निराकार, अद्वैत, अचल, निरालम्ब, अज और अविनाशी है। वह साक्षात ब्रह्म ही है। योगसाधना और उपासना से जब आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है द्वैतता की स्थिति विलीन हो जाती है।[२] यह जगत् और उसका सर्व व्यवहार स्वप्नवत् ही दृष्ट है। वह असत्य नहीं है, क्योंकि वह नित्य ब्रह्म के माया रूप का विलास है। अतएव बंधन और मुक्ति दोनों ही स्वप्न होने के कारण ज्ञान विचार के बाहर हैं।[३] साक्षात ब्रह्म ही माया के रूप में प्रकट होते हैं। माया की असत्य प्रतीति नाश होने पर नानात्व का विनाश हो जाता है। और एक मात्र ब्रह्म का ज्ञान ही शेष रह जाता है।[४]

मोक्ष

शुक सम्प्रदाय में सायुज्य मुक्ति की निन्दा अन्य वैष्णवों की अपेक्षा अधिक मुक्त कंठ से की जाती है। दास भक्ति ही श्रेष्ठ है। उसके द्वारा दिव्यलीला का सुखास्वाद ही जीवन का अंतिम फल है। दास्य भक्ति में नर्मकालिक सेवा भाव को ही अपनाकर इन भक्तों ने अपनी परम्परा स्थिर की है। इसलिए उस अवसर पर अपने सेव्य का अधिक विक्षेप सेवक को

---

१. सहजो हरि बहुरंग है, वही प्रगट वहि गूप।
जल पाले में भेदना, ज्यों सूरज और धूप॥ —सहजोबाई की बानी, पृ० ४७

२. भक्तिसागर, ब्रह्मज्ञानसागर, पृ० ३२४-३४०

३. भाई रे स्वपन यह संसार।
....
बन्ध स्वपना मुक्ति स्वप्ना स्वप्न ज्ञान विचार।
स्वपन है जो विनशि जैहै रहेगी तत्सार॥
चरणदास स्वप्ना ब्रह्म सांचो एक रस नित जान।
सत्य स्वप्ना झूँठ स्वप्ना कहा करूँ निर्वान॥ —वही, शब्द वर्णन, पृ० ४३४

४. आप ब्रह्म माया भयो, ज्यों जल पाला होय।
पाला गलि पानी भयो, ऐसे नाहीं दोय॥ —वही, ब्रह्म-ज्ञानसागर, पृ० ३३२

अभिप्रेत नहीं है। इस कारण मुक्ति का साकार होना ही प्रमाणित होता है।[१] संक्षेप में अद्वैतद्वैत मूलक ब्रह्म विलासावतार भगवान श्रीकृष्ण सदा दास्य समन्वित नित्य तथा अणुरूप जीव और दोनों की परस्पर नित्य सम्बद्धता ही सृष्टि एवं तद्रूप में निरंतर निर्वाह करना ही मुक्ति है। यही इनका दर्शन शास्त्र है।

भक्ति

शांडिल्य सूत्र के आधार पर ईश्वर में उत्कृष्ट अनुरक्ति का होना ही भक्ति है। एक मात्र भक्ति ही भगवत् दर्शन कराने में सफल हो सकती है। ज्ञान भक्ति का साधन है। फलस्वरूप ज्ञान विज्ञान मात्र होकर उत्कृष्ट भक्ति का कारण है। परमात्म तत्व भक्ति के द्वारा ही जीवात्म संवेद्य होता है। इसलिए ही जगत् को मिथ्या स्वीकार कर और सत्य, वैराग्य के उपदेश में भी आत्मनित्यता की ही प्रधानता की स्वीकृति इस सम्प्रदाय की विशेषता है।[२]

समन्वय

भारतीय मस्तिष्क की लालसा सदा आत्म परिचय की रहती है। आत्म बोध के लिए दर्शन विभिन्न साधनों का निर्देश करते हैं। उनका प्रयोजन संसार तथा उसके हेतु, ब्रह्म, जीव, मोक्ष और उसके उपाय की विवेचना करना है। सभी संसार की सत्य अथवा असत्य सत्ता स्वीकार करते हैं। उसके हेतु पर किसी को विवाद नहीं है। ब्रह्म की सत्ता, उनकी अनुभूति और दिव्यशक्तित्व पर भी कोई वैमत्य नहीं है। केवल थोड़ा विरोध उनके सम्बन्धियों के लिए है, जिसका परिहार उनकी अचिन्त्य शक्तिमत्ता के द्वारा हो जाता है। ब्रह्मांश जीव आध्यात्मिक जगत् की तथ्यता प्रमाणित करने के लिए आकुल रहता है। उसका लक्ष्य परमात्म मिलन अथवा मोक्ष है। उपनिषद काल से लेकर अद्वैतद्वैत तक सामान्य धारणा रही है कि कामनाओं का विनाश ही मोक्ष है। वैष्णवों ने तदर्थ त्याग के स्थान पर उपभुक्ति को ही प्रश्रय दिया है। वे ज्ञान के स्थान पर भक्ति को उसके उपाय के रूप में स्वीकार करते हैं।

यहीं पर कार्य और कारण की अनेकता की समस्या उपस्थित होती है। वैशेषिकों ने 'अन्यथा सिद्ध शून्य नियत पूर्व वृत्ति' को कारण माना है। कारण मात्र में सन्निविष्ट अन्तर्धर्म, जिसे कारणतावच्छेदक कहते हैं, के द्वारा कार्य के रूप तथा गुण और अन्य सजातीय धर्मों में अन्तर भासित नहीं होता। उपादान कारणों के विजातीय रूप, गुण, क्रिया आदि धर्म कार्य के रूप, गुण, क्रिया आदि विजातीय धर्म के पोषक हैं। ऐसी स्थिति में यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि ब्रह्मावाप्ति के वैषम्य के हेतु हो सकते हैं अथवा नहीं। इस समस्या का समाधान ही विविध दर्शनों के प्रतीयमान भेद के निवारण का साधक है। उसके पश्चात् उनका समन्वय स्वत: ही सिद्ध हो जाता है।

भारतीय दर्शन वस्तुत: प्रकृति दर्शन है। प्रकृति का चेतन के साथ सम्बन्ध प्रेर्य्य और प्रेरक के रूप में वर्णित हुआ है। पुरुष अपनी पुरातन संस्कृतियों के आधार पर स्वयं निर्मित प्रकृति

---

१. **शुकसम्प्रदाय सिद्धांतचन्द्रिका, पृ० १५५-१५६**
२. **शुकसम्प्रदाय सिद्धांतचन्द्रिका, पृ० ११२-११७**
तथा सहजोबाई की बानी, पृ० ४३

से केवल आबद्ध ही नहीं है, बल्कि विभिन्न स्थितियों में वह परतंत्र और क्रिया शून्य भी है। प्रकृति का विपर्यय पुरुष का भेदक इसलिए नहीं है कि वह अणु और विभु दोनों दशाओं में नित्य एवं चेतन है। उसकी नित्यता कारण विशेष से सदा अनभिभूत होने में ही स्थिर रह सकती है, और चेतनता उसे संयम की ओर उन्मुख कर तदासक्त होने में सहायक सिद्ध होती है। इन्हीं आत्मज्ञान की कक्षाओं के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया जाएगा कि दर्शन के वादों में विवाद नहीं है, बल्कि वह विषय के निर्दिष्ट प्रतिपादन में पर पक्ष के निराकरण के साथ स्वसाध्य पक्ष का प्रतिपादन मात्र है।

'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' इस श्रुति के अनुसार ज्ञान को मुक्ति का साधन बतलाया गया है, जिसका अर्थ संस्कृतज्ञों ने ज्ञानवधिक मुक्ति किया है। दूसरी ओर भक्ति को ही उसका सर्वोत्तम साधन मानना कारण की भी एक परम्परा स्थिर करना है। दोनों में कारणावच्छेदक धर्म के भेद होने पर भी कार्यतावच्छेदक धर्म में आचार्यो के मत में अंतर नहीं पड़ता। दास्य, सख्य अथवा उनसे परे शुद्ध प्रेमात्मिका भक्ति और उसके समर्थक द्वैत से लेकर सिद्धाद्वैत तक का वाद दो रूपों में अभिव्यक्त होता है। वह नाम में राधाकृष्ण और रूप में कहीं उभय रूप का प्रतीक केवल कृष्ण तथा कहीं दो स्वरूपों में दृष्ट होता है। लौकिक सन्निकर्ष के द्वारा साक्षात्कृत पदार्थो में कार्यभेद यदि कारण भेद के रूप में स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी अलौकिक प्रत्यासक्ति सन्निकर्ष में, इन्द्रिय व्यापारों के सर्वथा विरत हो जाने के कारण, कार्यभेद अर्थात नाम और रूप का भेद दर्शन ग्रंथों में मान्य नहीं है।

रूप की जिज्ञासा 'नामरूप व्याकर्माणि' श्रुति से उत्पन्न होती है। रूप अर्थात आकृति अनुगत संस्थान और अनेक में समवाय सम्बद्धता का परिचायक है। यदि ब्रह्म के रूप की कल्पना स्वीकार की जाए तो, जैसा वल्लभाचार्य ने किया है, सजातीय और विजातीय भेद से ब्रह्म की विविधता का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। निम्बार्काचार्य के अनुसार निरंतर भेद की प्रतीति से संवलित अभिन्न ब्रह्म का उल्लेख स्वतः इस बात का प्रमाण है कि वह अविजातीय, आकृति, अनुगत धर्मो से हीन उत्कृष्ट तत्व ही है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में नामांश में राधा और रूप में अति सुन्दर पुरुषतत्व का आधान इस बात का पोषक है कि नाम और रूप की विविधता यथार्थ न होकर काल्पनिक है। सजातीयत्व तथा विजातीयत्व की व्याख्या धर्म विशेष को ही स्वीकार करनी होगी। वैष्णवों के मान्य ग्रंथ पुराणों में विरोधात्मिका भक्ति का वर्णन है। यह विरोध उत्कर्ष के ही अभाव में पर्यवसित होता है। स्व की अपेक्षा उत्कर्ष की इयत्ता विभुता की बाधिका होगी। अतः निरपेक्ष उत्कर्ष को ही ब्रह्म का समान धर्म स्वीकार करना पड़ेगा।

जगत् के प्रकरण में दार्शनिकों, विशेषकर वैष्णवों, का स्पष्ट अभिमत अचिन्त्य शक्ति, चाहे वह परमाणु हो अथवा प्रकृति, ब्रह्म हो अथवा माया, की ओर संकेत करना है। शुद्धाद्वैत इन सभी नाम भेदों का एक रूप में समन्वय करता है। अविद्या को जगत के प्रपंच का हेतु माना गया है। वह माया अथवा अंतस् में तदाभास स्वरूप है, और नाम तथा रूप के अंतराल में व्यवधायक होकर स्थित रहती है। यद्यपि वैष्णव दर्शन सृष्टि के मिथ्यात्व के प्रसंग में अविद्या नाम की वस्तु स्वीकार करने में हिचकता है, तथापि वह मूर्च्छा, अर्द्धमूर्च्छा आदि जीव धर्म

को स्वीकार करता है, जिससे प्राणी हरि सेवा से विमुख रहता है। यदि नित्य माया का तात्विक आविर्भाव मान लिया जाए तो केवल औपचारिक उपासना में, जो कि प्रारम्भिक है, बाधा पहुँचेगी। वैष्णव भक्त जगत् की स्वार्थ भावना से लिप्त अविद्या अर्थात मूर्च्छा के अभाव में भक्ति का अतिशय अतिरेक और हरि सेवा में हरि के पर्यवसान को ही अमरत्व मानता है।

ऐसी अवस्था में, केवल नाम मात्र का भेद होते हुए भी, विषय की एकता अर्थात व्यष्टि का समष्टि में भान होना दर्शन मात्र के ऐक्य का द्योतक है। शंकराचार्य भी जीवन और व्यवहार में स्थूल जगत् की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते। पंचमहाभूत और उनकी तन्मात्राओं से निर्मित चेतन और अचेतन पूरे व्यष्टि की सृष्टि को ही जगत् की प्रक्रिया बतलाना द्वितीय सत्ता को अंशतः स्वीकार करना ही है। राधाकृष्ण की युगल मूर्ति में ब्रह्मत्व का आधान और उसकी ही उपासना में जीव कर्त्तव्यता की इति तथा सामीप्य एवं सान्निध्य मोक्ष की दशा में, जीव के विभिन्न परिणामों की विवेचना, जगत्, जीव और ब्रह्म की विभिन्न परिधियों का निर्देश मात्र करते हैं। ब्रह्म के सम्बन्ध में परिधि का यह अर्थ है कि जगत् और उसमें जीव की व्यामोह के रूप में आसक्ति की अवस्था में वह उनसे सर्वथा भिन्न भासित होता है। इस काल्पनिक परिधि को समाप्त करने के लिए शंकराचार्य ने ज्ञान तथा वैष्णवाचार्यों ने भाक्ति को उसकी सफल चिकित्सा माना है।

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृतिका इत्येव सत्यं' का दृष्टांत ब्रह्म, जीव और सृष्टि और प्रपंचात्मक माया पर पूरा-पूरा घटता है। इनका समन्वय और इनकी भिन्न भासमान सत्ता, वैराग्य तथा सेवक भाव में अनासक्ति पूर्वक जगत् की वस्तुओं का परित्याग एवं ग्रहण, आत्म विनियोग पुरस्सर स्वात्म समर्पण आदि भावनाएँ वाचिक न होकर मानसिक और माया प्रधान हैं। जीवनमुक्त दशा में जगत्, उसकी वस्तुएँ, उनके गुण-दोष तथा सुख-दुख आदि द्वन्द्व के रूप में प्रतीक नहीं होते। ज्ञान जगत् के मिथ्यात्व का और भक्ति हरि सेवा में उसके विसर्जन की साधिका है। उसका उद्देश्य है विग्रहमात्र में पूर्ण दृश्य जगत् की कल्पना कर व्यष्टि से समष्टि में स्वयं को परिणत करना। इससे स्पष्ट है कि जगत् और उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में विरोधाभास काल, वय और ज्ञान की विभिन्न दशा का परिचायक मात्र है।

इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में, उसका अहंकार में और अहंकार का चित् एवं आत्मा में विलीनीकरण और इन विलीन तत्वों का ब्रह्म को समर्पण ही समष्टि है। इसके विपरीत आत्मा का मन में और मन का अहंकार तथा चित् के अंतराल से इन्द्रियों के अधीन हो जाना ही व्यष्टि विराट् जगत् की आसक्ति कह सकते हैं। इसकी परम्परा में मन जब स्वयंभू न होकर स्वाराज्य सम्पन्न आत्मा का प्रबंधक मात्र अथवा ज्ञानाधिकरण परम्परा को स्थिर करने में सहायक मात्र सम्पन्न होता है, वह साध्यांश की सिद्धि करा कर अन्य साधनों को स्वयं निवृत्त कर देता है, भक्ति में भी इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारिता का परित्याग कर मनस्संयोग के द्वारा आत्म साध्य सेवा में सहायक होती है। इन्द्रिय, मन, अहंकार और चित्त तत्व का आत्म समर्पण तदनन्तर परमात्म समर्पण ही जीव का सर्वस्व है। साध्य की सिद्धि के अनन्तर उसकी स्वतंत्र सत्ता और उपादेयता दोनों ही समाप्त हो जाती है। साध्य का दृष्टा और उसमें ही साक्षित्व का अनुभव करने वाला जीवात्मा साध्यांश की अपेक्षा करता है।

मुक्ति एक कार्य है। उसका तात्पर्य स्वस्वरूप ब्रह्म से तादात्म्य के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म से तादात्म्य औपाधिक अथवा सायुज्य, सान्निध्य अथवा सामीप्य किसी भी रूप मे भासित हो सकता है, परन्तु वहाँ बद्ध जीव को भवबंधन की केवल शिथिलता ही नहीं, उसकी विशीर्णता भी भासित होती है। जहाँ तक अनुभव का प्रश्न है शुक्ल, अन्तर्ज्योति का ऊर्ध्वमुख प्रत्यक्ष सबों ने स्वीकार किया है। जगत् सन्निकर्ष में जब पंचमहाभूतमय, परंतु पार्थिव प्रधान, पिड का अस्तित्व ही बंधन है, तब विविध वादों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जीव की शुद्धिता और मुक्ति के अनन्तर ही ब्रह्म की नित्य शुद्धता एवं बुद्धता की अनुभूति हो सकती है। उस अनुभूति के लिए मायाभूत आवरण का अवसारण ज्ञान और भक्ति के द्वारा संभव है, जो नामत: भिन्न होते हुए भी एक है।

ज्ञान और भक्ति की उपयोगिता स्व जीव और परब्रह्म के मिलन के लिए है। वे अंत: सूत्र जहाँ मिलते हैं वहीं भेद से मुक्ति है और वही अद्वैत है। ज्ञान जगत् के अतिरिक्त अदृष्ट शक्ति की ओर और भक्ति आत्म सुख से अतिरिक्त अत्यन्त प्रियतर वस्तु की ओर जीव को उन्मुख कर अविद्या का नाश और विद्या के द्वारा अमृतत्व का सम्पादन करती है। वही जीव का चरम लक्ष्य है।

ज्ञान और भक्ति इन दोनों स्रोतों का तात्पर्य है इन्द्रियों की स्थिरता, मन का वैराग्य, हृदय में अनुराग और बुद्धि में विवेकता। इन चतुस्साधनों से सम्पन्न जीवात्मा की क्रियाशीलता ही में जीवन का कर्त्तव्य और अपवर्ग, अध्यात्म ज्ञान तथा वेदान्त शास्त्र की उपयोगिता है। जब इन्द्रियों में चांचल्य, मन में अनुराग, हृदय में विराग और बुद्धि में अविवेक होता है, जीव की बद्धता या जगत् में लीनता स्वीकार की जाती है। परमार्थ मार्ग का पथिक, चाहे वह शैव हो अथवा वैष्णव, ज्ञान और भक्ति के द्वारा उत्कृष्ट परतत्व की प्राप्ति के लिए अपनी समस्त भावनाओं और क्रियाकलापों को मन के वैराग्य और हृदय के अनुराग में परिणत कर देने का प्रयास करता है। वही उसकी उपासना अथवा चिन्तना है।

सभी आस्तिक षडदर्शनों में साधन पर गौण रूप से ही बल दिया गया है। कभी-कभी कुछ सजातीय साधन साध्य की सिद्धि के अनन्तर मकड़ी के जाल में बँधकर स्व स्वरूप और विजातीयता का परित्याग कर साध्य में इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि उनमें कार्य और कारण का विभेद करना संभव नहीं रहता। इसे ही तो अद्वैत तत्व कहते हैं। वे साधन, जो साध्य में सदा सहायक होते हुए भी अपने स्वरूप और अपनी विजातीयता का परित्याग एक सीमित कक्षा तक नहीं कर पाते और अपनी वाह्य प्रतिमान विभिन्नता को प्रमाणित करते रहते हैं, भक्ति अथवा सविशेषण अद्वैत के पोषक हैं। अद्वैत अथवा विशेषण सम्पन्न द्वैत स्वरूपत: भिन्न न होकर केवल शब्दत: विभिन्न अवस्थाकृत जीवनधर्म के परिचायक हैं।

कनक और कुंडल का स्वरूप भेद अपने उपादान कारण स्वर्ण का भेदक नहीं है। उसी तरह ज्ञान और भक्ति दोनों का परस्पर सामंजस्य एक दूसरे के पूरक होने में ही प्रमाणित है। इसीलिए आचार्यो ने यह कह कर कि द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य है, अथवा आकृति ही नित्य और द्रव्य अनित्य है। दोनों के वाह्य रूप में ही भेदावगम होता है, किन्तु उनका अंतर रूप समान है, इसे ही प्रमाणित किया है।

भक्ति अथवा ज्ञान चाहे जिससे भी मुक्ति मिलती हो, मुक्त स्वयं में नित्यता, विभुता और अभिन्नता का पोषक धर्म का अनुभव करता है। यहाँ यह कह देना अत्यंत आवश्यक है कि प्राणी की निदिध्यासन के अनन्तर तुरीयावस्था में वाह्य जगत् का अन्तर्मुख स्वरूप मूर्त न होकर सूक्ष्म शब्द के रूप में ही प्रतिभासित होता है। ज्ञान की प्रधानता में उपासना का प्रश्रय भक्ति के बिना कभी संभव नहीं है। स्व विग्रह तथा नाम दोनों के ज्ञान के बिना भक्ति स्थिर नहीं होती। अन्य विग्रहों एवं नामों में अनास्था, मान्य विग्रह और नाम में अप्रतिहत प्रेम, उनकी समस्त लीलाओं में आत्म लीला की अनुभूति तथा स्व से अविभागेन उपलब्धि ही भक्ति है। स्पष्ट है कि ज्ञान और भक्ति के उद्देश्य और विधेय भाव में ही विरोध है न कि उनकी उपादेयता में। चरमावस्था में उद्देश्य और विधेय भाव और उनकी अपनी धाराएँ समाप्त हो जाती हैं, इसे सभी स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में भक्तिमूलक ज्ञान अथवा ज्ञानमूलक भक्ति उपासना से सहकृत जीव को ब्रह्म सायुज्य अथवा सामीप्य प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

वैष्णवाचार्यों ने उपासना की आवश्यकता प्रत्येक के लिए बतलाई है और सान्निध्य तथा सामीप्य मोक्ष की अभिलाषा से सदा दीन याचना की है। फिर भी दर्शन के अंश में उसकी सदा अनिवार्यता नहीं मानी है। इसका तात्पर्य यह है कि साधन साधन ही है, वे साध्य के रूप में यदि परिणत हो जाएँ तो दार्शनिकों के मत में सिद्ध साधन का दोष अप्रमाण्यकारी होगा। अतः साधनों का भेद केवल साध्य को प्रमाणित करने के लिए ही है।

उपासना का स्वरूप ज्ञानमय हो अथवा द्रव्यमय और उसका प्रयोजन लौकिक हो अथवा पारलौकिक, किन्तु उसकी अनिवार्यता में संशय नहीं है। शंकराचार्य आदि अद्वैतियों ने मूर्ति की स्थापना और आत्मनिष्ठा के दृढ़ीकरण के लिए उसकी अर्चना की व्यवस्था की है। उसका आधार भक्ति न होकर ज्ञान है। ऐसा प्रतीत होता है कि काम, क्रोध और षडविकारों के साथ विभिन्न अवसरों पर उदीयमान सेवा की वृत्ति का पोषण ही उपासना की परम्परा का प्रयोजन है। वैष्णव सम्प्रदाय उसे ही भक्ति के आधार पर ही परिष्कृत कर षोडशोपचार अर्थात द्रव्य प्रधान सेवा के रूप में प्रस्तुत करता है। प्राणी की निसर्ग रुचि का अवरोध अद्वैतवाद है, और उसके विभिन्न धारा प्रवाह को एकात्म कर अभीष्ट दिशा की ओर मोड़ना वैष्णववाद है। उपासना चाहे सकाम हो या निष्काम आत्मा का उदय ही उसका एकमात्र फल है। स्वाभाविक रुचि का अवरोध अथवा एकीकरण परस्पर विरोधी नहीं है, अपितु एक दूसरे के इस माने में पूरक है कि निसर्ग रुक तो सकता नहीं, अधिक से अधिक उनके प्रवाह को नियंत्रित ही किया जा सकता है। वह नियंत्रक सेतु की उपासना है।

साधना जीव की योग्यता के भेद से भिन्न-भिन्न हुआ करती है। एक सिद्ध को जो शक्ति राधाकृष्ण की युगल उपासना से मिलती है, वही एक साधक को श्वेत अंतर्ज्योति के चिन्तन से प्राप्त होती है। जो अखंडता एवं दिव्यता एक वीतराग यति को उपलब्ध होती है वही एक सामान्य संन्यासी विरागी को उस यति के चिन्तनमात्र से सुलभ होती है। यही वेदान्त दर्शन का ऐक्यात्मेन उपसंहार है, वह चाहे वैष्णव हो चाहे शैव।

❑❑

चतुर्थ प्रकरण

उपासना और कर्मकाण्ड

विषय प्रवेश

वैदिक काल से चली आती हुई उपासना को भक्त जीवन के चरम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करना वैष्णव जगत् का प्रथम उपक्रम है। उसका वाचिक अर्थ समीप बैठना मात्र है, किन्तु अब वह योगरूढ़ हो गया है। भक्त साक्षात् भगवान के सन्निधि में पार्थिव शरीर से ही बैठ जाता है। उसकी समस्त क्रियाएँ और कामनाएँ अर्चना के रूप में उपासनात्मक हो जाती हैं। वैष्णव सम्प्रदायो की दूसरी विशेषता और देन है उपासना के साथ कर्मकांड का योग। परवर्ती स्मृति ग्रंथों तथा निबन्धों में विधि विलोप की विभीषिका उन्हीं के कारण है। यजुर्वेद में नित्य, नैमित्तिक और काव्य क्रमों के प्रतीकों का उल्लेख है। वैष्णव काल में वे सनातन रूप में परिणत हो जाते हैं। अनाथनाथ एवं अचिन्त्य-चिन्तक ब्रह्म की तन्मयता और तद्रूपता की प्राप्ति, भक्त के लिए कर्त्तव्य परतन्त्रता है। उत्तरोत्तर सम्प्रदाय पूर्व-पूर्व प्रतीकों और कर्मकांडों पर अश्रद्धा करने लगा। भगवत के 'अतसी कुसमोपमेय कान्ति:' से लेकर पुष्पदन्त की उक्ति 'महोज्ञ: खट्वांगम' उपासना और तदर्थ नियत विग्रह का निर्णय करने लगा। आगे चलकर शिष्यों की धारणा के कारण स्वयं आचार्य और उनके शिष्यों की प्रतिमा ही नहीं, उनकी उपभुक्त सामग्रियाँ भी पूजार्ह समझी जाने लगीं।

असम्बद्ध उपासना के विकास को वैष्णवों ने शृंखलाबद्ध किया अर्थात उन्होंने विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी का प्राथमिक निर्णय किया। विषय फलांश और माहात्म्यांश से विशेष सम्बद्ध है। फल प्राप्ति प्रवृत्ति की प्रयोजिका है। स्वत: अभिलषित फल स्वसामर्थ्य अथवा परसामर्थ्य से प्राप्त होता है, किन्तु परप्रेरित विजातीय विप्रकृष्ट फल का मिलना सर्वथा मूर्ति पूजा पर आधारित है। प्रयोजन शब्द कार्य और कारण का सामान्य निर्देशक है। भक्त का भजनीय से प्रकृष्ट सम्बन्ध स्थापित करना उपासना का मुख्य लक्ष्य है। उसके अभाव में भक्त के साथ ही आधेय और आधाराधेय सम्बद्ध आराध्य का विलोप हो जाएगा। भक्त, भक्ति और भजनीय के विभिन्न सम्बन्धों के कारण ही अनेक सम्प्रदाय छोटे-छोटे भेदों को लेकर उठ खड़े हुए। अधिकारी तीन होते हैं। प्रथम अधिकारी शास्त्र, भक्ति और भजनीय तीनों पर सम श्रद्धा रखता है, द्वितीय विग्रह पर अधिक ध्यान देता है और तृतीय सौन्दर्य मात्र से आकर्षित हो जाते हैं। उन्हें प्रलुब्ध कर जगमोहन में नृत्य, गीत आदि का भार दिया जाता है। व्रजवासी होना सबके लिए अनिवार्य है।[१]

---

१. **हरिभक्तिरसामृत सिंधु, पूर्व विभाग, लहरी १, पृ० २७-२८**

सेवा साधक और सिद्ध दो रूपों में होती है। साधक का अर्थ वाह्य शरीर और सिद्ध का अंतश्चिन्तन है। यहाँ भावना आध्यात्मिक न होकर लौकिक रूप में प्रस्फुटित होती है। समस्त ऐषणाएँ क्रमिक रूप से एक विग्रह में उठती और विलीन होती हैं। मुक्ति का वाचिक अर्थ विलग होना है। उत्तम उपभोग से शाश्वत तृप्ति होती है और फिर उसकी इच्छा का ही शाश्वत शमन हो जाता है। श्रीकृष्ण के चरणाम्भोज की सेवा में भक्त जन इतने आत्मविभोर हो जाते हैं कि उनके अंत:करण में मोक्ष की स्पृहा भी नहीं होती। क्षण मात्र भी भगवान का वियोग सह्य नहीं होता। वर्णाश्रम का प्रतिबंध वहाँ नहीं है, परन्तु जो भक्त अनायासेन सुलभ भगवद्दर्शन पा सकता है, वही नित्य अनुष्ठान में लेशमात्र का भी विपर्यय होने पर दंड का भागी होता है। दंड है भगवत् सेवा की घड़ियों में अधिकता का। यहाँ जितना आदर स्नेह का है, उतना ही द्वेष और भय का भी। गोपियाँ यदि काम से प्रेरित होकर शरण में जाती हैं तो चैद्य द्वेष से। गति सबकी एक है।

साहित्यकार सभी रसों में ब्रह्मानन्द सहोदरता का अनुभव करता है। भक्ति रस भी उसका अपवाद नहीं है। यदि करुणरस में शुद्ध आनन्द भासित होता है, तो भक्त को भगवान की परिचर्या से च्युति होने पर वैसा ही आनन्द भासित होता है। वियोग की अंतिम अवस्था से भी उत्कट यंत्रणा भक्ति रस में तत्क्षण होती है, जिसका परिहार भगवत् संगम से ही संभव है। जीव मात्र का वास्तविक योग है मूल रूप श्रीकृष्ण के संगम की प्राप्ति। साक्षात् अथवा छाया रूप में हरि की प्राप्ति सिद्धि हो सकती है, परन्तु तुष्टि तभी होती है जब वह सिद्धि एक बार अभाव के रूप में परिणत हो जाए। अभाव ही भाव-सत्ता का पोषक है। भक्त चिरकाल तक भावाभाव के परिवर्तन का असाध्य द्वंद्व के रूप में अनुभव करता है। पूजा विशेष का विधान तथा ऋतु परिचर्या का विशेष महत्व प्रतिपादन वीर भक्तों के लिए है। वल्लभाचार्य के अनुसार ईर्षालु भक्तों का वध, गोपियों का प्रणय कोप तथा वैर आदि रौद्र रस के परिचायक नहीं हैं। वे अनुकम्पा अथवा प्रेम की उत्कृष्टता के उदाहरण हैं। भयानक भक्ति भी इसी प्रकार अमान्य है। इसके विरुद्ध चैतन्य सम्प्रदाय में भक्ति के सभी रूप सफल माने गए हैं। वहाँ सभी रसों को अंग मानकर भक्ति को अंगी सिद्ध करना ही ध्येय है। भक्ति की व्यापकता और उसके द्वारा समस्त गेय विषयों की गतार्थता का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है।

सम्प्रदायों के सिद्धान्तगत भेद के अनुसार विग्रह के स्वरूप एवं शृंगार में अंतर मिलता है। भक्ति उत्तरोत्तर कर्मकांड का रूप धारण करती जा रही है। फलत: उपासना की अनुक्रमणिका प्रत्येक की भिन्न है। फिर भी मूलगत एकता का विघात आचार्यों ने नहीं होने दिया है। दर्शन का विषय उपासना से और उपासना का कर्मकाण्ड से पूरक रूप में सम्बद्ध है। कर्मकाण्ड अधिकारी निरूपण में ही समाप्त नहीं होता और न वह उपासना कालिक कतिपय विधियों का उल्लेख कर ही विरत होता है, अपितु अनेकाधिकारणक न्यायों के द्वारा व्याप्ति संबद्ध याज्ञिक पद्धति का निरूपण भी करता है। शुद्ध तत्व का महत्व उनकी दृष्टि में अधिक है और द्रव्य की प्रधानता के प्रति उनकी उपेक्षा सी है। उपासना और कर्मकाण्ड की पद्धति का स्थरीकरण केवल शिक्षमाण भक्तों के लिए उपलालना मात्र है अथवा उनके आरंभिक ज्ञान का उपाय है।

कर्मकाण्ड का दूसरा आवश्यक अंग अशौच है। उपासना की द्राव्यिक क्रियाएँ इस काल में समाप्त हो जाती हैं। साधारण भक्त अपने पार्थिव शरीर को पूत नहीं मानता। निम्बार्क, वल्लभ और मध्वगौडीय सम्प्रदाय उस समय पूजा के अधिकारियों को सेवा से वंचित रखता है। चैतन्य सम्प्रदाय के चिह्न चिह्नित परम भक्त का स्थूल शरीर अशौच की बाधा से सदा मुक्त रहता है। वे बिना किसी प्रतिबंध के अनुष्ठान नित्यता स्वीकार कर लेते हैं। आगे इन सम्प्रदायों की कर्मकाण्ड मिश्रित उपासना पद्धति का पृथक-पृथक विचार किया जाएगा।

वल्लभ सम्प्रदाय

भावना

उपासना का सम्बन्ध भाव, भावना और सेव्य स्वरूप के निश्चय पर आधारित है। भावना पहले आत्मिक और फिर मनोव्यापार के अनन्तर इन्द्रिय द्वारा प्रस्फुटित होती है। चित्त और अहंकार सदा मध्यस्थ रहते हैं। चेतना और अहंकार की उत्कृष्ट मात्राओं में राग-द्वेष की भावनाएँ स्नेह और विभाग की न केवल कारण बनती हैं, बल्कि विभावना के रूप में कार्य और कारण के पार्थक्य को नष्ट भी कर देती हैं। परिणाम यह होता है कि कभी-कभी वांछित वस्तु से राग की अपेक्षा द्वेष अधिक होने लगता है। अतः सेवा कौमुदी, सेवाचन्द्रिका, वल्लभपुष्टिप्रकाश आदि ग्रन्थों में भावना की अन्तर्वाह्य दृढ़ता पर बड़ा जोर दिया गया है। भगवान श्रीकृष्ण में अनन्याश्रय तथा सर्वकालों में उनका चिन्तन भक्ति की उत्कृष्टता है। विधि निषेधों का विधान परमभाव की प्राप्ति का साधन मात्र है। उसकी सिद्धि होने पर दोष भी गुण रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस बात का परिचय विभिन्न साम्प्रदायिक वार्ताओं से मिलता है।

सेव्य स्वरूप का निर्णय भावना पर ही विशेष रूप में अवलम्बित है। भावनाभिभूत भावुक भक्त भूत, वर्तमान और भविष्य की चिता से विरक्त हो और शास्त्र की उपेक्षा कर अपने अभिलषित रूप की कल्पना करता है। शास्त्र और सम्प्रदाय उस कल्पित रूप का परिष्कार मात्र करते है। बालगोपाल की वत्सल मूर्ति हो अथवा अप्रतिम शृंगारिक राधा कृष्ण की युगल मूर्ति हो, दोनों का समर्थन सेवक की भावना और सेव्य के साथ उसके सम्बन्ध के द्वारा होता है। मूर्तियों का कालिक भेद और उसके अनुसार शृंगार तथा भोग की सामग्रियों में भेद सेवक की कालगत आवश्यकताओं का द्योतक है। इसीलिए ही वल्लभ सम्प्रदाय में समस्त मानवीय सम्बन्धों की भावना, तदनुरूप उपासना के स्वरूप तथा शृंगार, भोग आदि का विस्तृत विधान मिलता है।

अवश्य ही वहाँ सेवाक्रम में बालभाव की ही प्रधानता है, परन्तु साथ ही निकुंज भाव का महत्व भी कम नहीं है। वल्लभाचार्य ने तीन प्रकार के पुष्ट भक्तों का वर्णन किया है। उदाहरण स्वरूप उन्होंने अन्यपूर्वा अथवा गोपांगना, अनन्यपूर्वा अथवा गोपी तथा सामान्या अथवा व्रजांगना जनों की भक्ति की विवेचना की है, जो क्रमशः परकीया, स्वकीया तथा वात्सल्य भक्ति की आदर्श है। निस्संदेह अंतिम भाव भक्ति का प्रथम सोपान है। एक सुन्दर बालक के प्रति जिस प्रकार स्वार्थशून्य हृदय से अनुराग किया जा सकता है, वैसा अन्य

सम्बन्धियों के प्रति नहीं हो सकता। बालकों की समस्त क्रीड़ाएँ स्वाभाविक, अहं भावना रहित, अटपटी तथा आनन्दात्मक होती हैं। भक्त के हृदय को उसी के अनुरूप बनाने का भी वल्लभाचार्य का उद्देश्य संभवतः रहा हो।

गुरु और ब्रह्मसम्बन्ध

भाव भावना एवं सेव्य स्वरूप के निर्णय की निर्दोषिता को गुरु से प्रमाणित कराना पड़ता है। सेवक की दृष्टि में गुरु का महत्व सेव्य विग्रह से कदापि कम नहीं है। पुष्टि भक्ति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मसम्बन्ध की आवश्यकता पड़ती है। गुरु मध्यस्थ के रूप में इच्छुक भक्त को उसके लिए दीक्षित करता है। वह शिष्य को हरि सम्बन्ध का स्मरण कराता है। दीक्षा के दिन शिष्य गुरु के गृह में अपरस में स्नान कर श्रीकृष्ण के रूप के सम्मुख जाता है। वहाँ वह अपने सब दोषों का विज्ञापन कर कृष्ण को आत्म समर्पण कर देता है। देह, प्राण, इन्द्रिय, अंतःकरण, दाराभार, पुत्र, वित्त, इहलोक, परलोक और आत्मा को उन्हें समर्पित कर वह दास बन जाता है और 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस अष्टाक्षर मंत्र के द्वारा वह अपने को श्रीचरणों में आत्म-निवेदन कर देता है।

विग्रह में जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध तो सनातन है। देह की नश्वरता को देखते हुए उसका जीव और ब्रह्म के साथ थोड़ा भी सम्बन्ध वाधित है। पुराणों के लिग देह की कल्पना और उनका ही नित्य विभु से सम्बन्ध वैष्णवों को अमान्य है। देह और जीव अवयव अवयवि भाव से परस्पर सम्बद्ध होकर ब्रह्म के साथ आश्रय आश्रयी भाव से सम्बन्धित है। ब्रह्मसम्बन्धकरण से पंच प्रकार के सम्पूर्ण दोष निवृत्त हो जाते हैं।[१] पंचमूल निर्मित शरीर का अविद्या दोषांश समाप्त हो जाता है। उपासना में देवता की कल्पना, देवत्व में ब्रह्मसम्बन्ध की स्थापना और जीव देह में उस सम्बन्ध की कल्पना उत्तरोत्तर ग्राह्य और ग्राहक सम्बन्ध की पोषिका है। वह उपासना का अंग न होकर उपास्य, उपासक और उपासना का कालिक और काल्पनिक भेद मात्र है। उसका चरम अवसान अद्वैतवाद और सर्वात्मवाद में होता है।

तुलसी

ब्रह्मसम्बन्ध में तुलसी का सन्निधान अथवा उसकी हस्तांजलि उपासना में विहित है। अवसान में स्वयं भक्त तुलसी का भगवान से आदान-प्रदान करता है, वह उसके अनन्य सख्य का सूचक है अथवा अनुग्रह का। भगवान का साक्षात्स्वरूप तुलसी में विराजित होता है। वह साक्षात् अनन्य सेविका भक्ति ही है। श्री भगवान का चरण-रज ही तुलसी के रूप में परिणत हुआ है। भक्त की दृष्टि में विग्रह का उत्तमांग शिर न होकर श्री चरण है। अतएव सख्य अथवा अनुग्रह में तुलसी को मध्यस्थ बनाना उचित है। शंकर सम्प्रदाय में कृपा के लिए तथा सत्व, रज और तम की समता के लिए विल्वपत्र की तीन पंक्तियाँ परिचर्या में ग्राह्य मानी गई

---

१. **ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।**
सर्वदोष निवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधाःस्मृताः॥

—सिद्धान्तरहस्य, षोडशग्रंथ, श्लोक २, पृ० ४७

हैं। वहाँ गुणत्रय की समता ही मोक्ष है यहाँ निश्चयात्मक विलास ही मोक्ष हैं।

सबसे अन्त में शिष्य पुनः आत्म सम्बन्ध का विज्ञापन करता है। इसके अनन्तर ही गुरु उसे परमगुप्त बीजमंत्र का उपदेश करता है। वह मंत्र है :—

ॐश्रीं क्लीं गोपालाय नमः

इतने कर्मकांड के बाद उसे समस्त पुष्टिमार्गीय सेवा का अधिकार मिल जाता है।

सेवा

वल्लभाचार्य ने सेवा तीन प्रकार की बतलाई है। तनुजा और वित्तजा क्रियात्मक सेवाएँ हैं और मानसी सेवा भावनात्मक है। मानसी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है। उसकी सिद्धि तनुजा तथा वित्तजा सेवा से ही संभव है। अतएव संसार के दुःखों से छुटकारा पाने और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हीं को अपनाना चाहिए।[1] उनके द्वारा रसात्मक कृष्णलीला का अहर्निश चिन्तन करने का अभ्यास हो जाएगा। जब तक विरह की उत्कट अनुभूति न होने लगे स्वधर्मानुसार गृहस्थ जीवन बिताना चाहिए और अनासक्ति की प्राप्ति में सचेष्ट रहना चाहिए। वह क्रियात्मक सेवा सम्प्रदाय में तीन भागों में विभक्त है, आह्निक, पार्विक और आर्त्विजीन।

आह्निक कृत्य

आह्निक सेवा का प्रारम्भ शारीरिक और आत्मिक शुद्धि से होता है। छः घटी रात्रि शेष रहने पर शय्या त्याग कर भगवन्नाम का उच्चारण करना आवश्यक है। पहले रात्रि का वस्त्र परिवर्तित होना चाहिए और हस्तपादादि का प्रक्षालन बाद में। चरणामृत लेने के अनन्तर आचार्य महाप्रभु को दंडवत तथा स्तुति, गिरधर आदि सप्तकुमारो और गोवर्धनधर चतुर्बाहु गोकुलेश की अनन्यमनसा स्मृति एवं गुणोल्लेख विधि संगत है। अंत में बालकृष्ण का ध्यान इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे यशोदा के उत्संग लालन की स्मृति प्रतिपल होती रहे। भगवान के विभिन्न नामों का प्रातःस्मरण पाप, अज्ञान तथा अविद्या का व्यावर्तक है। प्रातः सेवन का प्रथम भाग यहीं समाप्त होता है। देह कृत्य के लिए भी भक्त स्वतंत्र नहीं हैं। मंत्रों का पाठ उसे शौच और दंत धावन में भी करना पड़ता है।[2]

---

१. चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥
—सिद्धान्तमुक्तावली, षोडशग्रंथ, श्लोक २, पृ० २३

२. उद्धृतासि वराहेण विश्वाधारे वसुन्धरे।
त्वं देहमलसम्बन्धादपराधं क्षमस्व मे॥
....
वनस्पते मनुष्याणामुद्धतचास्य शुद्धये॥
कृष्णसेवार्थकस्याशु मुखं मे विमलीकुरु॥
—वल्लभपुष्टिप्रकाश, श्लोक ३५, ३७, पृ० १७

दृढ़ भक्त को अपराध क्षमापनार्थ सदा सचेष्ट रहना पड़ता है। अणु-अणु में भगवत् सत्ता का आभास उसे मिलता है। इसी कारण उसे अपने कुकृत्यों पर निरन्तर पश्चात्ताप होता है। स्थावर और जंगम में उसकी दृष्टि समान होने लगती है। वह शरीर सत्ता के साथ ही शारीरिक क्रियाओं का अर्पण आराध्य को करता है। उसे सर्वत्र भगवत् परतंत्रता का ही आभास मिलता है।

स्नान के अनंतर यमुनाष्टक का पाठ करना और पठन काल में ही अशेष कर्मों का परित्याग कर जगमोहन में आना चाहिए और तत्काल शरीर को पवित्र करने के लिए चरणामृत लेना चाहिए, तब उसमें सेवन योग्यता का आधान होता है, रात्रि सम्बद्ध स्वकार्यों के प्रति उसकी दीनता स्फुरित होती है और कृपा की याचना के द्वारा उसे आत्म-शुद्धि का आभास होता है।

तिलक, मुद्रा और अंगन्यास

उपासना के अंगभूत आह्निक कृत्यों में तिलक और मुद्रा को धारण करना विशेष महत्व रखता है। व्रज के सभी वैष्णव विग्रह की विभिन्नता के साथ ही साथ तिलक-मुद्रा की पृथकता मानते हैं। उनके दार्शनिक सिद्धान्त, विग्रह की आकृति और तिलक-मुद्रा का स्वरूप परस्पर एक-दूसरे के सम्बन्ध के द्योतक और मूलतः पोषक हैं। सभी सम्प्रदायों में द्वादश तिलकों की व्यवस्था है। वल्लभ सम्प्रदाय में ललाट में दंडाकार, वक्षस्थल पर पद्माकार, भुजाओं में रेणपत्राकार और अन्यत्र दीपशिखाकार तिलक मान्य है। उनमें पृथक-पृथक, पर वस्तुतः एक स्वरूप, देवताओं का आधान होता है।[१] वैष्णव वर्ग भस्म को अत्यंत अपवित्र मानता है। प्रस्तुत सम्प्रदाय में हरिचन्दन एवं रक्तचन्दन का प्रयोग भी वर्जित है। गोपीचन्दन का ही प्रयोग भक्तों के लिए विधि रूप में स्वीकार किया गया है।

अर्चना की योग्यता केवल तिलकों से ही पर्याप्त नहीं होती। उसके लिए मुद्राओं की भी अनिवार्यता होती है। वे नाम, पद्म, चक्र, शंख, गदा तथा गदापद्म आकार भेद से छः विभागों में विभक्त हैं। आत्मशुद्धि तथा शरीरस्थ अंतः वस्तुओं में स्फूर्ति के हेतु अंगन्यास की आवश्यकता है। उसकी विधि वेदों से प्रारम्भ होकर मंत्रों में अधिक पल्लवित हुई है।

अष्टयाम सेवा

इस प्रकार शुद्ध होकर और वैष्णव चिह्न से चिह्नित होकर उपासक प्रभु सेवा में दत्तचित्त होता है। प्रातःकाल सूर्योदय से लेकर रात्रि में शयन पर्यन्त वह अष्टयाम सेवा में संलग्न रहता

---

१. उद्धृतासि वराहेण विश्वाधारे वसुन्धरे।
त्वे देहमलसम्बन्धादपराधं क्षमस्व मे॥

....

वनस्पते मनुष्याणामुद्धृतचास्य शुद्धये॥
कृष्णसेवार्थकस्याशु मुखं मे विमलीकुरु॥

—वल्लभपुष्टिप्रकाश, श्लोक ४३-४६, पृ० १९

है। वह प्रधानतः तीन भागों में बँटी हुई है—भोग, राग और शृंगार। साधारण मनुष्य इन्हीं तीन विषयों में प्रायः संलिप्त रहता है। समय और ऋतु के अनुरूप तीनों का परिवर्तन लोक व्यवहार से दृष्ट है। अतः संसारावस्था में तीनों का प्रभु को समर्पण और उन्हीं के लिए उनकी व्यवस्था आदि जीवन मुक्ति के प्रायोजक हैं। आठ समय की सेवा क्रमशः है—मंगल, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सान्ध्य आरती और शयन।

मंगल

दिन के प्रथम भाग में उपासना गृह में प्रवेश के अवसर पर और मार्जन, प्रक्षालन आदि कर्मो के पूर्व वाचिक स्तवन की पद्धति वल्लभ सम्प्रदाय की विशेषता है। वल्लभाष्टक, अंतः करण प्रबोध, सिद्धान्त रहस्य, गोकुलाष्टक, भक्तिवर्धनी, सेवाफल, नवरत्न, गुप्तरस आदि का पाठ समय के विभिन्न कृत्यों के साथ-साथ करते रहना चाहिए। शयनागार में स्थित भगवद् विग्रह के युगल स्वरूपों के निरीक्षण का भक्त के लिए निषेध है। नेत्र की निमीलितावस्था में शीतल जल के द्वारा विशेष सत्कार कर विग्रहों का उत्थापन और यथास्थान स्थापन होता है। शीतल जल की पद्धति इस सम्प्रदाय की अत्यंत आवश्यक विशेषता है।[१]

पादुका

स्वरूपों को जगाने के पूर्व ही श्रीपादुका को भी जगाया जाता है। प्रत्येक भक्त की हार्दिक अभिलाषा होती है कि वह श्रीपादुका की भाँति नित्य भगवत् चरण में सेवा का अवसर पा सके। आराध्य की अर्चना के पूर्व वह उसकी अभ्यर्थना करता है। उसकी धारणा है कि बिना श्रीपादुका की कृपा के गोपीवल्लभ में स्थायी रति उत्पन्न नहीं होती। उसके शयन, उत्थापन, अस्तरण और शृंगार आदि की उतनी ही अनुपम अवस्था करनी पड़ती है, जितनी की श्री भगवान की। उसका अभ्यंग स्नान भी अधिक मात्रा में होता है। भक्त को विश्वास है कि वह उसके छिद्रों और त्रुटियों पर ध्यान दिये बिना ही पादपद्म के पराग से अवश्य सनाथ करेगी। उसका स्थान सदा वाम भाग में होता है। आरती और मंगल भोग श्रीपादुका के लिए प्राथमिक निवेदन हैं।

मंगल-भोग तथा आरती

घंटानाद और स्तुति के माध्यम से मंगलरूप हरि और स्वामिनी जी को जगाकर और चरण स्पर्श करने के अनन्तर भोग समर्पित किया जाता है। गोपीवल्लभ के भोग समर्पण की क्रिया भक्त के लिए परीक्षा का समय है। भक्ति को उसके पूर्व और पश्चात् भगवान् की तुष्टि और तृप्ति की चिन्ता व्याप्त रहती है। अबोध शिशुओं को तृप्त करना विशेष महत्वपूर्ण है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ इस कार्य में अधिक सफल होती हैं। इसलिए तत्काल में गोपिका भाव का

---

१. **प्रियारतिश्रमहरं सुगन्धि परिशीतलम्।**
यामुनं वारिपात्रैस्मिन् भव श्रीकृष्णतापहृत्॥

—वल्लभपुष्टि प्रकाश, श्लोक ६२, पृ० २२

होना और भगवान को सबल बनाकर स्वार्थ साधन की लिप्सा का उदात्त भाव होना अपेक्षित है।[१] अंत में आरती की व्यवस्था है।

शृंगार

इसके पश्चात् प्रभु का मंगलस्नान तथा रात्रिकाल के परित्यक्त वस्त्र के प्रक्षालन का अवसर है। फिर वस्त्रालंकारों के यथावसर शृंगार की प्रणाली है। शरीर के शोभन के लिए और सरल मार्ग से गोपियों के आकर्षण के लिए संभूत तथा प्रभूत शृंगार की शक्ति भगवान से मिलती है। वल्लभ सम्प्रदाय एकाकी आराधना का पक्षपाती है। उसे युगल विग्रह में शुद्धाद्वैत वाद का स्पष्ट विरोध दीख पड़ता है, परन्तु पूजा के सान्निध्य में काल्पनिक और अंतस्तल में चित्रित गोपियों का मूर्त रूप अवश्य अभिव्यक्त होता है। भगवान के अलंकार की पद्धति भी इसी दृष्टि से निर्धारित है। यौवनकाल के उचित शृंगार बाल जीवन के लिए उपयुक्त नहीं, किन्तु अलौकिक दिव्य शक्ति सम्पन्न भगवत् शरीर में वय की मर्यादा का प्रश्न नहीं उठता। पूर्व शृंगार के अनन्तर नखात्मक आदर्श में सेव्य सेवक का वदनाम्बुज निरीक्षण और इस सम्मोहन क्रिया के द्वारा प्रांजल प्रतीक का परीक्षण और निदर्शन सुदृढ़ भक्त होने का परिचायक है। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में यह पद्धति नहीं है।

ग्वाल

शृंगार के बाद शृंगारभोग और फिर ग्वाल के भाव से धैया अरोगाई जाती है। स्वर्ण पात्र में पय: फेन (धैया) का विज्ञापन कर उसे समर्पित किया जाता है। उसके उपरांत पालने में प्रभु को पधरा कर विविध खिलौनों से उनका मनोरंजन किया जाता है। प्रेंखारोहण के अवसर पर विशेष रूप से नवनीत प्रिय भगवान श्रीकृष्ण की कृपा की अभिलाषा भक्त को होती है।

राजभोग

मध्याह्न में राजभोग बड़ी धूमधाम और विधि-विधान के साथ होता है। वह सखड़ी और अनसखड़ी भेद से दो प्रकार का होता है जो कच्ची रसोई और पक्वान्न के वाचक हैं। आज भी मंदिरों में उस समय पर्दे की प्रथा है। भक्त उपासनासक्त अन्य भक्तों की दृष्टि से भोग को बचाता है, परन्तु भोग के अवसर पर भगवान की प्रेयसी गोपिकाओं का आवाहन अवश्य करता है। कभी-कभी तो प्रिया के उच्छष्ट समर्पण में वह अपनी पद्धति की पराकाष्ठा समझता है।[२] धूप, दीप, आरती, नीराजन और घंटावादन पूजा के तात्कालिक अवसान के परिचायक हैं। घंटे

---

१. **गोपिकाभावतः स्नेहाद्भुक्तं तासां गृहे यथा।**
मदर्पितं तथा भुंक्ष्व कृपया गोपिकापते॥

—वल्लभपुष्टि प्रकाश, श्लोक १०१, पृ० ३४

२. **प्रियामुखाम्बुजामोदसुरभ्यन्नमतिप्रियम्॥**
अंगीकुरुष्व गोपीश त्वदीयत्वान्निवेदितम्॥

—वही, श्लोक १२०, पृ० ३९

का अभिप्राय प्रभु के क्रीड़ा मंदिर में स्थित गोप और गोपियों को राजभोग की सूचना देना है। उसकी अव्यक्त ध्वनियों में उनकी भोगेच्छा प्रकट होती है। गोपी शिरोमणि राधा के द्वारा अंगीकृत राजभोग ही समर्पण के योग्य माना जाता है। सबके अन्त में भगवान की अंगभूत तुलसी का निवेदन होता है। इसके लिए सामान्य और विशेष दो प्रकार के मंत्र हैं। अष्टाक्षर मंत्र का अधिकार अंतरंग भक्तों को ही है। समाप्ति सभी भोगों की आरती के द्वारा ही निर्दिष्ट है।

निकुंज गमन

अपने जीवन की समस्त लीलाओं के साथ भगवान का सम्बन्ध स्थापित करना भक्त समुदाय का लक्ष्य है। जीव तथा ब्रह्म का शाश्वत सम्बन्ध रूप, गुण, क्रिया एवं विशेष पर ही आधारित है। राजभोग के उपरान्त पूजा के अवसर पर निकुंज गमन की व्यवस्था उपर्युक्त कारण से ही की जाती है। प्रिया के संकेत पर कुंज गमन, लताओं तथा गुल्मों के अपवारण में अनेक केलियों का अनुभव तथा भावात्मक पर्यक पर संक्रीड़न और गोचारण जैसी श्लिष्ट अवस्था का सम्पादन, सेवाभाव से भक्तजन के हृदयात्मक गृह में रमण और दृगद्वार का निमीलन, जो कि अतिशय सुख के स्वाद का द्योतक है, एकांत विलास आदि का उद्देश्य स्वाभाविक जन रुचि को प्रश्रय देने के लिए ही है।[१] भक्त के सुकोमल हृदय और भावना पर इस क्रिया का अतर्किक प्रभाव पड़ता है। वह आत्मविभोर की अवस्था में साक्षात् कृष्ण और मूर्त राधा की क्रीड़ा केलि का वाह्य प्रत्यक्ष करने लगता है। कभी-कभी तो आन्तरिक क्रियाओं के लौकिक केलि कौतूहल के वाह्य चिह्न भी उसमें परिलक्षित होने लगते हैं।

महाप्रसाद

राजभोग का प्रसाद महाप्रसाद माना जाता है जिसकी भक्त और श्रद्धालु जन किसी प्रकार प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वैष्णव सम्प्रदायों का प्रारम्भ सामाजिक संकीर्णता के मार्जन करने के निमित्त ही हुआ है, परन्तु कालान्तर में उसमें जातिगत उच्चावच भाव प्रवेश कर गया। ब्राह्मण वैष्णवो को विशेषाधिकार मिलने लगा। महाप्रसाद का प्रथम अधिकारी ब्राह्मण है। कृष्णचर्वित ताम्बूल तथा चरणोदक का प्रथम भागी वही है। अर्चा में शरणमंत्र और अष्टाक्षर मंत्र के उपदेश का भार भी उसी का वहन करना पड़ता है। यह अवश्य है कि उत्कृष्ट अवस्था सब समान हैं। आधारभूत शक्ति राधा से कुशलप्रश्न करने का विशेषाधिकार वर्णाश्रम की अपेक्षा नहीं करता।

---

१. **प्रियासंकेतकुंजीयकृक्षमूलेषु पल्लवे:॥**
कृतेषु भावतल्पेषु क्रीडन् गोचारणं कुरु॥
सेवतोत्र हरे रन्तुं गृहे मद्धृदयात्मके॥
निमीलयामि दृग्द्वारं विलसैकान्तसद्मनि॥

—वल्लभपुष्टि प्रकाश, श्लोक १५०-१५१, पृ० ४५

उत्थापन और भोग

सात घड़ी दिन रहने पर उत्थापन होता है। उसकी क्रियाएँ मंगल के समान ही स्नान और तिलक आदि के द्वारा निष्पन्न होती हैं। पाठ केवल प्रेमामृत का होता है। दर्शन के बाद यथासमय टेरा खींच कर भोग का समर्पण और पुन: दर्शन का विधान है।

सान्ध्य आरती

दिवस के अवसान में गोपाल कृष्ण व्रज ग्राम में लौट कर आते थे। उनकी समस्त व्रज वधुएँ उत्सुकता से प्रतीक्षा करती थीं। इसी भावना से सान्ध्य आरती एवं भोग की व्यवस्था है। आरती द्वारा स्वागत करना आनन्द के प्रकाश को विस्तीर्ण करना है। प्रत्येक अवसर पर आत्म-विज्ञप्ति और क्षमादान की याचना अनिवार्य है। भक्तों के स्वल्प अपराध तो उपेक्षणीय हैं ही अहर्निश सहस्र अपराध को भी व्रजेश्वर कृष्ण क्षमा करने की क्षमता रखते हैं।

शयन

अंत में शयन भोग और शयन आरती का क्रम आता है। उस समय भी सखड़ी, अनसखड़ी और पय: फेन की व्यवस्था की जाती है। प्रभु, स्वामिनी जी, आचार्य और गुसाई जी की विज्ञप्ति तथा नमस्कार के अनन्तर भावात्मक शेष रूप तल्प पर प्रभु का शयन और राधिका जी के रमण का स्मरण करते हुए आह्निक सेवा की समाप्ति होती है।[१]

अलंकार

शयन के पूर्व बड़े श्रृंगार के दर्शन होते हैं। सम्प्रदाय में इस विषय में विवाद है। कुछ लोग आभूषणों के उतारण और उनके अभाव में सहज श्रृंगार के पक्ष में हैं। दूसरे वर्ग के लोगों को भगवान का श्रृंगारहीन होना खटकता है। वे अष्टांग अथवा षडंग आश्लेष से व्यवधायक श्रृंगार के साधनों को छोड़कर शेष श्रृंगार के पक्षपाती हैं, क्योंकि वे बाधक न होकर उद्दीपन कारक होते हैं। शुद्धाद्वैतवाद शक्ति और शक्य में भेदाभेदहीन तादात्म्य को स्वीकार करता है। अत: राधा और कृष्ण के श्रृंगार के संपादक आभूषण अन्तराय न होकर आश्लेष के बंधक यंत्र हैं।

पर्वनिर्णय

अंत:शरीर की शुद्धता के लिए व्रत, अनुष्ठान और उपाकर्म की आवश्यकता पड़ती है। व्रत के विरोध का सम्बन्ध तिथियों से है। स्मार्तों के यहाँ उनका निर्णय ज्योतिष और धर्मशास्त्र के निबन्धों के समन्वय पर आधारित है। वैष्णव मत दोनों की उपेक्षा करता है, किन्तु वास्तव में दोनों में भेद प्राथमिकता का न होकर भोग्यकाल का है। विभिन्न पर्वों के निर्णय में एकरूपता की कमी भी वैष्णवों के यहाँ मिलती है। वल्लभ सम्प्रदाय में ५५ घटिका दशमी विद्धा एकादशी का ही त्याग किया जाता है। कालज्ञान के अभाव में शुद्ध द्वादशी के दिन भी

---

१. **भावात्मके स्मद्धृदयपर्यंके शेषरूपके।**
रमस्व राधिकया कृष्ण शयने रसमाविते॥

—वल्लभपुष्टि प्रकाश, श्लोक २००, पृ० ५७

व्रत रहना विहित है।[१] कृष्ण जन्माष्टमी में ५५ घटी के प्रश्न का परित्याग कर पलमात्र की औदयिक सूर्योदय की तिथि ही मान्य है। वह नवमी से संयुक्त अथवा क्षमावस्था में विशुद्ध नवमी भी हो सकती है।[२] राधाष्टमी की निशीथ व्यापकता होना अनिवार्य है। वामन द्वादशी, मातृद्वितीया, अन्नकूटोत्सव, संक्रान्ति, साम्प्रदायिक महाशयों के जन्मोत्सव आदि के पर्वो की तिथियाँ मध्याह्नकाल में व्यापक होनी चाहिए। विजयादशमी की सांध्य व्यापकता अपवाद है।

जन्माष्टमी

राधावल्लभी सम्प्रदाय को छोड़कर व्रज के अन्य वैष्णव सम्प्रदायों का मुख्य उत्सव जन्माष्टमी है। साक्षात् हरिवासर एकादशी का महत्व भी इसके सामने नगण्य है। वल्लभ सम्प्रदाय में पौराणिक गाथा के अनुसार, व्रज में पूर्व से ही अवतरित, गोप और गोपिकाओं का समुदाय हर्ष और शोक की दोला पर भाद्र कृष्ण पंचमी से ही आरूढ़ हो जाता है। आकाशवाणी और शुभ शकुन हर्ष का, और माता देवकी के स्थान पर यशोदा के कष्ट की पराकाष्ठा शोक का कारण है। उपासना का उपक्रम त्रयोदशी तक अविकल चलता है। जन्म के ठीक बारह घंटे पूर्व ही सूतिकाद्वार पर सम्पूर्ण संभारों के साथ वैष्णव मंडली डट जाती है। वह प्रतीक्षा के साथ ही साथ मंगलगान करने लगती है। इस काल के उनके निजी संकल्प हैं। संकल्पों में आए हुए शब्द भूत, वर्तमान और भविष्यत् भेद का अतिक्रमण कर जाते हैं।[३] सत्ताहीन एक काल का परिज्ञान मुक्ति का परिचायक है।

पर्व भावना

भावना पर ही एकमात्र बल देने वाला वल्लभ सम्प्रदाय उत्सवों एवं जयंतियों पर अपने निजी भावों का आरोप करता है। दशहरे के नौ दिनों में सगुण भक्तों के और दशम दिवस निर्गुण भक्तों के मनोरथ पूर्ण होते हैं। उस दिन केवल माठ का भोग चन्द्रमुखी स्वामिनी जी के प्रथम संगम का सूचक है और श्वेत बागा का धारण चन्द्रावली के वर्ण को अंगीकार करना है। धनतेरस में हरा वस्त्र और पीत हटरी ठाकुर जी और स्वामिनी के संगम के व्यंजक हैं और उसमें जरी का काम कोटि कंदर्प के लावण्य को व्यक्त करता है। हरि प्रबोधिनी एकादशी में ईक्षु का मंडप विवाह, उसका रस स्वामिनी जी की आसक्ति और श्वेत कूलह उज्ज्वल निर्विकार स्नेह के अभिप्राय से प्रयोग किया जाता है।[४] इसी तरह रामनवमी, वामनद्वादशी आदि की विभिन्न भावनाएँ हैं।

ऋतुओं का उत्सव

प्रस्तुत सम्प्रदाय में आर्त्विजीन पर्वो को भी बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। डोल, फूल, मंडली, हिडोल, रास, देव प्रबोधिनी तथा होली में आनन्द और कला का

---

१. उत्सवप्रतान, प्रबोधिनी निर्णय, पृ० ७९-८६
२. वही, जन्माष्टमी निर्णय, पृ० १-३१
३. वल्लभपुष्टिप्रकाश, पृ० ६२-६७
४. हरिराम कृतभावना, वल्लभविलास, भाग ३, पृ० ६७-८६

सुन्दर सामंजस्य प्रदर्शित होता है। अन्य अवसरों की तरह इनमें भी भोग, राग और शृंगार की विशेष व्यवस्था होती है। वे सभी रसात्मक कृष्ण की रसमयी लीला से ओत-प्रोत होते हैं। उनमें भी हिंडोल, रास और होली कवि जनों की भावना को अधिकाधिक आकृष्ट कर सके हैं।

कीर्तन

प्रारंभ से ही पुष्टिमार्गीय सेवापद्धति में आह्निक दर्शनों और पार्विक तथा आर्त्विजीन उत्सवों में गुणकीर्तन एक अपरिहार्य अंग रहा है। उनकी गायन की पद्धति भी अपनी अलग है। विविध राग-रागनियों के स्वर अनायास ही हृदय आकर्षित कर लेते हैं। संगीत और भक्ति का सम्बन्ध अत्यंत प्राचीन है। भक्तिसूत्र प्रणेता नारद की वीणा विस्मरण की वस्तु नहीं है। अष्टछापी भक्त विभिन्न अवसरों पर पृथक-पृथक अथवा संवेत निज निर्मित पदों को गाया करते थे। आज भी उन्हीं पदों को प्राथमिकता दी जाती है। इस प्रथा से उत्तरकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में कोई भी वंचित नहीं रह सका है।

सेवाफल

आराधक, ऐश्वर्य, वीर्य, यज्ञ, श्री, वित्त और वैराग्य इन षड्गुणों की प्रतिष्ठा विग्रह में करता है। आगे चल कर इनका आधान निज शरीर में कर वह वास्तविक मुक्ति अर्थात् निरंतर प्रभु सेवा का फल पाता है। मुक्ति कोई अनुपम अथवा शरीरांतर साध्य वस्तु नहीं है। अर्चना के क्रम और उसके नियम उपनियम सब के सब परम्परित रीति से उसके साधक होते हैं। समस्त आभ्युदायिक कार्यो का सर्वथा सफल उद्गम उस पर ही अवलम्बित है। माधुर्य और फिर सख्य गुण द्रव्य की भाँति मूर्त रूप में उसके ही द्वारा प्रस्फुटित होते हैं। इसीलिए भक्ति संवलित उपासना का प्राधान्य वल्लभ सम्प्रदाय में निर्दिष्ट है। इसका प्रयोजक फल भौतिक विषयों का अनुशीलन और उनके प्रति हठ और अनुराग है।

अवधि

यहाँ एक शंका होती है कि यदि उपासना अल्पकाल में फलवती हो जाए, तो क्या उसकी सामाप्ति भक्त के संक्षिप्त जीवन काल में ही हो जाएगी अथवा नहीं। निष्फल कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती और फलोत्पत्ति के अनन्तर उसका अवरोध भी होता है। वैष्णव समुदाय उपासना को निरवधि और फलोत्पत्ति के अनन्तर भी प्रवृत्ति की प्रयोजिका मानता है। माया के सनातन आवरण के कारण अर्द्ध चेतन जीव सदा क्षणिकता और नश्वरता की ओर अग्रणी रहता है। लेशमात्र भी भगवत्वियोग उसे लक्ष्य से विचलित कर सकता है। इसलिए नित्य रूप से शक्ति भर उपासना करना ही उचित है।

गौडीय सम्प्रदाय

उपास्य के प्रति अनुराग होने पर ही उपासना सिद्ध होती है। भक्ति मार्ग में उपासना के जोड़ का शब्द है 'सेवा'। इष्ट की मानसी सेवा उपासना है। माधुर्य भावोपासना या उज्ज्वल

रसोपासना ही सर्वाधिक प्रगाढ़ और ऊर्ध्व है। इस प्रकार की उपासना में गुरु कृपा से ही प्रवेश लाभ होता है। चैतन्य सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की सेवा-प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ माना जाता है।

सद्‌गुरु

समस्त साम्प्रदायिक उपासना के आधारभूत ग्रंथ हरिभक्तिविलास के आरम्भ में नि:श्रेयस पर्यन्त सद्‌गुरु के अन्वेषण तथा उनके स्वानुभूत ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न की चर्चा है। केवल भक्ति अथवा उसके द्योतक आचरण ही चरमफल के प्रयोजक नहीं हो सकते। भक्ति की स्वाभाविक और आनुषंगिक क्रियाएँ गुरु से उपदिष्ट होकर तात्विक फल देती हैं। गुरु कर्णधार हैं। उनके प्रति आत्म-निर्भरता न होकर आत्म-समर्पण होना चाहिए। कभी-कभी बुद्धि का मूर्तरूप अनुमान प्रमाण व्यक्तिमात्र को संशय और विपर्यय की अवस्था तक पहुँचा देता है। उस समय गुरु ही हेत्वाभासों का निराकरण करने में समर्थ होता है। वल्लभ सम्प्रदाय की तरह गुरु परम्परा का यहाँ विधान नहीं है। सर्वथा शान्त और अभिज्ञ, शास्त्र निष्णात तथा ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति से सम्पन्न गुरु ही सद्‌गुरु है। इसे वेदशास्त्रों के आधार पर ज्ञान प्राप्त कर और स्वानुभूति के द्वारा उन्हें प्रमाणित कर ही पर-उपदेश प्रवृत्त होना चाहिए।[१]

शिष्य

शिष्य को पहले गुरु की सेवाविधि सीखनी पड़ती है। इसके उपरान्त उसमें उपास्य की सेवा क्षमता का क्रमिक आविर्भाव होता है। गुरु और गुरु के परिवार में समान आस्था रखना और सदा गुरु में ब्रह्म बुद्धि का प्रदर्शन करना शिष्य के श्रेय के लिए अत्यन्त आवश्यक है। तीन वर्ष या एक वर्ष तक गुरु की सेवा और आचरण की शुद्धता के अनन्तर ही उसे दीक्षा प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। सनातन एवं रूप गोस्वामी (रूप मंजरी) की अनुगता इस सम्प्रदाय में आवश्यक है। व्रज-वृन्दावन भक्ति के वे प्रदाता और प्रभु पार्षद हैं। प्रेम-भक्ति का प्राकट्य उन्हीं की कृपा से होता है।

दीक्षा

मंत्र दीक्षा के बिना देव पूजा का अधिकार प्राप्त नहीं होता। दिव्य ज्ञान की अवाप्ति और संचित एवं प्रारब्ध पापों का संक्षय, उसके द्वारा ही संभव है।[२] उसके लिए वैशाख, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष माघ और फाल्गुन मास अत्यंत प्रशस्त हैं। रवि, सोम, बुध, गुरु तथा शुक्रवार तथा रोहिणी, श्रवण, आर्द्रा, धनिष्ठा आदि नक्षत्र उसके लिए उत्तम हैं। मृत्यु के संकट

---

१. हरिभक्तिविलास, प्रथम विलास, पृ० ८-११

२. दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्य्यात् पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता दैशिकेस्तत्वकोविदे:॥
अतो गुरुं प्रणम्यैवं सर्वस्वं विनिवेद्य च।
गृह्णीयाद्वैष्णवं मंत्रं दीक्षापूर्व विधानत:॥

—वही, विष्णुयामल, द्वितीय विलास, पृ० ४३-४४

उपस्थित होने पर कभी भी दीक्षा ली जा सकती है। ग्रहण में उनमें से किसी का भी विचार नहीं होता। गौरी, गणेश, नवग्रह और गुरु की पूजा के अनन्तर कलश स्थापन किया जाना चाहिए। कुंभ में आदित्य की द्वादश कलाओं तथा चन्द्र की षोडश कलाओं का आधान करना चाहिए। उसमें श्वेत पुष्प, अक्षत, स्वर्ण, रजत, रत्न, कुश और समस्त तीर्थों का जल छोड़ना चाहिए। उसके बाद शांखोदक में अष्टगंध मिलाकर और समस्त देवताओं का आवाहन कर उस कलश का अभिषेक विहित है। अंगन्यास, करन्यास, पीठन्यास आदि करने के पश्चात् स्नान फिर संध्या वंदनादि कृत्य की समाप्ति पर १००८ आहुति से दीक्षा होने की विधि ग्रहीत है। कुंभ का निर्माण आदि सद्गुरु का कर्त्तव्य है। हवनीय शाकल्य लाज के अभाव में अपूर्ण हुआ करता है।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि जीव और तदाश्रित पार्थिव शरीर का विवाह दीक्षा रूपी नायिका से सम्पादित करने के उद्देश्य से लाजाहुति की व्यवस्था की गई है।

दीक्षा के अवसर पर शिष्य को दो नवीन वस्त्र धारण करने चाहिए। आचमन और प्राणायाम कर उसे गुरु के पास जाकर दीक्षा की प्रार्थना करनी चाहिए। यहाँ एक अनिवार्य कर्म है पायस को अंतस्थित कृष्ण को समर्पित करना। तदनन्तर आचार्य सामान्य शास्त्रोक्त कर्त्तव्यों का उपदेश कर दातव्य मंत्र की महत्ता समझाता है और अंत में वह बीजमंत्र ॐ क्लीं अचिन्त्याद्वैत गौर कृष्णाय नम: शिष्य को देता है। कृष्ण मंत्रों में गोपाल मन्त्र का महत्व है, उसमें भी अष्टादशाक्षरी मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। गोपाल मन्त्र के साथ श्री गुरु मुख से कामगायत्री को भी ग्रहण करते हैं। कामगायत्री महामन्त्र स्वरूप है। साधक इसका आश्रय ग्रहण कर व्रजमण्डल में परिकर रूप सेवा योग्य शरीर प्राप्त करते हैं। शरीरस्थ सत्कर्म अथवा अपकर्म की भाँति मंत्र का गोपन आवश्यक है। अश्रद्धालु व्यक्ति के साथ सहवास तथा अलापादि निषिद्ध है। इष्टदेव, गुरु, मंत्र और माला इन चारों को गोप्य रखने का उपदेश गुरु बारम्बार देता है। गुरु का कर्त्तव्य दीक्षा मंत्र में ही समाप्त नहीं हो जाता, उसे शिष्य को प्रौढ़ पंडित भी बनाना होता है। विद्वत्ता अज्ञान (अविद्या) की नाशिका है और उसके नाश के बिना पूर्ण श्रद्धा का आविर्भाव अथवा स्थिर बुद्धि का विकास संभव नहीं है।[२]

नित्य कृत्य

दीक्षित व्यक्ति के लिए अनुष्ठान करना आवश्यक है। क्रियाओं, अथवा काल का उल्लंघन करने पर वह प्रायश्चित का भागी होता है। ब्राह्म मुहूर्त में भगवत् नामोच्चारण करते हुए उठना और कीर्तन करते हुए ही मुखधावन तथा वस्त्र परिवर्तन करना अनिवार्य है। कीर्तन की शब्दावली शृंगार मिश्रित माधुर्य की पोषिका है। एकबार ही भगवान्नाम का स्मरण जन्म जन्मांतर के संचित पाप कदम्बों का संहार कर देता है। आत्मध्यान से शरीरस्थ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य षड्रिपु अंतर्हित हो जाते हैं। अनादि निर्धनता, अजर अमरत्व आदि जीव दोष सर्वथा के लिए पृथक हो जाते हैं और भक्त को सारूप्यात्मक मोक्ष तत्काल प्राप्त होता है। द्वादशाक्षर अथवा अष्टाचार मंत्रों में वशीकरण और उच्चाटन की शक्ति

---

१. हरिभक्तिविलास, द्वितीय विलास, पृ० ६१

२. वही, पृ० ८४-८५

है। समस्त इंद्रियों की वृत्ति, मन की अस्थिरता तथा लिप्सा, अविद्या संपृक्त चेतना की दुर्वासना और सब प्रकार की ऐषणाओं से जीव का उच्चाटन और आराध्य परमेश्वर का वशीकरण मंत्र का व्यंग्यार्थ है।[१]

समस्त कर्मो को प्रभु को निवेदन, चरणामृत पान और ध्यान करने के उपरान्त शौच तथा स्नान की व्यवस्था है। आराध्य के उद्देश्य से क्रियमाण सर्व कर्म अविद्यार्जित अज्ञान के नाशक और दिव्य अन्तर्ज्योति के संधुक्षक हैं। समस्त शारीरिक क्रियाओं और शुचिता के सम्पादन के लिए मत्रों की व्यवस्था है। ईश्वर पूजा के पूर्व गुरु का चरणोदक ग्रहण कोटितीर्थ के फल को देने वाला माना गया है। स्नानान्तर गोपाल गायत्री का जाप चैतन्य सम्प्रदाय की विशेषता है।[२] इतर वैष्णवों ने या तो इस पर ध्यान नहीं दिया अथवा सूर्य को ही साक्षात् नारायण राम अथवा कृष्ण मानकर इसकी उपेक्षा की है। गौडीय मत में परदेवोपासना अत्यन्त निषिद्ध है। तदन्तर षोडशोपचार पूजन में पुरुष सूक्त की प्रधानता स्वीकार की गई है। प्रथम स्वस्तिक का निर्माण, मानसिक ध्वजारोपण, पीठ, पात्र तथा वस्त्रों का संस्कार और तेजस पात्रों का समार्चन पूजा के प्रारम्भ की अनुक्रमणिका है। अस्वस्थावस्था के अतिरिक्त भक्त ऊष्ण जल का प्रयोग कभी भी नही कर सकता। पारिवारिक जनन अथवा मरण अशौच होने पर आमलक, तिलतैल और तुलसी का स्नान आवश्यक है।

तिलक

श्री वल्लभ सम्प्रदाय में द्वादश तिलक का विधान जिस रूप में स्वीकृत है उसका ही अविकल रूप गौडीय सम्प्रदाय में भी मिलता है। केवल आकार में भेद है। यहाँ वह दश तथा अष्ट अंगुल परिमाण से दो रूप का होता है। नासिका के अग्रभाग से प्रारंभ होकर प्रथम ऋजु, फिर वक्र, तदनन्तर मध्य में संकुचित और ऋजु बनता हुआ उपस्थामभित्त तक दश अंगुल का उर्ध्वमुंड तिलक बनता है। वह नीचे त्रिकोण तथा ऊपर द्विरेखायुक्त होता है। वह साक्षात् हरि मंदिर ही है।[३] उसके लिए शुद्ध मृतिका का उपयोग होता है।

मुद्रा

तिलक और मुद्रा का गाढ़ साहचर्य है। अष्टाक्षरांकित धातुमयी मुद्रा सम्प्रदाय में अभीप्सित है। चक्र, शंख, गदा, पद्म, खड्ग और चाप के रूप की मुद्राएँ निश्चित आकार एवं परिमाण की होनी चाहिए। तिलक और मुद्रा चिह्नित व्यक्ति के लिए और्ध्वदैहिक क्रियाओं की आवश्यकता नहीं होती। उनसे निखिल सत्कर्मो की अवाप्ति, पुनर्जन्म के विषाद से मुक्ति और जन्मार्जित पापों का सक्षय होता है।

---

१. हरिभक्तिविलास; पृ० १०१-१०३
२. वही, तृतीय विलास, पृ० १४०
इसके अनुसार गोपाल गायत्री है :—गोपीजनाय विद्मेह गोपीजनाय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात्।
३. वही, चतुर्थ विलास, पृ० १७३-१७६

माला

यावत् शास्त्रीय क्रियाएँ एवं शारीरिक नित्य नैमित्तिक कर्म तुलसी की माला के सद्भाव में ही सम्पन्न हो सकते हैं। नव निर्मित माला कृष्णार्पित और विशिष्ट संस्कार युक्त होना चाहिए। यज्ञोपवीत की भाँति आदान अथवा विसर्ग क्रियाओं के समय शरीर पर माला का होना अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय में सामान्यतय: तीन लड़ी की कंठी पहनने की प्रथा है।

गुरु-पूजा

माला धारण करने के बाद संध्या तथा तर्पण और पुन: गुरु-पूजा का स्थान है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवाप्ति गुरु में पराभक्ति के होने पर होती है। उनकी शुश्रूषा साक्षात् कृष्ण रूप में ही होनी चाहिए। तीन बार प्रणाम कर ही मंदिर में प्रवेश करना उचित है।

मूर्ति-पूजा के पूर्व

मंदिर के विभिन्न द्वारों आदि पर प्रतिष्ठित गरुड़, श्री, चंड, धाता, जय-विजय, वास्तु पुरुष, गंगा, यमुना, गणेश, दुर्गा, वाणी, क्षेत्रपाल आदि देवताओं की उपासना गौडीय सम्प्रदाय में अंगभूत मानी गई है। उसके अभाव में दैनिक और पार्विक उपासनाएँ निष्फल हुआ करती हैं। मन्दिर प्रवेश के समय दक्षिण पाद का प्रथम सन्निवेश और देहली का अस्पर्शण आवश्यक है। प्रणत पूर्वक नामोच्चारण और प्रतिश्वास आराध्य के नाम का अंतर्निनाद उपासना काल की निधि है। पुष्प और अक्षत के द्वारा दिग्बन्धन की प्रणाली तंत्र से ली गई है। स्वस्तिपाठ के अनन्तर विघ्नवारक मंत्रों का उच्चारण भूतशुद्धि, सामग्री शुद्धि, आचमन, प्रणायाम, ध्यान, अंगन्यास, मातृकान्यास आदि शंख प्रतिष्ठा, अन्त:पूजा तथा वहि:पूजा आदि मूर्तिपूजा के प्राक की अनुक्रमणिकाएँ हैं। इनका विपर्यास पूजा की व्यर्थता और अविधता का सूचक है।[१] यह विधान सीधे मीमांसा से लिया गया है।

शालग्राम

चैतन्य सम्प्रदाय में स्थिर और अस्थिर भेद से मूर्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। स्थिर मूर्तियाँ अष्टधातुमयी होती हैं। वे यात्रा के अवसर पर विधि संपादन नहीं कर पातीं। अस्थिर मूर्ति शालग्राम की है। वह विशिष्ट गुण, वर्ण, आकार तथा प्रकार की होनी चाहिए, अन्यथा वह पुजार्ह नहीं है। विशेष सिद्ध के लिए विभिन्न गुणक शिला होनी चाहिए। संभवत: तान्त्रिक प्रभाव के कारण ही उसका विधान है। यद्यपि अप्रतिष्ठित मूर्ति की पूजा का निषेध है, तथापि शालग्राम की प्रतिष्ठा शास्त्रों में वर्जित है। उसकी उपासना काम्य न होकर नित्य है और वह स्वयं प्रतिष्ठित है। अष्टधातुमयी प्रतिष्ठापित मूर्ति की पूजा के बाद भी उसकी पूजा की विधीयता समाप्त नहीं होती। उसकी पूजा का अधिकार सब वर्णों को समान रूप से है।[२]

---

१. हरिभक्तिविलास, पंचम विलास, पृ० २३२-२३८

२. स्त्रियो वा यदि वा शूद्रा ब्राह्मणाः क्षत्रियादयः
पूजयित्वा शिलाचक्रं लभन्ते शाश्वतं पदं।

—हरिभक्तिविलास, पंचम विलास, पृ० २६४

गौडीय मत में प्रतिदिन आवाहन तथा प्राण प्रतिष्ठा की आवश्यकता है। संभवतः इसका निवेश शालग्राम की प्रधानता के ही कारण हुआ होगा।

मधुपर्क

आवाहन के उपरांत अष्टमुद्राओं का प्रदर्शन, आसन और मधुपर्क की व्यवस्था है। चैतन्य के पूर्व बंगाल में अनेक कापालिक और तांत्रिक अनुष्ठानों में मधुपर्क का प्रचलन था। उनका तिरस्कार होना कठिन रहा होगा। अतएव कुछ परिष्कार के साथ उनका प्रवेश इस सम्प्रदाय में कर लिया गया होगा।

विरक्त भावना

वैराग्य का स्पष्ट आभास गौडीय उपासना पद्धति में मिलता है। वल्लभ सम्प्रदाय की भाँति स्वर्ण और रजत का प्रयोग यहाँ आवश्यक नहीं है। यहाँ शालग्राम की शिला ताम्रपत्र, वटपत्र, कदलीपत्र अथवा मृणपात्र में भी अभिषिक्त हो सकती है। शंख, घंटा आदि का निनाद भी नित्य नहीं है। पंचामृत स्नान भी काम्य है नित्य नहीं। उनका कहना है कि भगवान भक्त की श्रद्धा देखते हैं न कि सामग्री की बाहुल्यता। हाँ पूजा के अनंतर और मध्य में अंगभूत कीर्तन और स्वाध्याय का विशिष्ट उल्लेख अवश्य है।

भूषण समर्पण

शालग्राम के स्नान के अनन्तर वस्त्रार्पण, पाद्य, तिलक और आचमन का क्रम है। अन्य सम्प्रदायों में स्नानोत्तर पाद्य का विधान नहीं है। फिर विभिन्न मुद्राओं के साथ भक्त जिस अंग का आभूषण समर्पित करता है, उसका वह अंग अत्यंत पुष्ट, ग्रहण शक्ति सम्पन्न और मर्यादित आचरण करने में समर्थ होता है।[१]

गंध

फिर पूर्ववत् आसन निवेदन के साथ गंध सहित तुलसी दान करना चाहिए। अन्यत्र उपासनाओं में गंध शब्द रोरी के लिए आता है। यहाँ उसका वाच्य अर्थ ही अभीष्ट है। निश्चित परिमाण में चन्दन, गुग्गुल, कर्पूर, कस्तूरी और कुमकुम का सम्मिश्रण ही गंध है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी अनुलेपन पर बल दिया गया है, परन्तु वहाँ उषीर की प्रधानता है। गौडीय मत में उषीर चित्त विभ्रंश का प्रयोजक है। अनुलेपन के बाद उसका शोषण विजन के द्वारा होना चाहिए।

पुष्प

ऋतूद्भव पुष्प पूजा के सामान्य प्रयोजक होते हैं, किन्तु बाण, अर्जुन, चम्पक और अशोक के फूल विशेष प्रकार की सिद्धियों के कारक हैं। इन तीनों के अभाव में उनका समर्थ

---

१. **स्त्रियो वा यदि वा शूद्रा ब्राह्मणाः क्षत्रियादयः**
पूजयित्वा शिलाचक्रं लभन्ते शाश्वतं पदं।

—हरिभक्तिविलास, षष्ठ विलास, पृ० ३०६

प्रतिनिधित्व तुलसी ही कर पाती है। पुष्पों का गंध भिन्न-भिन्न भावनाओं का पोषक और उद्बोधक है। श्वेत पुष्प सर्वथा वैराग्य के सूचक तथा शाश्वत अक्षय ब्रह्म की उपलब्धि के प्रयोजक हैं। पाटल पुष्प का यदि पूजा में प्रतिदिन उपयोग हो सके तो भक्त का जन्मार्दित दुरित सदा के लिए शांत हो जाता है। मध्याह्नोत्तर सुमनों का संग्रह वर्जित है। मरुभूमि में उनके अभाव में दुर्वा का प्रयोग हो सकता है। अखंडित विल्वपत्र को निःसंकोच श्रीकृष्ण पर चढ़ाया जा सकता है।[१] इस सबके साथ ही तुलसी अनुपेक्षणीय है।

तुलसी

पापापहरण, वैरिनाशन, सर्वसम्पत्तिप्रदता, परम पुण्योत्पति, वैकुंठ प्राप्ति, भगवतपीड़न आदि दुर्लभ सिद्धियाँ तुलसी के एक दल के अर्पण मात्र से सुलभ हो जाती हैं। पूजा व्यतिरिक्त तथा द्वादशी तथा रविवार उसके त्रोटन के लिए वर्ज्य काल है।

पूजा

यहाँ पूजा की सामग्रियों का निर्णय समाप्त होता है। वेणु, माला, श्रीवत्स कौस्तुभ की पूजा और अनन्तर चार आवरण और तीन उप आवरणों की पूजा से वास्तविक उपासना आरम्भ होती है। इनमें सुदामा, किकणी, दिक्, रुक्मिणी, सत्यभामा, अग्निचैती, वसुदेव, देवकी, गोप, गोपिका और आयुध आदि की पूजा होती है। फिर पूजा के अनेक यांत्रिक और औपचारिक क्रमों का स्थान है, जिनके माहात्म्य का विशद वर्णन हरिभक्तिविलास के सप्तम और अष्टम विलास में मिलता है।

शंखोदक

निर्माल्य धारण के उपरान्त शंखोदक का प्रसाद सभी वैष्णवों के लिए अपेक्षित है। वही जल तुलसी मिश्रित अवस्था में चरणामृत न होकर तीर्थ नाम से विभूषित होता है। आह्निक उपासना की समाप्ति तीर्थ ग्रहण करने के बाद ही होती है।

तुलसीवन तथा धात्री पूजा

आराध्य की पूजा के बाद तुलसी वन की पूजा आवसानिक पूजा है। उसके भी क्रम निश्चित हैं। वापी, कूप आदि के निर्माण से जनित सुकृत एक तुलसी के आरोपण से हुआ करता है। तुलसी के साथ ही धात्री का वृक्ष का माहात्म्य भी कम नहीं है। मंदिरों की अर्चना की अपेक्षा उसकी अर्चना अधिक फलद होती है। स्कंद पुराण में भी उस वृक्ष के नीचे एक गोपी कृष्ण से मिलती है और उसे नित्य सहचरता का वरदान मिलता है।[२] संभवतः इसी कारण उसका अधिक महत्व है।

---

१. **सकृदम्यर्च्य गोविन्दं विल्वपत्रेण मानवः।**
मुक्तिभागी निरातंकः कृष्णास्यानुचरो भवेत्॥

हरिभक्तिविलास, सप्तम विलास, पृ० ३४९

२. **हरिभक्तरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, पृ० ५०**

मध्याह्न

पूर्व वर्णित उपासना का क्रम सामान्य रूप से त्रिकाल विहित है। मध्याह्न और सायं कृत्यों में थोड़ा और निवेश है। मध्याह्न कालिक कृत्य में स्नान की नित्यता न होकर स्वेच्छाचारिता है। बलिवैश्व देव का अपना पृथक विधान है। अग्निहोत्र आदि भी नित्य हैं। श्राद्ध मासिक और वार्षिक दोनों हैं, किन्तु श्राद्धाधिकृत देवता उपास्य कृष्ण ही हैं। मध्याह्न विहित कृत्यों के बिना भोजन का निषेध है। निवेदित महाप्रसाद तथा नैवेद्य का भक्षण उपासना का अंग है।

सायंकाल

सायंकाल की उपासना को नित्य विधि सन्ध्योपासना से प्रारम्भ होती है। सूर्यास्त के साथ अर्घ्य संपादन उत्तम है। कृष्ण के स्तवनात्मक स्तोत्रों का पाठ और हवन की व्यवस्था है। दैनिक कृत्यों का भगवदर्पण भी इसी समय होना चाहिए। इस काल में षोडशोपचार चतु:षष्टि में परिणत हो जाता है। सायंकालीन शयन के अनन्तर भक्त की सुषुप्ति का भी उपासनांगभूत विधान है। क्षर-अक्षर ब्रह्म क्रमशः निर्गुण-सगुण, निष्फल-सकल, रूप-अरूप, अन्यत्र और सनातन हुआ करता है। भक्तजन भी अपना वास्तविक रूप (आत्मिक) इसी प्रकार प्रकट करते हैं। इनकी सुषुप्ति, भगवान की अत्यधिक सान्निध्य और आत्म-ब्रह्म तन्मयता एवं भगवान की अंतर्हित सूक्ष्म क्रियाओं के पर्यवेक्षण से सम्बन्ध रखने के कारण, उपासना ही है। सम्प्रदाय के अनुसार तुरीयावस्था के पूर्व भी स्मृति बनी रहती है। उत्कृष्ट भक्तों के श्वास प्रतिश्वास में उपास्य का चिन्तन स्वाभाविक है। अत: सब प्रकार की बाधाओं से, विशेषत: अविद्या से, उसकी रक्षा हुआ करती है।[१]

यव

उपासना की नित्य नियम सामग्री के अभाव में अक्षत और पुष्प के साथ ही यव की उपयोगिता चैतन्य सम्प्रदाय स्वीकार करता है। प्रियंगु (काकुन) और यव (दीर्घशूक) दोनों ही चरु के लिए प्रशस्त माने गये हैं। भगवान श्रीकृष्ण को गौडीय सम्प्रदाय मुद् शब्द से सम्बोधित करता है। दीर्घशूक भी मोदमान है। वह मानसिक शक्ति को आह्लादित करने वाला एवं सत्वगुण का उद्बोधक मात्र माना गया है। अतएव मुद् और मोदमान उपास्य और उपासना के संभार का परस्पर समन्वय करता है। षडसंदर्भ के भक्ति संदर्भ में भी यव का साधारण निर्देश मिलता है।

कीर्तन

पूजा के साथ ही साथ भगवत् नाम का कीर्तन और उसमें अनन्य मन से लीन होना आत्मा की अनश्वरता, युग-युगान्तर से संचित कर्मो का समूह संदाह आदि का व्यंजक है। विशेष रूप से कलियुग में अनेक दोषों से विमुक्ति पाने के लिए कीर्तन ही एकमात्र साधन है। अशेष कर्मो की सम्पूर्ति, सम्पूर्ण अपराधों का सद्य: निराकरण, सम्पूर्ण सत्कर्मो की फलवाप्ति और धर्म,

१. हरिभक्तिविलास, एकादश विलास, पृ० ६०१

अर्थ, काम तथा मोक्ष उस पर ही अवलम्बित हैं।[१] सामूहिक कीर्तन से समस्त वायुमंडल विशुद्ध होकर सदभावना का उपस्कार करता है। मूर्ति की उपयोगिता केवल विचारधारा को केन्द्रित करने के लिए ही है। वस्तुतः अखंड कीर्तन ही भक्तों के अन्तःकरण में भगवदनुभूति का जनक है। राम, विष्णु, कृष्ण आदि नामों में वर्णमाला के अतिरिक्त अन्य प्रकार का अंतर नहीं है। भेद-बुद्धि निष्ठा के आघात और निष्ठावान की अस्थिरता का द्योतन करती है। चैतन्य मत शब्द और अप्राकृत ध्वनि को महत्व देता है, परन्तु सत्संगति के द्वारा स्वानुभूति का आदान-प्रदान भक्ति का प्रथम प्रयोजक धर्म है।

नाम सर्वबीज स्वरूप है। इसे समस्त उपासनाओं का सार बताया गया है। अप्रकृत नाम के उदय होने से हृदय उत्फुल्ल हो जाता है। आँखों से अश्रुधार तथा देह से सात्विक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जिसकी कृष्ण नाम में जितनी प्रीति हो गई है वह उतना ही सिद्ध वैष्णव है। अधिकार-निष्ठा से ही संकीर्तन किया जाता है। नामों में महाप्रभु ने अनन्त शक्ति मानी है।

पर्व

इस सम्प्रदाय की पार्वणिक और ऋतु सम्बन्धी विशेष उपासना का सम्बन्ध कर्मकांड से अत्यंत सन्निहित है। वहाँ दशमी से संयुक्त एकादशी का निषेध और शुद्ध द्वादशी का पक्षपात मिलता है। तिथि की क्षयदशा में पूर्वविद्धा भी ग्रहणीय है। अन्य तिथि सम्बद्ध उत्सवों में उदयातिथि और उदय के अभाव में पूर्वविद्धा तिथि स्वीकार की गई है। दोनों पक्ष की एकादशी नित्य उपास्य है। अशौच काल में भी उसके परित्याग का विधान नहीं मिलता। उसमें सर्वार्थप्रदता तथा सर्व पाप-हरण का गुण है। उसमें भोजन-निषेध आवश्यक अंग है। सर्वथा अशक्त होने पर प्रतिनिधि का प्रयोग हो सकता है। एक बार ही नैवेद्य निवेदन और विशेष स्वाध्याय का भी वहाँ निर्देश है। प्रत्येक एकादशी के कृत्य भिन्न हैं और वे दशमी से प्रारंभ होकर द्वादशी को समाप्त होते हैं।[२] अष्ट द्वादशी और तृष्पृशा का भी महत्व हरिवासर से कम नहीं है। पक्षवर्धनी व्रत अमावस अथवा पूर्णिमा को होता है। उस दिन विशिष्ट उपासना के साथ अहोरात्रि कीर्तन, स्वाध्याय, भोजन विरति और भगवान के जागरण का उल्लेख है। श्रीकृष्णाष्टमी, राधाष्टमी, चैतन्यनिर्माण, वामन द्वादशी, रामनवमी आदि भी प्रमुख व्रत हैं।

मासिक कृत्य

मासिक कृत्यों का उद्देश्य प्रभु की विभिन्न लीलाओं और अवतारों का स्मरण और उनका अभिनय, सदाचरण एवं ब्रह्मचर्य का अभ्यास, साधक की तपश्चर्या और विभिन्न पर्वों के समारोह में प्रवृत्त होना है। उपासना का मास अग्रहण से प्रारंभ होता है। अनेक विधि-विधानों और कर्मकांडों के साथ साधक को अर्चा पूजा आदि करनी पड़ती है। वसन्तपंचमी की पूजा महापूजा कहलाती है। गोविन्द द्वादशी और फाल्गुन पूर्णिमा में वसन्तोत्सव नित्य कर्मों में संग्रहित है। रामनवमी के बाद एकादशी से दोला उत्सव आरंभ होकर अक्षय तृतीया को समाप्त

---

१. **हरिभक्तिविलास, एकादश विलास, पृ० १५-३५**

२. **वही, द्वादश विलास, पृ० ७०५-७६४**

होता है। उसके उल्लंघन होने पर अशेष क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं।[१] ज्येष्ठ मास जल विहार और अषाढ़ मास वैष्णवी दीक्षा के लिए प्रशस्त है। उस समय तप्त मुद्राओं का धारण भी होता है। भाद्र मास का कृत्य कृष्ण के जन्मदिन से आरंभ होता है। उसके लिए हिन्दोला के साथ रोहिणी मिश्रित अष्टमी का होना अपेक्षित है। बुध संयुक्त रोहिणी होने पर तिथि की भी उपेक्षा हो सकती है। प्रतिमा की सजावट गोकुल की ही भाँति होनी चाहिए। उपासक को कृष्ण तिल के स्नान के अनन्तर ही पूजा में प्रवृत्त होना चाहिए।[२] आश्विन मास में विजयादशमी पर रथ की पूजा शमी वृक्ष के नीचे की गीली मिट्टी में अक्षत मिला कर होती है। श्रीराम में श्रीकृष्ण बुद्धि का अध्यारोहण इस उत्सव का विशेष अंग है। कार्तिक मास विष्णु और कृष्ण की एकता का द्योतक है। चातुर्मास की समाप्ति भी तभी होती है।

श्रीकृष्ण की लीला भूमि होने के कारण व्रज तथा वन की छवि लीला स्मरण से परम सहयोगिनी है। साधन भक्ति ही नहीं रागानुगा में भी उसका बहुत महत्व है। प्रिया प्रियतम के विविध लीलाओं का प्राकट्य एवं प्रकाश यहाँ है। इस सम्प्रदाय के वैष्णव अभीष्ट सिद्ध के लिए व्रजतीर्थो की प्रदक्षिणा तथा परिक्रमा भी करते हैं। गोवर्धन और राधाकुंड की परिक्रमा के अतिरिक्त वृन्दावन की परिक्रमा का विशेष महात्म्य है। मधुरोपासना में इन तीनों ही स्थलों का मूर्द्धन्य स्थान है। उनकी कुंजें युगुल किशोर के नित्य विहार का स्थान मानी जाती हैं। मधुरोपासना में व्रज-वृन्दावन वास अनिवार्य माना जाता है।

पुरश्चरण

भक्तों की आधिभौतिक और आध्यात्मिक बाधाओं के उपशमनार्थ और मंत्रों की सिद्धि के लिए पुरश्चरण की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तांत्रिकों के विश्वशील सम्प्रदाय से यह अंश लिया गया होगा। उपचार की सामग्रियाँ उपासना के स्थल, पृथक सिद्धियों के लिए विभिन्न आसन तथा मालाएँ, जपकाल का निर्णय, अंगभूत हवन, तर्पण, मार्जन आदि तांत्रिकों की देन के समर्थक हैं।

मंदिर और मूर्ति का निर्माण

मंदिर का निर्माण, पिडी का संशोधन, शिल्पकारी, मूर्ति प्रतिष्ठा और उसके महत्व के प्रतिपादन में गौडीय सम्प्रदाय का विशेष हाथ है। प्रतिष्ठा और मंदिर के निर्माण में यदि किसी प्रकार की त्रुटि हो जाये तो उपासना सफल नहीं होती। काष्ठमयी और मृण्मयी मूर्तियों, ध्वजा और उसके यूपों में भी स्थापत्य के विशेष चिह्न की आवश्यकता सर्वप्रथम गौडीय सम्प्रदाय ने सम्भवत: आरंभ की है।

प्रायोजक धर्म

दर्शन का शुष्क एवं रुक्ष ज्ञानकांड ही भक्तिरस में ओत-प्रोत होकर सरस और मधुर हो जाता है। साम्प्रदायिक रूप में वर्गगत रुचि का पोषण और उसका प्रचार उपासना का

---

१. हरिभक्तिविलास, चतुर्दश विलास, पृ० ८७६
२. वही, पंचदश विलास, पृ० ९६६-६९

लक्ष्य है। सांसारिक दुर्भावनाओं से उस रुचि को मोड़कर यथार्थ तात्विक ज्ञान की ओर अग्रसर करना ही उसका एक मात्र ध्येय है। वैष्णव सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा और उसके विविध प्रकारों का निर्देश सामाजिक जीवन को अधिक उल्लसित करने के लिए ही किया गया है। भक्त से सरल, सहिष्णु और समाज का सेवक होने की आशा की जाती है। यदि प्रस्तर पूजा उपासक को स्वयं उपास्य बना दे तो उपासना का दोष नहीं भावना का दोष है। गौडीय सम्प्रदाय इस दिशा में बहुत आगे है। उपासना में सबको समान अधिकार और जिस किसी भी प्राप्य सामग्री से उसे सफल करना व्यक्ति की शक्ति एवं योग्यता को दृष्टि में रखकर ही विहित है। पूजा में श्रीकृष्ण के साथ ही साथ अन्य देवताओं का संमिश्रण उपर्युक्त कथन का समर्थक है। षड्संदर्भ के अनुसार दृश्य जगत का अदृश्य से समन्वय भक्ति और प्रीति का तादात्म्य आदि का प्रतिपादन सम्प्रदायगत उपासना की उच्चता का परिचायक है। श्रीकृष्ण की उपासना के साथ अर्द्धनारीश्वर की भाँति राधा का अलक्षित रूप में मूर्ति में सन्निवेश और पूजक मंत्रों में अस्पष्टतयः उसका आभास प्राचीन और माध्यमिक सिद्धान्तों का समन्वय है।

दृढ़ हरिभक्ति अनेक दृढ संकल्पों को अनन्तर ही किंचित् अंकुरित हुआ करती है। उपासना उस भावना की प्रतीक मात्र है। इसीलिए वह सदा द्रव्याश्रित होती है। अन्तः उपासना के लिए उन द्रव्यों और अनुक्रमणिकाओं की उपेक्षा हुआ करती है। मनोव्यापार, अविद्या का संसार, संक्षय, विपर्यय एवं तर्क का प्रतिष्ठान मन की चंचलता का द्योतक है। उन मनोव्यापारों के निरोध के निमित्त उपासना की आवश्यकता है। कर्माधिकार का निरसन, मनः प्रसाद, अहंकार का उन्मूलन, सर्वमार्गों में समता और परमधर्म का उद्‌बोध उसके प्रयोजक धर्म हैं। अष्टविध मुख्य भक्तियों में अनिमित्त भगवद्‌भक्ति सबसे श्रेष्ठ मानी गई है। श्रवण और कीर्तन उसके विज्ञापन हैं। अर्चना, वंदना, दासता तथा सख्य अन्तःकरण की श्रद्धा के प्रतीक हैं, और अवसान में आत्मनिवेदन ही यथार्थ उद्देश्य की सफलता है।

आत्मा का द्वितीय परम पुरुषार्थ वशीकरण है। तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित है कि स्व आत्मा के द्वारा अन्य आत्मा का वशीकरण कदाचित् परम आत्मा के वशीकरण का भी साधक हो सकता है। प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में चैत्र की जल यात्रा से लेकर रथोत्सव पर्यन्त और हिंडोलोत्सव से लेकर शरदपूर्णिमा के आकाश सेवन तक की उपासनाओं में व्यक्ति मात्र के सुख भोग की इच्छा तथा उसमें लिप्सा के साधक उद्दीपन, संदीपन, विभाव, अनुभाव आदि की व्यवस्था का पूर्ण निर्वाह आत्म वशीकरण के द्वारा परमात्म वशीकरण के हेतु ही है।

मध्वगौडीय सम्प्रदाय

मध्वगौडीय सम्प्रदाय की उपासना और कर्मकांड बंगाल और दक्षिण भारत के सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से निश्चित किए गए हैं। मध्व और चैतन्य दोनों ने उसे परिपुष्ट किया है। प्रधानतयः नामकीर्तन और स्तुति आदि गौडीय सम्प्रदाय से और कर्मकांड की संकीर्णता मध्व से ग्रहण की गई है। वस्तुतः यह व्रजवासी सम्प्रदाय है। इसमें बाल गोपाल की अर्चना के साथ युवक गोपाल की भी अर्चना की जाती है।

संकीर्णता

बिना आत्म संस्कार के साम्प्रदायिक जनों का मंदिर प्रवेश अत्यन्त वर्जित है। कर्मकांड की व्यापकता इतनी बढ़ी हुई है कि यदि नैवेद्य निवेदन के अनन्तर भूल से तीन के स्थान पर दो या चार आचमन हो जाएँ तो एक विशेष कर्मकांड के द्वारा प्रायश्चित करना पड़ता है। उसमें कम से कम तीन घटे और अधिक से अधिक तीन दिन का समय लगता है। उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्तन की भाँति यहाँ तीन प्रारम्भिक संस्कार प्रचलित हैं। दूसरे सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति यदि इसमें सम्मिलित होना चाहे तो उसे अस्पृश्य की भाँति जीवन बिताना पड़ेगा। निवेदित नैवेद्य भी अन्य वर्ग के द्वारा स्पृश्य होने पर पूत नहीं रह जाता। वर्ण आदि का विचार आवश्यक धर्म है।

दीक्षा

विभिन्न अवसरों के कर्मकांडों और दीक्षा आदि में यह सम्प्रदाय मध्व सम्प्रदाय का अनुगमन करता है।

राजसी वृत्ति

औपासनिक श्रृंगार और उसकी पद्धति इनकी सर्वथा मौलिक है। राजसवृत्तियाँ साम्प्रदायिक जनों की मुख्य अभिलाषाएँ हैं। भगवान के सम्मुख अकिंचन रूप में जाना उनसे विमुख होना है। परम ऐश्वर्यशाली आनन्दकंद श्रीकृष्ण की चाकचिक्य सम्पन्न दिव्य दृष्टि अकिंचनों पर पड़ ही नहीं सकती अतएव स्वयं को बिना तद्रूप बनाए कोई भी उपासना का अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिए अर्चक को अर्चना के समय विशिष्ट राजस वस्त्रों को धारण करना पड़ता है। राग, भोग आदि में वल्लभ सम्प्रदाय इनसे आगे है। केवल आत्मिक श्रृंगार में भक्त भगवान से बढ़कर है।

शेष बातों में गौडीय सम्प्रदाय का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। सम्प्रदाय के संस्थापक गोपाल भट्ट की कृति हरिभक्तिविलास दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है। पर्व, तिथि आदि का विधान तदनुरूप ही है।

राधावल्लभी सम्प्रदाय

शक्ति और शक्तिमान

कृष्ण को राधा के किंकर रूप में पूजना ही राधावल्लभी सम्प्रदाय का उद्देश्य है। भगवान की उन लीलाओं का उसमें कोई स्थान नहीं है जो उन्होंने राधा रहित होकर की है। शक्ति और शक्तिमान का आश्रयत्व तथा आश्रयित्व एक दूसरे पर अवलम्बित है। शक्तिमान की उपासना और उससे शक्ति का प्रादुर्भाव बीज और अंकुर की तरह अत्यंत विवदमान है। आधार माने बिना वस्तुवाद अथवा पदार्थवाद का उत्थान नहीं होता। इसलिए शक्ति की प्राथमिकता और उसकी ग्राह्यता स्वीकार करने में आपत्ति नहीं हो सकती। शक्तिहीन रूप-जगत निश्चेष्ट और निष्क्रिय हुआ करता है। ऐसी स्थिति में उसका परित्याग कर शक्तिमान की ओर दौड़ना अनुचित है। सभी प्रकार की सम्यक् सिद्धियाँ सदा शक्ति सापेक्ष हुआ करती हैं। शक्ति की

अनेक रूपता और उसकी अनेक क्रियता निर्विवाद सिद्ध है। श्रीकृष्ण और युगांत काल में प्रतिसंहृत अनेक नाम एवं रूप सबके सब शक्ति की ही निरंतर दासता करते हैं। अतएव सम्यक् सिद्धि की सम्पादिका शक्तिभूत राधा की उपासना ही श्रेष्ठ है, यह साम्प्रदायिक जनों का मत है।

श्रीकृष्ण की उपासना में उपासक्र दास अथवा सख्य भाव से उपस्थित होता है। प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में श्री राधा की उपासना में आराधक श्रीकृष्ण का प्रतिनिधित्व करता है। उपासक के आचरण तथा स्वयं के शृंगार की विवेचना और उनकी स्तुतियों के अंतर्हित इंगित तथा चेष्टाओं की सूक्ष्म समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति की उपासना में उपासक का स्थान शक्तिमान से भिन्न नहीं है।[१]

तान्त्रिकता

घोर और अघोर तान्त्रिक सम्प्रदायों में वशीकरण एवं उच्चाटन का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी उपासनाओं में कापालिक क्रियाओं के साथ ही यंत्रात्मक अस्तंभनात्मक क्रियाओं का प्रयोग मिलता है। उसमें विकृति और प्रकृति का वाचारंभण विकार ऐन्द्रिक क्रियाओं में परिणत होता ही है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में इसका ही परिष्कृत और संयतरूप मिलता है। संकेत कुंज, पल्लव, अस्तरण, प्रसाद लिप्सा, कोटि मन्मथ का प्रादुर्भाव और तदर्थ स्वजनों का परित्याग, सहज अद्‌भुत सुख की परम्परा की कल्पना, सर्वस्व ऋद्धि संपुट स्तन युग्म, क्षीण कृशोदरी भावना, क्रीड़ा परिसर में अविकल आनन्दानुभूति भुवन मोहन की मोहिनी शक्ति आदि उपासना के अंगभूत उपकरण उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हैं।[२]

सहचर

राधावल्लभी सम्प्रदाय में आराधक की सदा यह चेष्टा रहती है कि राधा के पार्श्व में नित्य स्थित रह कर उनकी नित नूतन केलि कलाओं का दर्शन करता रहे। गीत, वादित्र, नृत्य, शृंगार तथा उपचार के माध्यम से स्वामिनी जी की भावनाओं का उद्दीपन और स्वयं में तद्रूप की अनुभूति उसकी भावैकनिष्ठता का परिचायक है। परम सौभाग्यशाली ललिता, विशाखा आदि अष्ट सखियों की सहायक रतिकला, सुमुखी, माधवी, कुरंगा, रसालिका, तिलकनी, मंजुमेघा, चित्रलेखा, रसलीन, कंदर्पा, कावेरी आदि चतुर्षष्ठि परिचारिकाओं के समान सेवा टहल का अधिकार प्राप्त करना चरम लक्ष्य है।[३] विदेह मुक्ति के लिए इसकी अपेक्षा अन्य ऋजु

---

१. राधासुधानिधि, श्लोक ६-२५

२. वही, श्लोक ३१-४४

३. मंडल जौरे खड़ी मनो, जुरे चकोरन वृन्द।
इकटक रही निहारि सब, विधि वृन्दावन चंद॥
अपनो-अपनो गुन जितो, हित के रस सों सानि।
ते सब आगे कुंहुनि के, प्रगट करत है आनि॥
—ब्यालीसलीला, सभा मंडन लीला, दोहा, ८३-८४, पृ० १४९

तथा वही, रसमुक्तावली लीला, पृ० १६४-१७०

मार्ग के अभाव का कथन उन्हें अधिक बल देता है। सहचर में सह के साथ करणकारक का प्रयोग प्रधानता का परिचायक है।

दीक्षा

विशिष्ट मानसिक भावनाओ के उद्‌बोधन के लिए सम्प्रदाय में दीक्षित होना अनिवार्य समझा जाता है। यद्यपि इस सम्प्रदाय में आत्म निवेदन के अतिरिक्त और कर्मकांड आवश्यक नहीं हैं, तथापि निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुरूप दीक्षा की पद्धति स्वीकार कर ली गई है। केवल दो बीजों का उन मंत्रों में संकलन कर लिया जाता है जो शक्ति की सर्व शक्तिमत्ता का उद्‌घोष करते हैं। गुरु, तुलसीपत्र और मालती पुष्प की शिष्य के हाथ में देने के पश्चात् अपने मंत्र 'राधिकायै स्वाहा' अथवा 'राधिका हृदयकंज षट्‌पद' का उपदेश देता है और अंत में उस तुलसी तथा पुष्प को प्रभु चरणों में अर्पित किया जाता है।[१] वस्तुतः राधावल्लभियों का कर्मकांड एक बाना मात्र है। तिलक के अतिरिक्त रूप में आकर्षण का होना उनकी सम्पूर्ण दीक्षा और संस्कार है।

आह्निक कृत्य, तिलक और माला

विभिन्न नित्य क्रियाओं के सम्पादन, श्री हिताचार्य महाप्रभु, गुरुदेव, यमुना जी, राधिका जी तथा कृष्ण के नामस्मरण और चित्र दर्शन के अनन्तर स्नान और तिलक करना आवश्यक है। ललाट में श्रीकृष्ण के चरण का प्रतीक, नीचे दबा हुआ और ऊपर चौड़ा सछिद्र तिलक उत्तम माना गया है। उसके बीच में श्याम मृगमद की विन्दी की शोभा राधिका जी की प्रतीक है।[२] अन्य एकादश तिलकों और मुद्राओं आदि का विधान दूसरे वैष्णवों के समान स्वीकृत है। त्रैकालिक सन्ध्या के समय भगवद् सेवा में अनन्य चित्त से संलग्न भक्त की वैदिक कर्मकांड की आवश्यकता नहीं होती। कंठ में तुलसी की माला अहर्निशि पड़ी रहने से वैष्णवों को परम गति प्राप्त होती है। उसके न रहने से यज्ञोपवीत हीन द्विज की तरह भक्ति अपवित्र रहता है।[३] भक्त दुलड़ी तुलसी की माला पहिनता है।

अष्टयाम सेवा और मूर्ति

वल्लभ सम्प्रदाय की तरह, संभवतः उनके प्रभाव से, इस सम्प्रदाय में भी अष्टयाम सेवा का विधान हुआ है। उपासक क्रियमाण कर्मो के द्वारा अथवा मानसिक चिन्तन मात्र के माध्यम से उत्थापन से लेकर शयन तक राधावल्लभ की केलि क्रीड़ाओं का अनुभव करता है।[४] गोचारण, दामबंधन आदि व्रज की लीलाएँ प्रिया प्रियतम के एकरस नित्य

---

१. बीज मंत्र है—श्री राधावल्लभचरणशरमहं प्रपद्ये

२. तिलकं कृष्णरूपं च विन्दुरूपं च राधिका। —वैष्णव हितशिक्षापत्र, पृ० १३

३. वही, पृ० १८-१९

४. नित्यां स्वारसिकीं लीलां मनसा संस्मरेत् प्रभो।
शैय्यारोहणतः पूर्व परां शैय्यावरोहणात्॥

—अध्वविनिर्णय, श्लोक १७, पृ० ४

अतृप्त मिलाप के विरुद्ध पड़ती है। इसलिए उनके स्मरण और ध्यान का भी निषेध है। भक्त की कामना उपासना के द्वारा मिथुन अर्थात राधारमण की युगल मूर्ति को आत्मसात करने की होती है। वीर शैव सिद्धांत में जिस प्रकार अर्द्धनारीश्वर का स्वरूप उपास्य है, ठीक उसी प्रकार गाढ़ालिगन-बद्ध और वलयाकार में परिणत उल्लसित मूर्ति ही इस सम्प्रदाय में ग्रहणीय है।

लौकिकता का आरोप

उनके मंदिरों और मूर्तियों के श्रृंगार में श्रृंगार रस का प्रतिरूप दिखाई देता है। उपासना लौकिक दम्पतियों के रहस्य केलि का एक प्रतीक मात्र है। प्रतिदिन मूर्ति की अर्चना और उसका श्रृंगार तथा प्रातःकाल भक्त जनों में रात्रिकौतुक का वर्णन साम्प्रदायिक मार्ग है। सामान्य दम्पतियों की भाँति मास की प्रथम षोडश रात्रियों में आकर्षक श्रृंगार का ध्यान रखना प्रत्येक अर्चक के लिए अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा अर्चना अप्रिय एवं अग्राह्य होती है। संभव है साधारण व्यक्ति को उसमें अश्लीलता की गंध मिले, किन्तु उन्नत और सदाचार सम्पन्न भक्त के दृष्टिकोण से उसमें विकार का आविर्भाव नहीं होता। पूर्ण रसानुभव करने के निमित्त यह आवश्यक है कि अभिनेता नट स्वयं भी तदनुरूप आचरण करे। पूर्ण तन्मयता में प्रवृत्ति होने से विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती। हृदय में गूढ़ प्रेम के संचार होने पर पुरुष मूक हो जाता है और प्रिया प्रियतम की प्रेममयी बातों को सुनकर वह रोमांचित और गद्‌गद कंठ हो उठता है। इसे ही महाभाव की प्राप्ति कहते हैं।[१]

मंगल तथा श्रृंगार

गान, वादित्र आदि के द्वारा रति सुख से श्रमित राधा कृष्ण को जगा कर भोग समर्पण और आरती होती है। मंगलभोग में खिचड़ी का भोग अपरिहार्य है। फिर यमुना जल में स्नान के अनंतर राधिका जी के नखशिख श्रृंगार की योजना की जाती है। सखियों को अपनी सम्पूर्ण कला उसमें समाप्त कर देनी होती है। यद्यपि वे स्वयं सौन्दर्य-निधि हैं, तथापि उनके शरीर के विविध अंगों का पृथक दर्शन करने के लिए अलंकारों से उनमें विभेद करना उनका प्रयोजन है। पुष्पमाला, तुलसी अर्पण कर भक्त युगल परिक्रमा कर उनको दर्पण दिखलाता है। भूल की क्षमायाचना के अनन्तर वह रसिकों द्वारा रचित पदों का गान करता है।

राजभोग

मध्याह्न काल में भोग का समर्पण सभी वैष्णव सम्प्रदायों की पूजा का सुनिश्चित विधान है। नाना प्रकार के भोगों का पाक और उनको समर्पित करने के उपरांत महाप्रसाद को ग्रहण

---

१. **गूढस्तु गुढप्रेमस्याद्यदा मूकमयः पुमान्।**
श्रुत्वा प्रियतमौ वार्ता रोमोत्थ गद्‌गदी भवेत्॥

—विराड्मूर्द्धनिम्, पृ० २३

करना वैष्णवों के जीवन की सफलता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में उस अवसर पर यथासंभव आचार-विचार करने की प्रथा है पर अधिक नहीं। भोग लगने के बाद बहुत आचार करने से हृदय कठोर हो जाता है जो भक्ति के लिए घातक होता है।[१] अन्त में ताम्बूल अर्पण कर वह आरती करता है।

उत्थापन और विहार

भोजन की समाप्ति पर निकुंज में भाव शय्या पर शयन करना रस की वृद्धि के लिए विहित है। चार घड़ी दिन शेष रहने पर उत्थापन और थोड़ा भोग लगा कर वन विहार करने का क्रम आता है। वन उपवन में भ्रमण, जल विहार, गान, वादित्र और नृत्य, हिडोला, मान, नाना छद्म आदि विनोद के कृत्यों में सम्मिलित होकर उसमें रस वृद्धि करना भक्त का परम पुरुषार्थ है।

सान्ध्य आरती और शयन

जब एक घड़ी दिन शेष रह जाता है, कुंज भवन में सखियाँ राधाकृष्ण का अनेक प्रकार के पुष्पों से श्रृंगार करती हैं। उसके अनन्तर गायन और वादन के साथ सान्ध्य आरती और फिर दो घड़ी तक रासोत्सव होता है। यह भक्ति की चरम कोटि है। रसरूप आनन्दात्मक ब्रह्म से नित्य विहार करना भक्तमात्र का लक्ष्य है। व्यालु भोग और सुख शय्या पर शयन आवसानिक सेवा है। एक मात्र हित सखी को छोड़कर अन्य सभी सखियाँ शयन मंदिर के बाहर एकान्त लीला का ध्यान करती हैं, नित्य किशोर किशोरी नित्य विलास आनन्द रात्रि पर्यन्त प्राप्त करते हैं।

पर्व-एकादशी

अनन्य वैष्णव धर्म में राधाकृष्ण रूप हरि की पूजा और उत्सव को छोड़कर अन्य देवताओं का स्मरण भी करना अपराध है। अतः इस सम्प्रदाय में वसंत, होली, हिडोल आदि वर्षोत्सव ही मनाए जाते हैं। वे भी नित्य न होकर नैमित्तिक हैं। वहाँ पर्व आदि की उपेक्षा सी की जाती है। साक्षात् हरिवासर एकादशी का व्रत भी अन्य सम्प्रदायों की तरह ग्रहणीय नहीं है। जबकि दूसरे सम्प्रदाय वाले उस दिन उपवास अथवा फलाहार का विधान करते हैं, राधावल्लभ उपासक छप्पन प्रकार के भोगों को प्रभु को अर्पण करते हैं और उनके प्रसाद को अत्याज्य मानते हैं।[२] प्रसिद्ध है कि वल्लभाचार्य एकादशी के दिन राधावल्लभ के मंगल भोग की खिचड़ी को तब तक हाथ में लेकर स्तुति करते रहे जब तक द्वादशी के पारण का समय न आ गया।

---

१. ब्यालीसलीला, सिद्धांत विचार लीला, पृ० ५८

२. अनन्य वैष्णव धर्म, पृ० ६०-८३
तथा
महाप्रसाद महिमा अने एकादशी व्रत

वृन्दावनवास

आनन्दकंद कृष्णचन्द्र की विहार भूमि वृन्दावन सभी वैष्णवों के लिए वंदनीय है, किन्तु राधावल्लभी सम्प्रदाय में उसकी महिमा सबसे बढ़ कर है। अन्य स्थानों पर निवास कर भजन पूजन का जो फल होता है, उससे अधिक फल वृन्दावन वास में होता है। भजन बिना भी, वहाँ की धूलि लगने और यमुना जी का जल पान करने से, परम फल की प्राप्ति होती है।[१] वहाँ प्रेम की नदी बहती है। वह सत्य, नित्य और आनन्दमय है। वहाँ माया और काल का प्रवेश नहीं होता।

नाम सेवा इस सम्प्रदाय की विशेष वस्तु है। 'नाम सेवा' में नाम का लिपिमय रूप प्रस्तर पर किवा काठ पर उपस्थित किया जाता है। इसमें 'राधावल्लभो जयति' अथवा 'श्री राधावल्लभ-श्री हरिवंश' नाम लिखा रहता है। 'नाम सेवा' का आकार चौकोर होता है। संकटकाल या प्रवासकाल में 'नाम सेवा' का प्रसाद या चरणोदक लिया जाता है।

सेवाफल

यहाँ भक्तों का श्रेणी विभाग नहीं है। उनका उच्चावच क्रम भावना की एकनिष्ठता से सम्बन्ध न रखकर उनके नैरंतर्य से सम्बन्ध रखना है। किंकरता केवल वाह्य प्रदर्शन की वस्तु है। बारंबार संप्रार्थन केवल संधुक्षण के लिए प्रयुक्त होती है। इसलिए उपासना न तो द्रव्य प्रधान है और न अनुक्रमणिका मात्र ही। केवल भक्त के शरीर और उसकी प्रकृति और जगत् की दृष्टि में वैकृति का व्यवहार ही पूर्ण उपासना है। असिद्धि और अपूर्ति, मनः क्षोभ और विकृति, लज्जाशीलता और अनुभव, श्रुति के अनुकूल स्मृति, तदनुकूल भावना, भावना के अनुकूल इन्द्रियों के भाव, भावानुसार मन की चेष्टा और मानसिक व्यापार के अनन्तर वैसी ही आत्मानुभूति होना राधावल्लभी उपासना का मूल है।[२]

हरिदासी और टट्टी सम्प्रदाय

गुरु परतंत्रता

हरिदासी तथा टट्टी सम्प्रदाय की उपासना सदा गुरु परतन्त्र रहती है। यह उचित भी है क्योंकि जहाँ आत्मयोग का प्रश्न उठता है और साथ ही मनन, चिन्तन, निधिध्यासन तथा आत्म भावनाओं के साथ आत्मा की अन्य वृत्तियाँ का निरोध होता है वहाँ प्रत्येक कक्ष में उसकी प्रामाणिकता के लिए पूर्वानुभूति और उस पथ के श्रद्धालु पथिक गुरु की आवश्यकता होती है।

दीक्षा, तिलक और मुद्रा

साम्प्रदायिक दीक्षा के कर्मकांड लगभग वही हैं जो निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। वस्तुतः माला, कंठी और बीजमंत्र-युक्त दीक्षा मंत्र का उपदेश देने के अतिरिक्त अन्य विधि-विधानों की अधिक आवश्यकता नहीं समझी जाती। साम्प्रदायिक बीज मंत्र है ॐह्रीं क्लीं

---

१. वृन्दावन शतलीला, षोडश ग्रंथावली, पृ० ४०९

२. राधासुधानिधि, श्लोक ११०-२१४

सखीजन वल्लभाय विहारिण श्री कृष्णाय नमः। उनका तिलक अर्द्ध ललाट तक पहुँचता है। उसके मध्य में बिन्दु-युक्त रेखा रहती है। वे तिलक और मुद्रा की अवहेलना तो नहीं करते, किन्तु उनकी अनिवार्यता भी स्वीकार नहीं करते। सत्संग और चिन्ता, मानसिक ज्ञाताज्ञात विचारों के उपशमन में जैसे सहायक मात्र हैं, वैसे ही तिलक, मुद्रा आदि वाह्य चिह्न उसके पथिक होने के संकेत मात्र हैं।

चिन्तनोपासना

उपासक वाह्योपासना में विश्वास नहीं करता। उसका लक्ष्य भगवान कृष्ण की रसमयी लीला का एक तान निरंतर चिन्तन और उससे आत्म सम्बन्ध स्थापित करना है। वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञ आदि का अनुष्ठान स्वर्ग का साधक है, मुक्ति का नहीं। इसलिए उनका उल्लंघन करने पर भी साधक को चिन्तनोपासना के द्वारा अनायास सांसारिक विषयों से विराग और उनका युगल राधाकृष्ण के रूप में चिन्तन करने में सफलता मिलती है। प्रारम्भ में उपासक अपनी उपासना को स्थिर रखने के लिए सत्संग को भी उसका अंग मानता है। अश्वत्थ वृक्ष और उसके सौरभ पर लुब्ध तथा उसकी प्राप्ति के लिए सचेष्ट भ्रमर की चर्चा जीव के चिन्तन व्यापार और सुखद मनोरम भगवत् सम्बन्ध का पोषक है।[१]

विप्रलम्भ

चिन्तक अपनी साधनावस्था में अनाश्रयता, विवर्णता और रुक्षता का अनुभव करता है और साथ ही अशृंगारिक पर नित्य शृंगार के लिए लालायित रहते हुए किसी दुर्निवार विवशता से परतन्त्र विधवा नायिका के जीवन का सा व्यवहार वह इस आशा से करता है कि वर्तमान शरीर से ही विप्रयोग दूर हो जाएगा। हरि को आत्मीय बनाने के लिए करोड़ों साधन भी पर्याप्त नहीं हैं। एक मात्र रसमयी और जीव दशा में विप्रलंभात्मिका भक्ति ही उसके लिए उपयुक्त है।[२] निराकार का साकार में परिणत होना भक्ति हेतुक ही है जिससे विभाग पूर्वक संयोग की प्राप्ति होती है।

देवता और उनकी उपासना गुरु में विश्वास उत्पन्न मात्र करते हैं। उनके द्वारा जीवात्मा का शुभाशुभ संचित कर्म यदि उच्छिन्न भी हो जाए तो भी संयोग अर्थात हरि मिलन तो संभव नहीं है। वैराग्य की विडम्बना और नियमों के द्वारा शुभाशुभ कर्मो के निर्माण की प्रक्रिया जीवात्मा की वंचना है। यही नहीं भक्त की दृष्टि में स्वयं राधा भी चिर मिलन के लिए रति की उपासना स्वयं कृष्ण रूप में ही करती है।[३]

द्रव्य का त्याग

वल्लभ सम्प्रदाय अथवा अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के औपासनिक क्रम और द्रव्य प्रधान स्तुति का इस उपासना पद्धति में कोई स्थान नहीं है। केवल जिज्ञासु होना और हरि मिलन के लिए निशिवासर सयत्न होना ही आराधना की इति है। निम्बार्क सम्प्रदायी होने के कारण टट्टी

---

१. निजमत सिद्धान्त, मध्य खंड, पृ० १०२
२. वही, आदि खंड, पृ० ३६-३७
३. निजमत सिद्धान्त, मध्य खंड, पृ० १०१

अथवा सखी उपासक गुणमय और क्रियामय (लीलामय) विग्रह की ही अर्चना करता है। ज्ञान, विज्ञान, भक्ति, वैराग्य तथा तप का परित्याग कर और लोक तथा वेद की मर्यादाओं का बिना अनुगमन किए ही केलि क्रिया मात्र से अनुराग होना भक्त के सहज गुण और भक्ति की चरम सीमा है।

योग

टट्टी स्थान में विप्रयोग में अपार वेदना और राशि-राशि संचित आत्म-क्षोभ से अपने को त्राण देने के लिए तथा सनातन संयोग की उपलब्धि के लिए योग की महती अपेक्षा स्वीकृत हुई है। परन्तु साम्प्रदायिक जनों के योग में हृदय में गुरु के वचन में विश्वास की भावना और निजपद के शरण की कामना ये दो ही चिन्तनीय विषय हैं।[१] योगावस्था के अव्यक्त नाद में रोम-रोम का उत्कर्ष और रन्ध्र-रन्ध्र से नाम की अव्यक्त ध्वनि एवं निरपेक्ष निरामय रूप पर विश्वास तथा शब्द ब्रह्म और परम ब्रह्म का निर्विकल्पक भेद उसका आधार है।

सख्यत्व

दोनों शाखाओं में पुजारी दास्य या सख्य भाव में अपने को उपनीत नहीं करता वरन् स्त्रीवत् सेवक बुद्धि के द्वारा सेव्य की आराधना करने में ही लक्ष्य की समाप्ति कर देता है। वह राधा कृष्ण के नित्य मिलन को न केवल अपलक देखने की ही कामना करता है, अपितु नर्म साचिन्य का सम्पादन भी करता है। सखी भाव की पराकाष्ठा उस समय परिलक्षित होती है, जब प्रत्येक अर्चक को मास की तीन रात्रि अशुद्ध रहना पड़ता है और वह अर्चना के लिए अयोग्य और अस्पृश्य समझा जाता है। उपासना की सबसे बड़ी विशेषता है सिन्दूर का व्यवहार। श्री राधिका की मूर्ति में सिन्दूर लगाना तो आवश्यक है ही, स्वयं अर्चक भी सिन्दूर विभूषित रहा करते हैं।

शुक सम्प्रदाय

राधा की उपासना

दर्शन निरूपण के प्रसंग में अद्वैतद्वैत यद्यपि युगल रूप का व्यंजक स्वीकार किया गया है, किन्तु उसका पूर्वांश कृष्ण एवं राधा की उपासना में अपनी सार्थकता का अनुभव करता है। निरंतर सर्वापेक्ष होने के कारण ही राधा नाम की सार्थकता है। इसलिए सर्वोत्कृष्ट राधा तत्व ही इस सम्प्रदाय का उपास्य है। उपासक शरीर और मन के व्यापार से नितरां शून्य होकर राधा की

---

१. बंदे अखतियार भला।
चित न डुलाव आव समाधि भीतर न होहु अगला॥
न फिर दर-दर पिदर दर न होहु अंधला।
कहि (श्री) हरिदास करता किया सु हुआ सुमेर अचल चला॥
—निम्बार्कमाधुरी, स्वामी हरिदास, पृ० २०३

उपासना और माधव के नित्य संयोग की कामना में रत रहता है।[१] यही उसका सखी भाव है।

दीक्षा, तिलक आदि

गुरु मंत्र, दीक्षा, तिलक, मुद्रा और युगल कंठी उपासना के अंग न होकर उपासना की योग्यता के पोषक हैं। फिर भी उनके अपने दीक्षामंत्र हैं और उनकी अपनी विधि है।[२] वृन्दावनेश्वरी राधा माधव में परस्पर जन्य जनक भाव उनकी उपासना का रहस्य है।[३] मस्तक में ज्योति के आकार का, भुजाओं में वंशपत्र के समान, हृदय में ताम्बूल और अन्यत्र तुलसीदल की आकृति का तिलक प्रशस्त माना गया है।

विग्रह

युगल रूप के अतिरिक्त शालग्राम, तुलसीमाला, चरणामृत तथा तिलक को भी उपासना का स्व स्वरूप स्वीकार किया गया है। तुलसी की माला साधन विग्रह और साध्य विग्रह के रूप में ग्रहण की गई है। वह किसी भी अवस्था में त्याज्य नहीं है। गौडीय सम्प्रदाय से अधिक चरणदासी सम्प्रदाय शालग्राम का पक्षपाती है। उनके मत में केवल शालग्राम का शिलोदक ही परम गति के लिए पर्याप्त है। वह शौचाशौच का ध्यान किये बिना ही उपास्य है।[४] ज्योति रूप ब्रह्म का साक्षात् प्रतीक श्वेत तिलक श्री राधिका जी का भी द्योतक है।

नित्य नैमित्तिक

नित्य नियम विधि, दिनचर्या और प्रत्यक्ष श्री मूर्ति की सेवा इन तीन विभागों में शुक सम्प्रदायी उपासना को बाँटा जा सकता है। दिनचर्या और श्री मूर्ति की सेवा अविभिन्न रूप से उपासना के अवास्तविक भेद हैं। नित्योपासना का सम्बन्ध वाह्योपचार से है। वल्लभ सम्प्रदाय की तरह एक प्रहर रात्रि शेष में शय्या का त्याग और नौ बजे रात्रि का शयन भोग कराने के पश्चात अष्टयाम सेवा की समाप्ति होती है।[५] कीर्तन श्रवण और अर्चना की महिमा भक्ति के अन्य स्वरूपों से अधिक है। नाम जाप में राम शब्द भी राधिका और मनमोहन का वाचक है। इसी कारण स्वयं चरणदास जी ने उसका महत्वपूर्ण प्रयोग किया है।[६] मानसी सेवा वाह्य सेवा

---

१. शुक सम्प्रदाय सिद्धांत चन्द्रिका, पृ० १३९-१४०
२. दीक्षा मन्त्र है—श्री गोपालचरणदास शरणमहं प्रपद्ये।
३. शुक सम्प्रदाय सिद्धांत चन्द्रिका, पृ० १३७-१३८
४ वही, पृ० ८२-८३
५. वही, पृ० ९०
६. राम इन्हें सब कहत हैं, ताकी अर्थ रसाल।
राअक्षर श्री राधिका, म मनमोहन लाल॥
प्रथम हेतु यह जानिए षट भग युक्त यह नाम।
सो भगवान स्वरूप शुभ, नवल राधिका याम॥
....
द्वितीय हेतु यह जानिए स्वामीपति को नाम।
बार-बार नहि भषवो, प्रगट बनत अभिराम॥

से अधिक गरीयसी है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

उपर्युक्त उपासना की स्थिरता एवं अनन्यता के लिए और पंचतत्वों तथा उनकी तन्मात्राओं को संधुक्षित करने के लिए योग आवश्यक है। योग की क्रियाएँ अन्त: एवं वाह्य शुद्धि के लिए है, साथ ही अपनी चेष्टाओं और आत्म संवलित मनोव्यापारों से, युगल स्वरूप के उत्कृष्ट और नित्य रति का पोषण भी करती है। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति मार्ग का समन्वय ही इस उपासना की विशेषता है।

अन्य

विभिन्न उत्सवों में पूजा का क्रम और उनके पूजापराध क्षमापन की विधि अपनी विशिष्ट होते हुए भी, उनका स्थान गौण है। उपासना जनित आनन्दों को प्राप्त करना जीवन की सार्थकता है। विषयानन्द और ब्रह्मानन्द क्रमश: क्षणिक और आत्म विलोपक हैं। अत: जीवन की सफलता का अवसर प्रेमानन्द में ही है।[1]



---

१. श्री शुकसम्प्रदाय सिद्धान्त चन्द्रिका, पृ० १६०-१६२

पंचम प्रकरण

व्रज के वैष्णव सम्प्रदायों का हिन्दी साहित्य

साहित्य का विचार

साहित्य का प्रयोजन

पूर्ववर्णित वैष्णव सम्प्रदायों का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव समझने के लिये यह आवश्यक है कि संक्षेप में साहित्य के प्रयोजन, शास्त्र, सम्प्रदाय और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध, साहित्य की आत्मा और प्रभाव के क्षेत्र पर पहले विचार किया जाये। संस्कृत भाषा में काव्य और साहित्य समान अर्थी हैं। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ का मत है कि सुकुमार बुद्धिवालों के लिये अनायासेन चतुर्थ वर्ग की प्राप्ति काव्य के निषेवण का फल है।[१] मम्मट ने काव्य की उपयोगिता यश और अर्थ की प्राप्ति, लौकिक व्यवहार का ज्ञान, अमंगल का शमन, आनन्द की उपलब्धि और कांता की प्रेमपूर्ण वाणी में उपदेश संग्रह करने में माना है।[२]

अखिल भारतीय साधना का एकमात्र प्रयोजन मोक्ष अथवा पूर्णानन्द की उपलब्धि करना ही रहा है। प्रकृति का दर्शन मायातीत ब्रह्म के ज्ञान का साधक है। लौकिक क्रिया-कलापों का अध्ययन उसके लिये अपेक्षित है। संसार में राम और रावण के विरोधी चरित लक्षित होते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य से लेकर विश्वनाथ पंचानन तक आचार्यो ने साहित्य का प्रयोजन एक वाक्य में ही लिखा है कि, 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्'। तदर्थ ही उपदेश का विधान हुआ है। सामान्य जनों को उपदेश इतना शुष्क और कटु लगता है कि वे उससे दूर रह कर अप्रभावित ही रहते हैं। जिस प्रकार शर्करामिश्रित कटु औषधि को बच्चे सरलता से खा लेते हैं उसी तरह साहित्य की रसमयी वाणी में निष्पन्न होकर उपदेश अल्पमति वाले सामान्य जनों को ग्राह्य हो जाते हैं। यही साहित्य की विशेषता है। उसकी उपादेयता रसपूर्ण होने के कारण ही है।

शास्त्र, सम्प्रदाय और साहित्य

साहित्य का एक लक्ष्य समयानुसार नव चेतना एवं नव स्फूर्ति उत्पन्न करना और कर्त्तव्य की दिशा का निर्देश करना है। उसकी विशेषता शरीरस्थ आत्मा से लेकर अशरीर अणु रूप में

---

१. चतुर्थवर्गफलप्राप्तिसुखादल्पधियामपि—साहित्यदर्पण, पृ० ३

२. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता संमिततयोपदेशयुजे॥ —काव्य प्रकाश, कारिका २, पृ० ५

वर्तमान आत्मा तक के प्रारब्ध और कर्त्तव्य के यथार्थ के निर्धारण करने में है। वह वाद, जल्प और वितंडा की कक्षाओं से उठकर सरल और सीमा ज्ञान मानव मात्र को प्रदान करता है। शास्त्र इन तीनों की उलझन में कभी-कभी अपने मुख्य विषय को छिपा लेते हैं। सांसारिक विषयों से अतृप्त प्राणी को तृप्ति की अभिलाषा होना नैसर्गिक है। समस्त साधनों के समवधान में वह अप्रसन्न दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत अभाव में भी साहित्य का रसास्वादन उसके मुख मंडल पर आनन्द प्रस्फुटित कर देता है। अन्त में वह उसमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे किसी वस्तु का भान ही नहीं रहता और वह आत्मा के नैसर्गिक आनन्द में मग्न हो जाता है। यही वैष्णवों का मोक्ष है।

शाश्वत तृप्ति पाने के लिये भारतीय संस्कृति सदा सचेष्ट रही है। यही कारण है कि वैदिक काल से लेकर उपनिषद् काल तक वाङ्मय शास्त्र, शासन, दृष्टान्त एवं आख्यान के रूप में मिलता रहा है। उस समय तक उसका पृथक् विभाग न हुआ था। उपनिषदों में गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर और उसमें परा और अपरा विधाओं का निरूपण, क्षर और अक्षर ब्रह्म तत्वों का विवेचन, आत्मा की जीव और ब्रह्म के रूप में अनुभूतियाँ आदि सिद्धान्त और दृष्टान्त के रूप में अभिव्यक्त होती रही हैं।

सूत्रों के काल में ज्ञान का वृहद् संभार और अल्पाक्षरों में इस प्रकार प्रकट होने लगा कि उसमें दृष्टान्तों के निवेश का अवसर न मिल सका। भाष्य और कारिकाओं के काल में शास्त्र केवल शासन बन कर साहित्य से पृथक् हो गया और साहित्य उसकी मर्यादा का संरक्षण करता हुआ सामान्य वर्ग के बीच उसके आदेश का समन्वयात्मक विज्ञापन करता रहा। जहाँ कहीं भी छिद्र की सम्भावना हुई और वाणी के विलास अथवा मन की उद्दाम प्रवृत्तियों के संचरण का अवसर दिखाई पड़ा एवं जहाँ कहीं रमणीयता की चाह के कारण केवल भाषा और अर्थ के सौष्ठव में अथवा अपातरम्य विषयों के प्रवाह में अथवा भौतिक सौन्दर्य की लिप्सा में प्राणी के अपथगामी होने का भय हुआ वहाँ छंद, गुण, दोष, रस आदि जागरूक प्रहरी खड़े कर दिये गये।

भाष्य और कारिकाओं में विधि निषेध की विवेचना इतनी क्लिष्ट थी कि सामान्य जन के लिये वह दुरूह हो गई, किन्तु समाज के संरक्षण और संवर्द्धन के लिये उसकी अनिवार्यता निर्विवाद है। साहित्य ने सरस वाणी में उनके अन्तःस्थल में प्रविष्ट होकर उन्हें कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रखा। शास्त्रों ने जो आदेश दिया और मानव समाज को उठाने तथा शरीरस्थ षड्रिपुओं से बचने के लिये उसने जो विधान किया साहित्य ने उसका ही प्रचार और प्रसार किया। ययावरीय ने पंचमो नाट्य वेदः कह कर साहित्य का स्थान निर्दिष्ट किया है।

वर्ग विशेष के अभिमत को सिद्धान्तों से पुष्ट करने के लिये अथवा उनकी रुचि को केन्द्रित कर व्यवस्थित करने के लिये समुदायों का निर्माण होता है। काल तथा परिस्थिति के भेद से उनके स्वरूप में विविधता एवं ग्राह्यता होती है। अल्पाक्षर सूत्रों के भाष्य काल में बुद्धि की विदग्धता के फलस्वरूप अनेक समयानुकूल वाद उठ खड़े हुए। वे सभी स्वतंत्र सम्प्रदायों की सृष्टि करने में सफल हुए हैं। स्वमत के प्रचार तथा उसे सर्वजन सुलभ बनाने के हेतु उन्होंने साहित्य का आश्रय लिया। उनका आविर्भाव और विकास जिस प्रदेश में हुआ, वहाँ

की प्रादेशिक भाषा का उपयोग उनके लिये अपरिहार्य था। जनता की अभिरुचि आकर्षित करने में उससे उनको बड़ी सहायता मिली।

अद्वैतवाद की परम्परा में जितने भी स्तोत्र के रूप में साहित्य बने, और उन्हें नियंत्रित तथा मर्यादित करने के लिये जितने भी नियमोपनियम बने, वे जीवन के एक पहलू पर, जिसे मन का विराग कहते हैं, अधिक प्रकाश डाल रहे थे। फलतः अत्यन्त मृदु हृदय अनुराग के अभाव में म्लान होने लगा और सांसारिक कार्य-कलाप न केवल क्षीण अपितु विभिन्न धारा में प्रवाहित होने लगे। अतएव राम और कृष्ण के नायकत्व में, दर्शन के विविध प्रतिपाद्य विषयों के आधार पर, ब्रह्म, जीव, अविद्या तथा मोक्ष, उनके पोषक ज्ञान तथा भक्ति और मन के अवस्थाकृत एवं परिस्थिति कृत अखिल भावनाओं के समन्वयार्थ जितने भी स्वरों और छन्दों से मानव की तृप्ति हो सकती है और मर्यादा के अतिक्रम का संरक्षण हो सकता है उन रूपों में साहित्य का विस्तार आरम्भ हुआ। भक्ति के प्रचारकाल में इष्टदेव के प्रति स्तोत्र लिखने की परम्परा अधिक मात्रा में चल निकली थी। उनमें बन्दीजनों की भाँति अधिकांशतः अभिधा वृत्ति का ही उपयोग किया गया है। व्रज का वैष्णव सम्प्रदाय क्रमशः प्रगतिशील रहा है और उसने गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना के द्वारा स्व सिद्धान्तों के प्रचार में सफलता पाई है।

सामान्यतः 'रुचीनां वैचित्र्यात्' के अनुसार एक रूप का साहित्य सबके लिये आकर्षक नहीं होता। वर्ग और उसकी प्रतिभा के अनुकूल तथा विषय के अनुरूप साहित्य का सृजन होता है। काव्य रचना की बाढ़ को देखकर संस्कृत के आचार्यो ने उनकी रोचकता, आकर्षणता तथा मोहकता को अक्षुण्ण रखते हुए उसे नियंत्रित कर दिया। वे यह नहीं चाहते थे कि वह अमर्यादित अथवा व्यासों की कथाओं के समान मनोरंजन की वस्तु बन जाय। उन्होंने ध्वनि, रस, अलंकार, रीति, लक्षणा, व्यंजना आदि की विस्तृत विवेचना की और काव्य के मूल तत्त्व का निर्णय किया। हिन्दी साहित्य के विकास के समय साहित्य के सभी सिद्धान्त प्रचलित हो गये थे और उनकी ही पृष्ठभूमि में उसका सृजन हो रहा था। इस बात का स्पष्ट प्रमाण नन्ददास कृत रसमंजरी से चलता है, जो नायक और नायिका भेद का ग्रंथ है। उन्होंने उसका उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है कि कृष्ण प्रेम का परिचय बिना उसके ज्ञान के सम्भव नहीं है।[१] अतः यहाँ पर काव्य के मूल तत्त्वों का संक्षेप में पर्यवेक्षण कर लेना ही समीचीन है।

साहित्य की आत्मा

ध्वनि

चार प्रकार के काव्यों की परिसंख्या में वही उत्तमोत्तम काव्य की कोटि में आता है जिसमें ध्वनि प्रधान शब्द विन्यास एवं अर्थ संघटन हो। सामान्यतः वाच्य और प्रतीयमान भेद से दो प्रकार की ध्वनि आचार्यों ने स्वीकार की है। सबसे पूर्ण पंतजलि ने 'ध्वनिः शब्दगुणः'

---

१. **जब लगि इनके भेद न जाने, तब लगि प्रेम न तत्त्व पिछाने।**
जंह जाको अधिकार न होई, निकटहि वस्तु दूरि है सोई॥

—नन्ददास ग्रंथावली, भाग १, पृ० ३९

कहकर उसका प्रतिपादन किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने उसे चारों वेदों का निष्यंद माना है। वस्तुतः उच्चरित वर्णों की अनित्यता, उनके द्वारा समूह का आलम्बनात्मक ज्ञान और स्फोट की अभिव्यंजना आदि-आदि अर्थों में ध्वनि का प्रयोग परा, पश्यन्ति आदि शरीरस्थ शब्दात्मक वृत्तियों की ओर संकेत करता है। वाच्य और प्रतीयमान ध्वनि शब्द और अर्थ दोनों को गौण बनाकर दोनों के सम्मिश्रण से निष्पन्न विधि निषेध को परिलक्षित करती है।

ध्वनि केवल अर्थनिष्ट अथवा वाक्यार्थनिष्ट न होकर शब्दनिष्ट भी हुआ करती है। अभिधा सहकृत ध्वनि वाच्य के रूप में और लक्ष्य तथा व्यंग्यार्थ युक्त ध्वनि प्रतीयमान के रूप में वर्ण्य विषय का शृंगार तो करती ही है साथ ही वह स्वाध्यायी को मर्यादित भी करती है। यही कारण है कि उत्तुंग शृंगार तथा शान्त रसों के अध्ययन के बाद भी किसी को जार अथवा संन्यासी होते नहीं देखा गया है। जो रसों को ब्रह्मानन्द सहोदर न मानकर उसकी सार्थकता ऐहिक वासनाओं की तृप्ति मानते हैं उनके काव्य में अवश्य ही उपर्युक्त दोष देखने को मिलता है। आत्मा के उत्कर्ष के लिए नियंत्रण आवश्यक है। उसे इन्द्रिय, मन, चित्त अहंकार तथा आत्मा के मिलन के सेतु के सदृश होना चाहिए। ध्वनि यही लक्ष्य को लेकर तिल-तैल न्याय से काव्य के समस्त सम्भूत अर्थों में ओत-प्रोत रहती है और रस के विषय के भेद से वह अनेक प्रकार की होती है।

कभी-कभी ध्वनि में भी विकार होता है जिसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। शब्दार्थों की अपनी शक्ति जहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा प्रबल हो अथवा समासोक्ति, अर्थापत्ति, विभावना आदि अलंकारों से आच्छादित हो वहाँ ध्वनि की श्रेष्ठता समाप्त होकर गुणीभूत रूप में परिणति हो जाती है। उसे उत्तमोत्तम काव्य न कहकर उत्तम काव्य कहा जाता है। हिन्दी के भक्त कवियों ने काव्य का विषय भौतिक जीवन न चुनकर पारलौकिक जीवन को चुना है। वस्तुओं के गुण-दोष का विवेचन उनका लक्ष्य न था। वे उनका ज्ञान मात्र करा कर सामान्य जन को ऊपर उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने उसके लिये नायक का भी ध्यान रखा है। उनके वाक्यों में, धीरोदात्त, धीर प्रशान्त, धीर ललित तथा धीरोद्धत्त नायक का ध्वनि प्रधान निरूपण रसों के आश्रय के रूप में दिखाई पड़ता है।

रस

'रसो वै स:' इस श्रुति के अनुसार न केवल ब्रह्मानन्द सहोदर रस है अपितु वह स्वयं ही ब्रह्म है। पंडितराज जनन्नाथ ने रमणीयार्थ शब्द के द्वारा रस की ओर ही संकेत किया है। अन्य आचार्य 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' अथवा 'रस एवात्र जीवितं' का ही उद्घोष करते हैं। इन लोगों के मत में ध्वनि रस का साधक है रस जीवन का साध्य है। कदाचित् इसी स्पष्ट सत्य को लेकर वैष्णवाचार्यों ने जीवन के तारतम्य का और सामंजस्य का ध्यान रखते हुए रसमयी लीला, तद्रूप दर्शन तथा उपासना के अनुकूल आचरण किया और उसका उपदेश दिया है। कभी-कभी रस के मर्मज्ञ भी रसाभास को रस और भावाभास को भाव समझकर काव्य में उनका अन्वेषण करते हैं किन्तु यदि रोचक रचनाओं में तथा अत्यंत मनोहारी वर्ण्य विषयों के समवधान में सहृदय संवेद्यता न हो तो उसमें रस की प्रतीति का होना भ्रम है।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता के मत में विभाव (कारण-उपादान तथा निमित्त) अनुभाव (कटाक्ष, विक्षेपादि कार्य) तथा व्यभिचारी (निर्वेद आदि) के संयोग से परिपुष्ट स्थायीभाव ही रस के रूप में निष्पन्न होता है। भट्टनायक रस को ज्ञाप्य, बोध्य, लक्ष्य, अनुमेय आदि मानकर व्यंग्य मानते हैं। उनका कथन है कि जब शब्द, बुद्धि एवं कर्म अपने सामान्य व्यापार के अनन्तर विलीन हो जाते हैं और स्व तथा पर की स्फूर्ति अन्तःकरण में नहीं होती अथवा 'सर्व ब्रह्ममयं जगत्' के अनुसार एक का स्थायीभाव सम्पूर्ण विराट् जगत् का स्थायीभाव बन जाता है तब व्यंग्य के द्वारा आधारहीन तथा आधेयहीन में भी साधारण अनुभूति होने लगती है। उसे ही रस कहते हैं। जब तक विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से केवल विभावगत नायक नायिका आदि से लोग प्रभावित होते रहते हैं तब तक उसकी संज्ञा रस नहीं होती। जब सामान्यतः सभी को समान रूप से उसका स्वाद होने लगता है उसे रस कहते हैं। जीवन की समस्याओं और आमुष्मिक साधनों की विभिन्न कक्षाओं को लेकर उसके अनेक प्रकार होते हैं जिनकी संख्या आठ से लेकर ग्यारह तक आचार्यों ने स्वीकार किया है, किन्तु नौ भेद अधिकांशतः मान्य हैं—श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत तथा शान्त।

साहित्यशास्त्र में जहाँ इन रसों की तुलना ब्रह्म से है वहाँ सामान्य जीवों की भाँति उनमें विरोध की भी चर्चा है। विभिन्न मनोदशाओं के अनुसार उनमें वैषम्य का होना तो उचित है, परन्तु उनमें विरोध का होना अस्वाभाविक और सिद्धान्ततः अनुपयुक्त भी है। खंडरस और पूर्ण रस की बात घटाकाश और महाकाश की तरह औपाधिक है। समूहालम्बवात्म पूर्णघन आनन्द स्वरूप रस के परस्पर विरोध की बात अवास्तव है। दर्शन के समन्वय प्रसंग में साध्य विरोध की चर्चा की गई है। सिद्धावस्था में वह स्वतः विलीन हो जाया करता है। विश्वनाथ पंचानन ने आलम्बन, आश्रय और निरन्तर इन तीन व्यवस्थाओं के द्वारा रस की साध्यावस्था में ही विरोध की बात उठाई है। उनकी सम्मति में रज और तम से अछूता मन शुद्ध सत्व गुण अधिकारी हुआ करता है और स्पर्शशून्य ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अनुभूति कर पाता है। उस अनुभूति की परिपक्वावस्था में स्व और पर का बन्धन न केवल विशीर्ण हो जाता है अपितु सर्वदा के लिये समाप्त भी हो जाता है।[१] उसे ही दर्शन में समष्टि से व्यष्टि और व्यष्टि से समष्टि कहकर जगत् और ब्रह्म की एकता और पृथकता की बात हुआ करती है।

सभी रसों में शाश्वत सुख की अनुभूति होती है अन्यथा उसके पोषक साहित्य का लोग अध्ययन नहीं करते। यदेव सहृदय और असहृदय दोनों को ही रसास्वाद का अधिकारी मानते हैं।[२] विरोधात्मिका भक्ति की भाँति असचेतस् प्राणी का हृदय भी रसास्वाद का केवल

---

१. परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥

—साहित्य दर्पण, परिच्छेद ३, पृ० ६४

२. चन्द्रालोक और उसकी टीका पौर्णमासी, पृ० २३६-२३७

अधिकारी ही नहीं अपितु इसके द्वारा मोक्ष का भी अधिकारी है।

अलंकार

ध्वनि तथा रस की अभिव्यक्ति व्यंजना वृत्ति से होती है, परन्तु उसे शब्द और अर्थ उभय कक्ष में सहायता देना तथा उभयविध व्यापार में अत्यधिक चमत्कार भर देना अलंकार है। वह काव्य सामान्य में काव्यत्व के साधन का प्रथम सोपान है। काव्य के शरीर शब्द और अर्थ का सदा अलंकारयुक्त होना आवश्यक है। विशेष दशा में ही निरलंकार को काव्य मानने की स्वीकृति मम्मट ने दी है। विश्वनाथ पंचानन उन्हें आभूषणों की तुलना में रखते हैं। वस्तुतः गुणों की सत्ता में ही उनकी उपयोगिता है, अन्यथा वह चमत्कारजनक न होकर निम्नता के सूचक हो जाते हैं जिसे रचना नीरस प्रतीत होती है।

वैष्णव सम्प्रदाय के कवियों ने भावना परतंत्र होकर उपासना के स्वरूप, उसकी लीला की प्राप्ति और उनके दर्शन को ही काव्य का और उसके द्वारा ब्रह्मानन्द सहोदर रसानुभूति का लक्ष्य माना है। उन्होंने अलंकारों की अनिवार्यता नहीं स्वीकृत की है, क्योंकि भक्ति भावना में अर्थात् उनकी रसात्मक अनुभूति पद्धति में उनसे, अनावश्यक विलम्ब एवं क्लिष्टता के कारण तात्पर्य में व्याघात उत्पन्न हो जाता है।[१] परन्तु शब्द निर्मित वाक्य की गीति या छंद के योग्य बनाना अलंकारहीन नहीं हो सकता। उसमें वर्णों की पुनरावृत्ति और शब्दालंकार स्वभावतः आ जाते हैं। मनोभाव के विशेष अवसरों पर विभावना, परिसंख्या आदि और विनोद अथवा उपालम्भ के अवसर पर श्लेष का प्रयोग भी नैसर्गिक है।

वक्रोक्ति

रस के पोषकों ने 'वाग्वैदग्ध प्रधानेऽपि' कहकर वाणी विलास की प्रधानता स्वीकार की है। उसका ही रूपान्तर वक्रोक्ति है। कुन्तल ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्'। वे ध्वनि को भी उसके अन्तर्गत मानते हैं। उनका मत है कि जब तक अर्थ प्रतिपादन समर्थ शब्दों में तथा उनसे निर्मित वाक्यों में थोड़ी वामता न होगी, शब्दगत और अर्थगत ओज का आना असम्भव है। वाणी का सौन्दर्य सदा वाच्यार्थ की उपेक्षा और व्यंग्यार्थ की अपेक्षा में ही परिलक्षित होता है।

भक्त कवियों ने अपने उपास्य और उनकी रसमयी लीला के वर्णन प्रसंग में एक प्रोत्साहक अलंकार के ही रूप में वक्रोक्ति को स्वीकार किया है। वे स्वयंदूतियों के द्वारा श्लेष वक्रोक्ति तथा स्वयं को खंडिता अनुभव करने वाली गोपियों की उपालम्भात्मक दृष्टि में काकु वक्रोक्ति का ही व्यवहार करते हैं। सूरदास ने तो अपनी वात्सल्यपूर्ण रचनाओं में दूती और खंडिता के अभाव में भी श्लेष और काकु वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। प्रत्येक भक्त भावावेश में विह्वल होकर अपने उपास्य के प्रति उनका उपयोग करता है। वह आराध्य को चोर और जार कहने में भी संकोच नहीं करता।

---

१. **जौ लौं मन उपमा को दीजै, तो लौं रूप देखिवो कीजै**

—मधुरी वाणी, वंशीवट माधुरी, पृ० ३२

साहित्य पर प्रभाव

साहित्य के मुख्य तीन अंग होते हैं विषय, वस्तु, शैली और भाषा, इन तीनों को व्यक्ति, सम्प्रदाय अथवा समाज के सिद्धान्त आवृत कर लेते हैं जिसे भाव अथवा लक्ष्य कह सकते हैं। कभी-कभी सत्साहित्य में सर्जक का व्यक्तित्व तथा सम्प्रदाय अथवा समाज के विचार इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि वह देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर अमर हो जाता है। उसका मूलाधार विषय की सार्वजनीयता है। मध्यकालीन वैष्णव आन्दोलन के पूर्व जनता का नैतिक पतन हो चुका था और विदेशी आक्रमण के कारण कम से कम उत्तर भारत में अशान्ति फैली हुई थी। वादविवाद का पर्यवसान पंडितों की वाक्‌चातुरी में हो रहा था। उससे साधारण जन कोई लाभ नहीं उठा सकते थे।[१] उनके अन्दर ऐन्द्रिक सुख की अभिलाषा बढ़ रही थी। वे ज्ञान की गुह्यता को समझाने में असमर्थ थे। ज्ञानमार्गियों का निर्गुण ब्रह्म अथवा अक्षर प्रणव रूप ब्रह्म कष्ट साध्य एवं दुर्बोध है। उस समय एक ऐसे मार्ग की आवश्यकता थी जो सुगम तथा सरल हो और भौतिक जगत् की वृत्तियों से साम्य रखता हो। इस बात का संकेत अनेक भक्तों की वाणियों में मिलता है।[२] पिछले प्रकरणों के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वैष्णव सम्प्रदायों का उत्तरोत्तर विकास इसी लक्ष्य को सामने रखकर हुआ है। वे माननीय भावनाओं को अधिकाधिक अपने सिद्धान्त एवं उपासना का विषय बनाते गये हैं।

भक्त कवियों ने साम्प्रदायिक ब्रह्म, जीव और जगत् सम्बन्धी मान्यताओं को सुबोध और सरल वाणी में अभिव्यक्त किया है। उनकी रचनाओं का मुख्य विषय सशक्तिक कृष्ण (ब्रह्म) की लीलाओं का दर्शन, जगत् और उनके विषयों का अनित्यत्व एवं असारत्व का निरूपण, उपासना प्रणाली का प्रदर्शन और अन्य साधनों का वर्णन करना ही रहा है। इसके साथ ही उन ब्रह्मांश जीवों ने अपना नित्य आत्मिक सम्बन्ध अजर-अमर प्रभु से स्थापित करने की सतत चेष्टा भी की है।

आराध्य कृष्ण की लीलाओं की उत्कृष्टता रसपूर्ण होने में ही है। इसी कारण परम भक्त श्री रूप गोस्वामी ने भक्तिरसं को ही एकमात्र रस और अन्य नौ रसों को उसका अंग सिद्ध करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनके द्वारा रचित हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणि

---

१. इसका विचार प्रथम प्रकरण के द्वितीय अनुच्छेद में किया जा चुका है।

२. सूरदास का प्रसिद्ध पद यहाँ उद्धृत किया जा सकता है :
अविगत गति कुछ कहत न आवे।

... ...

रूप रेखि गुण जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावे।
सब विध अगम विचारहिं, ताते सूर सगुण लीला पद गावे॥

—सूर सागर, पृ० २

श्रीहित राधावल्लभीय व्यास वाणी में भी लिखा है—
सत्य न व्यापक देखिये, निर्गुण परै न जानि।
तब भक्तनि हित औतरे, श्री राधावल्लभ आनि॥

समस्त कृष्णोपासक सम्प्रदायों के उपासक कवियों का प्रेरणाधार रहा है। अतएव साम्प्रदायिक प्रभाव को ठीक से समझने के लिये उन्हीं के माध्यम से विचार करना आवश्यक है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष में प्रथम वर्ग भौतिकता का पूर्ण पोषक है और अन्तिम आधिमौलिकता का। धर्म और काम उन दोनों की संयोजक कड़ियाँ हैं। उनकी विभुता एवं नित्यता निर्विवाद है। लौकिक जगत् में लिप्त प्राणी को श्रेय की ओर ले जाने के लिये उन धार्मिक कवियों ने धर्म और काम का अतीव मनोहर समन्वय किया है। रसेश ब्रह्म के साथ नित्य रमण करना उनके जीवन की साधना थी। यह भाव उनके काव्य का मुख्य विषय रहा है।

विषय का प्रतिपादन कई प्रकार से किया जा सकता है। काव्य के दृश्य और श्रव्य भेद और उनके भी विभेद उसे ही ध्यान में रख कर किये गये हैं। भावना और उद्देश्य के अनुसार उसमें अन्तर पड़ा करता है। शृंखलाबद्ध कथा के वर्णन तथा कोरे सिद्धान्त के निरूपण के लिये प्रबन्धात्मक काव्य की और व्यक्तिगत भावनाओं के प्रकटीकरण अथवा चमत्कारपूर्ण युक्ति के कौशल के लिये मुक्तक काव्य की रचना की जाती है। लोक रुचि तथा चिंतन की कोटियों के भेद से उसमें भी विविधता की सृष्टि होती है। उसे ही शैली या मार्ग कहते हैं। साम्प्रदायिक उपासना पद्धति उसका स्वरूप निर्धारण करने में सहायक होती है। कृष्ण सम्प्रदायों में संकीर्तन की नित्य व्यवस्था थी जिसके कारण पद साहित्य पर विशेष बल दिया गया था। साहित्य के अंग अलंकार, वक्रोक्ति आदि का प्रयोग भी वर्गगत प्रभाव से बचा नहीं रह सकता। अगले प्रकरण में इस पर विस्तार से विचार कियां जायेगा।

सम्प्रदाय के प्रचार के लिये सर्वजन सुबोध भाषा का प्रयोग आवश्यक है। बौद्ध धर्म ने पाली और प्राकृल को, जैन कवियों ने अपभ्रंश को तथा ईसाइयों ने खड़ी बोली का उपयोग इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर किया है। कभी-कभी किन्हीं विशेष कारणों से एक प्रदेश की भाषा अन्य भाषाओं पर राज्य सी करने लगती है। इसे राष्ट्रभाषा भी कह सकते हैं। यह सम्भव न था कि व्रजेश्वर कृष्ण में अनन्यता का उद्घोष करने वाले सम्प्रदाय व्रज की बोली के अतिरिक्त अन्य भाषा को प्रश्रय देते। अतएव कृष्णोपासना की आँधी के साथ ही साथ व्रजभषा भी उत्तर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त हो गई। आर्यभाषाओं में कोई ऐसी न थी जो उससे प्रभावित न हुई हो। किसी भी भाषा का प्रधान गुण भाव व्यंजकता है। हिन्दी के भक्त कवियों ने उसे इतना प्रांजल एवं सुसंस्कृत बना दिया था कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने में समर्थ हो गई। उसमें प्रवाह, मधुरता, प्रभाविकता, सौष्ठव आदि गुण पूर्णमात्रा में वर्तमान हैं। फलत: उसने शताब्दियों तक सम्पूर्ण उत्तराखंड तथा मध्यभारत के कवियों का कंठ हार बनकर अमरत्व की प्राप्ति की। परमात्मा के गुणों का गान कर वह भी गुणाढ्या हो गई।

काव्य के विषय और उन पर प्रभाव

भक्ति रस

भक्त कवियों का समुदाय भक्ति के प्रकाशन को ही काव्य का मुख्य विषय स्वीकार करता है। उनका सिद्धान्त है कि रस की ब्रह्म से तुलना और ब्रह्म की भक्ति के द्वारा अवाप्ति

को दृष्टि में रखते हुए दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए अहेतुकी एवं भगवदनुग्रह के दृढ़ पोषित भक्ति को ही वस्तुतः रस मानना चाहिए। जीवन की सभी वृत्तियाँ, ऐहिक तथा आमुष्मिक फल की लिप्सा, योगक्षेम के अनुरोध से प्रवृत्त मानवमात्र की जिज्ञासा एवं अल्प से अनल्प की ओर प्रेरणा, व्यष्टि में समष्टि का भान, अपूर्ण को पूर्ण बनाने की चेष्टा और इन आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक साधनों के अभाव में आत्मिक अनुताप, मानसिक संताप, तथा शारीरिक परिताप के निवारण के लिये स्नेहसिक्त भक्त को भक्ति की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

भक्ति शब्द 'भज सेवायाम्' धातु से बना है अर्थात् निरंन्तर सेवाभाव का उसके अधिकारी में होना आवश्यक है। रस से ओत-पोत रचनाओं के स्वाध्याय से एक व्यक्ति उसी समय तादृश अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है जब उसके हृदय में अनुकूल अनुराग के रूप में भक्ति का अंकुर हो। इस परिस्थिति में शृंगार आदि नौ रसों में स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली शक्ति को ही भक्ति कह सकते हैं। वह न केवल सब में कारण रूप से और नित्य सिद्धभाव रूप में वर्तमान है, अपितु स्थूल और सूक्ष्म रूप में भी बनी रहती है जिसे क्रमशः रागानुगा और वैधी भक्ति कहते हैं। अवस्था, ज्ञान एवं व्यवहार की विषमता को और संकल्पज सभी वृत्तियों को विषय बनाकर जीवन में उदात्तता एवं पारमार्थिकता का संचार करना भक्ति का विषय है। यही कारण है कि जबकि अन्य रस व्यंग्य है, भक्ति रहस्य है। कभी-कभी तटस्थ व्यक्ति इन भक्तों की रचनाओं को पढ़कर उन्हें अपनी मनोवृत्तियों के साथ तोलने का प्रयत्न करता है। उस समय उसे उनमें आदर्श के स्थान पर निम्नता अधिक दीख पड़ती है। वह यह भूल जाता है कि व्रज भक्त का लक्ष्य भौतिकता न होकर परिमित पारलौकिकता है और उसका रहस्य अपने रूप में अर्थात व्यष्टि व्यक्ति की अपूर्णता को, समाप्त कर देना है। अपने को आत्म रूप में और आत्म को अखिल ब्रह्मांड नायक परमात्म के रूप में सोचना और समझना ही भक्ति रस के माध्यम से कवियों की प्रेरणा रही है।[१]

भक्ति रस के निष्पत्ति की प्रक्रिया अन्य रसों के समान ही है। उसका स्थायीभाव मधुर है। यह मधुर परिवर्तनशील पर सनातन है। परिवर्तनशील इसलिए कि जीवन में एक ही वस्तु सदा मधुर नहीं होती और नित्य सनातन इसलिये कि भक्ति की वैसी मनोदशा पर वह सदा मधुर ही होगा। कृष्ण और राधा तथा उनके भक्तों के आलम्बन से एवं उनकी समस्त लीलाओं के पोषणार्थ अनेक अवसरों के विभिन्न सहायकों के उद्दीपन से परिपुष्ट तथा शुद्ध सात्विक भावों से परिनिष्पादित होकर रसराट् भक्ति प्रस्फुटित होती है।[२]

श्रवणादि के द्वारा मधुर परिपुष्ट होकर पहले स्थायी भाव के रूप में सामने आता है। उसके अनन्तर आलम्बन, उद्दीपन और विशेष रूप से अनुग्रह की प्रार्थना से सामान्य भक्ति का

---

१. रमेशमाधुरीसाक्षात्कारनन्दाब्धिमप्यलम्॥
परमानन्दतादात्म्याद्रत्यादरस्य वस्तुतः॥
—हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु, दक्षिण विभाग, लहरी ५, पृ० ३०८

२. उज्ज्वलनीलमणि, नायक प्रकरण, पृ० ५

उदय होता है। फिर चित्तस्थ भावों का अनुबोधक और बहिर्विक्रिया का शामक स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य अश्रु तथा प्रलय जैसे सात्विक तथा आत्म विमोहक भावों की नैसर्गिक उत्पत्ति के पश्चात् निरन्तर वर्द्धनशील अमृतवारिधि रूप रसराट् भक्तिरस की उत्पत्ति होना रहस्यपूर्ण है। शान्त, प्रीत, वात्सल्य आदि से पराङ्मुख और चांचल्य, ईर्षा और असूया से प्रभावित प्राणी कभी भी भक्ति रस का आस्वादन नहीं कर पाता।

परमानन्द के तादात्म्य के पश्चात् अखंडित भक्तिरस की सिद्धि होती है। वह मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का होता है। मुख्य के पाँच भेद हैं—शान्त प्रीत (दास्य), प्रेम (सख्य) वात्सल्य और मधुर (शृंगार)। हास्य, अद्‌भुत, वीर, रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स उसके गौण भेद हैं। अन्तिम चारों से भी शाश्वत सुख की अनुभूति होती है अन्यथा उन रसों के साहित्य का लोग अध्ययन न करते। इनका प्रमाण सचेतस प्राणियों का अनुभव ही है।[१] हिन्दी भक्त कवियों ने मुख्य रस के भदों को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। उन्होंने हास्य, अद्‌भुत, वीर और करुणा का चित्रण मुख्य भेदों के सहायक अथवा उद्दीपन के रूप में किया है। रौद्र, भयानक और वीभत्स का यत्किंचित वर्णन प्रसंगत: ही किया है। वहाँ उनका ध्येय भागवत की कथा का अनुशीलन मात्र करना रहा है। आगे हिन्दी साहित्य के विभिन्न वर्ण्य विषयों पर ईषत् विस्तार से विवेचना करने की चेष्टा की जाएगी।

मधुर रति

भक्ति रस के मुख्य भेदों में मधुर रति सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है। प्राचीन साहित्य शास्त्र में प्रारम्भ से ही शृंगार रसराट् के नाम से विभूषित रहा है। नि:सन्देह परमात्मा की सृष्टि में काम ही सर्वाधिक व्यापक है। मानव जगत् में भी जितना उत्कट रागात्मक सम्बन्ध रति की प्रवृत्ति से सम्भव है, उतना अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। अतएव व्रज के साम्प्रदायिक कवियों ने अपनी भावना की अभिव्यक्ति अधिकांशत: तद्रूप ही की है। उनके पूर्व संस्कृत कवियों की परम्परायें और उनके काव्य निर्माण की पद्धति जन समाज को विलासिता की ओर आकृष्ट कर रही थी। कालिदास के कुमारसम्भव तथा अभिज्ञान शाकुंतल से लेकर नारायण भट्ट के वेणीसंहार और माघ के शिशुपालवध में घोर पार्थिव शृंगार का वर्णन सम्भवत: समाज के स्नेह को लौकिकता में ही आबद्ध कर रहा था। साथ ही नायक नायिका के भेदों और उनके उद्दीपन में प्रयुक्त दूतियों के आचरण आत्मिकता की अपेक्षा ऐन्द्रिकता की ओर ही उन्मुख कर रहे थे। ऐसे अवसर पर जन रुचि के अनुरूप विशुद्ध सात्विक परमात्म सम्बद्ध शृंगार को विषय बनाकर साहित्य का भण्डार भरना और सभी रसों में भक्ति को ही प्रधान मानकर उसे ही रसराज के रूप में अंकित करना अत्यंत आवश्यक था।

---

१. **करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्॥।**
सचेतसामनुभव: प्रमाणं तत्र केवलम्॥

—हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु, दक्षिण विभाग, लहरी ५, पृ० ३१२ तथा
साहित्य दर्पण, परिच्छेद ३, पृ० ६१

शृंगार दो प्रकार का होता है संयोग और विप्रलम्भ। वैष्णवों के थोड़े ही सम्प्रदायों में विप्रलम्भ का वर्णन हुआ है। ब्रह्म और उनकी शक्ति में नित्य संयोग मानने की भावना ही सर्वत्र व्यापक है। केवल वल्लभ सम्प्रदाय में ही दोनों प्रकार की भक्तियों को प्रश्रय दिया गया है। अन्य सम्प्रदायों की उपासना पद्धति में विप्रलम्भ का समावेश जीव और ब्रह्म को दृष्टि में रखकर हुआ है राधा और कृष्ण को नहीं। सहचर की नित्य प्राप्ति होने पर वियोग की स्थिति का नैसर्गिक निरास हो पाता है।

विभाव

किसी भी विषय के प्रतिपादनार्थ उसके आश्रय की आवश्यकता होती है। 'सति कुड्ये चित्रं' के अनुसार काव्य के विषय तथा काव्यगत चमत्कारोत्पादक ध्वनि, रस आदि का सन्निवेश भी आधार के बिना सम्भव नहीं है, अर्थात तार्किक दृष्टि से कारण गुण पूर्वक ही कार्य की उत्पत्ति होती है। साहित्यिक उसे विभावना अलंकार में अभिव्यक्त करते हैं। इसलिये उसे विभाव कहते हैं। उसके दो भेद हैं आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन का सम्बन्ध उपादन कारण से और उद्दीपन का निमित्त कारण से है। आलम्बन रसाश्रय है और सहायक का काम करता है।

आलम्बन राधाकृष्ण

किसी भी रस की उत्पत्ति मिथुन अर्थात् मिलन में हुआ करती है। शृंगार और करुण को छोड़कर अन्य रसों में दोनों आलम्बन पुरुष हो सकते हैं, किन्तु शृंगार और करुण में नायक और नायिका का होना आवश्यक है। सन्त कवियों ने अपने दार्शनिक और औपासनिक सिद्धान्त को अक्षुण्ण रखते हुए, भजनीय का तादात्म्य स्व से स्थापित करने के निमित्त, अपने जीवन की एषणाओं को दबाने की अपेक्षा, उन सबों का भजनीय में यथासम्भव वर्णन और उनके साथ अपना मिथुन सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि पूर्व साहित्याचार्यो के विस्तृत आलम्बन क्षेत्र को केवल भगवान कृष्ण और कृष्ण भक्त में केन्द्रित कर दिया गया है।[१] कृष्ण भक्तों की आदर्श गोपिकाएँ अथवा यूथेश्वरी राधा है।

नायक कृष्ण में पचास अनिवार्य गुण और चौदह अलौकिक अथवा असाधारण गुणों का समावेश है। मधुर रति के परिपोषण के लिये उन सभी गुणों की आवश्यकता नहीं होती। भक्ति रस के विभेदों के अनुरूप कुछ गुण आविर्भूत और कुछ तिरोभूत रहते हैं। रागात्मिका भक्ति के उद्रेक के लिये सर्वप्रभम सर्व लक्षणान्वित सुरम्य एवं रुचिर शरीर और रूप माधुरी

---

१. कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः॥
रत्यादेर्विषयत्वेन तथाऽऽ धारतयाऽपि च॥
नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥
यत्र नित्यतया सर्वे विराजन्ते महागुणाः॥
सोऽन्य रूपस्वरूपाभ्यामस्मिन्नालम्बनो मतः॥
—हरिभक्तिरसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, लहरी १, पृ० १२२-१२३

की अनिवार्यता होती है। कृष्ण सुन्दरता की सीमा और रूप वारिधि हैं।[१] उनके अंग-अंग में मोहिनी शक्ति कूट-कूट कर भरी हुई है। गोपियाँ उसे देखकर तन-मन की सुधि विसार देती है :

श्याम अंग युवती निरखि भुलानी।
कोउ निरखति कुंडल की आभा यतनेहि माँझ बिकानी॥
ललित कपोल निरखि कोउ अटकी शिथिल भई ज्यों पानी।
देह गेह की सुधि नहि काहू हरषन को पछतानी॥
कोउ निरखति रही ललित नासिका यह काहू नहि जानी।
कोउ निरखति अधरन की शोभा फुरत नहीं मुखबानी॥
कोउ चकृत भई दशन चमक पर चकचौंधी अकुलानी।
कोउ निरखति द्युति चिबुक चारु को सूर तरुनि बिततानी॥[२]

वे आनन्द की राशि हैं और प्रेम, रति, सुख आदि के भण्डार हैं। उनके गुणों का वर्णन नहीं हो सकता, किंबहुना वे साक्षात परब्रह्म ही हैं, जो लीला करने के लिये अवतरित हुए हैं।[३] उनके कर्म, गुण और रूप नित्य नूतन हैं। वे नित्य किशोर हैं और नित्य किशोरी राधिका

१. देखि री देख शोभ राशि।
काम पटतर कहा दीजै रमा जिनकी दासि।
मुकुट शिर श्री खंड सोहै, निरखि रही ब्रजनारि।
कोटि सुर कोदंड आभा छिरकि डारै वारि।
केश कुंचित चारु कुंडल सुभग श्रवणनि को सकै उपमाई।
कोटि-कोटि कला तरनि छवि देखि तनु भरमाई॥
... ...
चिबुक पर चितवत चुरावत नवल नन्दकिशोर।
सूर प्रभु की निरखि शोभा भई तरुनी भोर॥ —सूरसागर, पृ० ३५१

२. सूरसागर, पृ० २३९

३. (क) आनन्द की निधि नन्दकुमार।
परब्रह्म पर भेष नराकृत जगमोहन लीला अवतार॥
श्रवननि आनन्द, लोचन आनन्द मन आनन्द आनन्द मूरति।
गोकुल आनन्द गोपिन आनन्द यशुदा आनन्द मूरति॥
* * *
चरण कमल मकरंद पान करि अलि आनन्द परमानन्ददास।
—अष्टछाप पदावली, पृ० ९४

(ख) रतिनिधि, रसनिधि, रूपनिधि, अरु निधि प्रेम हुलास।
गुण आगर नागर नवल, सुखसागर की रास।
—माधुरीवाणी, उत्कंठामाधुरी, पृ० ४

के साथ नित्य केलि किया करते हैं :

नव-नव नवल निकुंज सदन सुख नवल परस्पर हास।
नवल प्रिया-प्रिय नवल प्रेम बलि नवल नागरीदास॥
नवल सेज सुख लीजै नवलभूषन नवलनेह नव ख्याल।
नवल केलि फूले करत हरत मन नवल लाडिली लाल॥
नव किशोर नव रूप नवल छवि पटतर देहु कहि काहि॥
... . आदि।[१]

राधा भी रूप और गुण में कृष्ण से किसी प्रकार कम नहीं हैं। वे भी सुन्दरता की सीमा हैं। उनकी सहज स्वाभाविक शरीर की शोभा अनुपम है। वह वर्णनातीत है।[२]

---

१. (क) निम्बार्क माधुरी, नागरीदास, पृ० २६९-२७०

(ख) नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभानु किशोरी।
नव पीताम्बर नवल चूनरी नइ-नइ बूँदन भीजत गोरी॥
* * *
जै श्री हित हरिवंश अशीष देत मुख चिरजीवौ भूतल यह जोरी॥
—हितचौरासी, रोचक वाणी, हित हरिवंश, पृ० २५

(ग) श्यामहि मैं कैसे पहिचानौं।
क्रम-क्रम करि एक अंग निहारत पलक ओट ताके नहि जानौं।।
पुनि लोचन ठहराइ निहारति निमिष मेटि वह छवि अनुमानौं।
औरे भाव और कछु शोभा कहौ सखौ कैसे उर आनौं॥
छिन-छिन अंग-अंग छबि अगणित पुनि देखौं फिर के हठि ठानौं।
सूरदास स्वामी की महिमा कैसे रसना एक बखानौ॥
—सूरसागर पृ० ३५७

(घ) नित किशोर अरु नित किशोरी।
द्वादश बरस अवस्था भोरी —भक्तिसागर, ब्रज चरित्र वर्णन, पृ० ३५

२. देखौ माई सुन्दरता की सीवाँ।
ब्रज नवतरुनि कदम्ब नागरी निरखि करत अधग्रीवाँ॥
जो कोउ कोटि कलप लौं जीवै रसना कोटिक पावै।
तऊ रुचिर वदनारविन्द की शोभा कहत न आवै।
देवलोक भूलोक रसातल सुनि कवि कुल मत डरियै।
सहज माधुरी अंग-अंग की कहि कासों पटतरियै॥
(जै श्री) हित हरिवंश प्रताप रूप गुण वय बल श्याम उजागर।
जाकी भ्रूविलास वश पशुरिव दिन विथकित रससागर॥
—हितचौरासी-सेवक वाणी, ५२, पृ० २४
और षोडशग्रंथावली, पृ० १७१

हिन्दी काव्य में राधा और कृष्ण के प्रति अंग की सुन्दरता का विशद वर्णन मिलता है। नखशिख वर्णन अलंकारों से परिपुष्ट होकर चमत्कारपूर्ण हो गया है। शरीर में सबसे प्रधान मुख और उसमें भी नेत्रों का आकर्षण सबसे बढ़कर होता है। कवियों ने उसकी शोभा का आभास कराने में अपनी काव्य कला की समाप्ति सी कर दी है। राधा नवल किशोरी और महामोहिनी है। वह महामोद की राशि है और सहज केलि में नित्य सहज रंग से संलिप्त रहती है। उस पूर्णानन्द की प्राप्ति ही भक्तों का चरम लक्ष्य है।[१]

माधव उनके गुणों पर उसी प्रकार प्रलुब्ध रहते हैं जैसे भ्रमर कंज की सुगन्ध से विमोहित रहता है। वे उनके प्रेम के अधीन रहते हैं। सखियाँ दोनों के केलि रस के निमित्त उद्दीपन या नर्म साचिव्य का कार्य करती हैं या कुंज की लताओं की ओट से अथवा प्रत्यक्ष उस रस का आनन्द लेती हैं।[२] वे सब स्थल भक्त हृदय की निजी अनुभूति से आच्छादित हैं और उनकी साधना की कोटियाँ सूचित करते हैं।[३] आगे स्पष्ट किया जाएगा कि किस प्रकार वह क्रमशः लोक व्यवहार से ऊपर उठकर ब्रह्मानन्द प्राप्त करता है और उस अनुभूति का प्रकाशन रूपक अथवा अन्योक्ति के द्वारा प्राप्त करता है।

---

१. (क) नवल किशोरी भामिनी गोरी-भोरी वाम।
महा मोहिनी माधुरी मोहन मन अभिराम॥
मृगनैनी आभोदिनी, महामोद की रास।

—माधुरीवाणी, उत्कंठा माधुरी, पृ० ४

(ख) सुभग सुन्दरी सहज सिंगार, सहज सोभा सर्वांग प्रति
सहज रूप वृषभानु नन्दिनी।
सहजानन्द कादंबिनी सहज विपिन वर उदित चन्दनी॥
सहज केलि नित-नित नवल सहज रंग सुख चैन।
सहज माधुरी अंग प्रति सु मोपै कहत बनै न॥

—हितचौरासी, सेवकवाणी,सेवक, ६, पृ० ७२
और पाठ भेद से षोडश ग्रंथावली, पृ० २५९

२. सर्व सहेली सहचरी लीने सवै समाज।
कमलन को सुख देखिये बैठिन बारे आज॥

—माधुरीवाणी, वंशीवट माधुरी, पृ० ३४

३. (क) इहिं विधि विहरत संतत देखत व्यासदासि बलिहारि।

--व्यासवाणी, पृ० २६५

(ख) रास में राधे-राधे, मुरली में एक रट
नन्ददास गावे तहँ निपट-निपट

—नन्ददास, पदावली, पृ० ३३३

(ग) सहचरि ह्वै भजौ, पल पास क्यों तजौं संग वसिहौं मान कोटि नाते।

—निम्बार्क माधुरी, विहारिन देव, पृ० २६२

हिन्दी भक्ति काव्य में राधा सर्वत्र स्वकीया रूप में ही चित्रित की गई हैं। विशुद्ध हिन्दी प्रदेश में प्रादुर्भूत कृष्ण सम्प्रदायों ने तो सिद्धान्त में भी उन्हें कृष्ण की परिणीता माना है। वल्लभ, राधावल्लभी, हरिदामी या टट्टी और चरणदासी सभी एक स्वर से राधा-कृष्ण को दूलह और दुलहिन स्वीकार करते हैं। इसलिये उन सम्प्रदाय के कवियों का उन्हीं के अनुकूल गान करना स्वाभाविक ही था।[१] गौडीय और मध्वगौडीय सम्प्रदायों में राधा सिद्धान्ततः परकीया मानी गई हैं और उसमें ही शृंगार रस की परमोत्कर्षता की प्रतिष्ठा की गई है।[२]

---

१. वल्लभ सम्प्रदाय :

(क) दूलह दुलहिनि श्यामा श्याम।
कोककला वितपन्न परस्पर देखत लज्जित काम॥

—सूरदास, पृ० ४४५

(ख) कुंज भवन में मंगलचार।
नव दुलहिनी वृषभाननन्दिनी दुलहै श्री व्रजराज कुमार॥
*　　*　　*
दीनी सूरदास परमानन्द प्रेम भक्ति रतन के हार॥

—पुष्टिमार्गीय पदसंग्रह, भाग १, पृ० ३६४

राधावल्लभी सम्प्रदाय :

(क) खेलत रास दुलहिनि दुलहू।
*　　*　　*
भृकुटि विलास हास-रस वरषत (जैश्री) हित हरिवंश प्रेमरस झूलहु॥

—हित चौरासी-संवकवाणी, हितहरिवंश ६२, पृ० २६.३०

(ख) मोहन मोहिनी कौ दूलहु।
मोहन की दुलहिनि मोहनी सखि निरखि-निरखि किन फूलहु॥

—व्यास वाणी, २५१,पृ० ३६२

हरिदासी या टट्टी सम्प्रदाय :

(क) झूलत डोल दुलहिनि दूलहु।

—निम्बार्क माधुरी, स्वामी हरिदास, पृ० २१३

(ख) प्रात समय नव कुंज द्वार पै ललिता ललित बजाई बीना।
पौढ़े सुनत श्याम श्री स्यामा दम्पति चतुर प्रचीन प्रचीना

—यही, विहरिन देव, पृ० २६१

चरणदासी सम्प्रदाय :

मिले हमें श्री गुरु आनन्द रासी।
जुगल लगन में मगन महाप्रभु प्रेमानन्द विलासी॥
कुंज महल में नित निरन्तर दम्पति करत खवासी।

——मुक्तिमार्ग, स्वामी रामरूप की जीवनी, सरस माधुरी, पृ० ५२

२. उज्ज्वलनीलमणि, हरिप्रिया प्रकरण, पृ० १२-१४

किन्तु उन सम्प्रदायों के कवियों ने राधा का वर्णन सदा स्वकीया के रूप में ही किया है। स्वयं रूप गोस्वामी के शिष्य माधुरीजी ने तीन माधुरियों में राधा कृष्ण के दाम्पत्य भाव का वर्णन किया है :—

दिनकर हूँ ते द्युति दिपति अधिक देखि,
दम्पति की देह सत दुमनि में दलकै।[१]

तथा **अरस अंग रस सरस दरस रस दूल्हे दिखरावति।**[२]

तथा **दान मिस आनि कछु दम्पति को सुख भयो**
ऐसो दिन-दिन देखौं सुख मेरी अँखियाँ[३]

जीव गोस्वामी के शिष्य गदाधर भट्ट ने लिखा है कि :

दुलह सुन्दर श्याम मनोहर दुलहिन नवल किशोरी जू।।
मंगल रूप लोकलोचन कौं रची विधाता जोरी जू।।[४]

अथवा **दुलह व्रजराज कुंवर दुलहिन व्रजनारी।**[५]

अन्य साम्प्रदायिक कवियों ने इसी प्रकार राधा कृष्ण के सम्बन्ध को व्यक्त किया है।[६] इन सभी उद्धरणों को देखने के पश्चात पूर्वोक्त मत में सन्देह का कोई स्थान नहीं रह जाता।

इन कवियों पर राधावल्लभी अथवा अन्य सम्प्रदायी भक्तों का प्रभाव ढूँढ़ना अयुक्त है। वस्तुतः सभी भक्त कवियों के सामने एक समान ध्येय था और वे भक्ति के निरूपण पक्ष में एक सामान्य मौलिक सिद्धान्त के पक्षपाती थे। यद्यपि साम्प्रदायिक उपासना की पद्धति का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा था, तथापि वे पूर्ण रूप से उसी में बह नहीं गए थे। तात्विक विरोध होने पर उन्होंने साहित्य सर्जन में कल्याणकारी पक्ष का समर्थन किया है। मम्मट ने काव्य की परम्परा को स्थिर करने के लिये कविता के विषयगत नायिकाओं के यथास्थित चरित्र के वर्णन में ही कवि के कर्त्तव्य की समाप्ति मानी है। प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में सत्व गुण के योग्य

---

१. माधुरी वाणी, वंशीवट माधुरी, पृ० १२, २२
२. वही, केलिमाधुरी, ३३, पृ० ५२
३. वही, दान माधुरी, ३३, पृ० ७५
४. मोहिनी वाणी, श्री गदाधर भट्ट, पृ० ३५
५. वही, पृ० ३८
६. (क) दूलह मदन गोपाल राधा नव दुलही।
—सुहृदवाणी सूरदास मदनमोहन की, पृ० ६

(ख) झूलत दम्पति अतिरति रंग भीने मंजुल डोल बन्यो है।
—वाणी वल्लभ रसिक, पृ० २८

(ग) मंडप बैठे दुलहिन दुलहु।
जुगलकिशोर किशोरी जोरी रूप वयस सम तूलहु।
—हरिलीला, ब्रह्मगोपाल, पृ० २२

वह निर्णय नहीं है। आलम्बनभूत नायक और नायिका के चरित में यदि साधारण प्रकृति जनोचित स्थिति ही परिलक्षित हुई तो उसका 'समादिवत् वर्तितव्यं' लक्ष्य नहीं हो सकता। सन्त कवियों ने इस परम्परा को मोड़ने का और उनका केन्द्रीकरण सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म में करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने सभी लक्षण ग्रंथों में वर्णित भेदों को मानते हुए भी प्रत्येक मनोदशा का चित्रण उच्च आदर्श से ही प्रेरित होकर किया है। परकीया की भावना साहित्य के अध्येता के लिये अकल्याणकारी सिद्ध हो सकती है इस बात का अनुभव रीतिकालीन कवियों तक ने किया था। इसीलिये महाकवि देव को कहना पड़ा कि :

मुख्य नायिका स्वकीया जामें आठौ अंग।
दुहूं लोक में सुख लहै पति स्वकीया के संग।।[१]

अतएत भक्त कवियों ने राधा को स्वकीया रूप में ही ग्रहण किया है। परम आराध्या की भावना अन्य रूपों में वे कर भी नहीं सकते थे।

हिन्दी के रीतिकाल में राधा परकीया के रूप में भी काव्य का विषय बनी हैं। उस समय तक सामान्य कवियों के अन्दर भक्ति भाव समाप्त हो चुका था। नैतिक पतन के विलासमय वातावरण में उन्हें साहित्य के मूल प्रयोजन समाज के कल्याण की अधिक चिता नहीं थी। उस समय तक कला के लिये कला के सिद्धान्त की समता में साहित्य की एकदम स्वतंत्र स्थिति की परिकल्पना हो गई थी। कभी-कभी एक ही कवि ने राधा को परकीया और स्वकीया दोनों मानकर वर्णन किया है। महाकवि देव ने एक ओर तो उसे स्वकीया प्रौढ़ा और दूसरी ओर परकीया विदग्धा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[२]

राधा-कृष्णं के पूर्वानुराग का वर्णन अनूढा या कन्यका परकीया का नहीं है। दोनों बाल्यावस्था से ही साथ-साथ खेले थे। वय के साथ-साथ उनका प्रेम बढ़ता गया था और अन्त में किशोरावस्था आते-आते उनका विवाह हो जाता है। प्रथम दर्शन में यशोदा राधा पर मुग्ध हो गई थी और उन्होंने उसे अपनी पुत्रवधू बनाने का निश्चय कर लिया था। इस कथा का विस्तृत वर्णन पुष्टिमार्गीय सूरसागर और राधावल्लभीय व्रज प्रेमानन्द सागर में मिलता है। दोनों सागरों के अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यशोदा और कीर्ति तथा राधा और कृष्ण सभी को यह विदित था कि एक दिन विवाह का मंगलाचार होगा ही।[३] ऐसी स्थिति में राधा-कृष्ण की केलि क्रीड़ायें अथवा लीलायें स्वकीयात्व की ही बोधक हैं, परकीयात्व की नहीं। लोक मर्यादा का भय और राधा के प्रेम को गुप्त रखने का भाव रस की वृद्धि के साधक और लोक भावना के पोषक हैं।

उन सन्त कवियों ने राधा को कृष्ण की शक्ति माना है। सभी ने एक स्वर से उद्घोषणा की है कि वे एक प्राण और दो देह हैं। केवल लीला के लिये ही उनका दो स्वरूप प्रत्यक्ष

---

१. **भवानी विलास, पृ० १५**
२. **सुखसागर तरंग, कवित्त, ४२६ तथा ७८४**
३. **व्रज प्रेमानन्द सागर, लहरी ६ तथा १२ और सूरसागर, पृ० २०५, २०८**

हुआ था।[1] इस भाव का व्यक्तीकरण कभी-कभी घन में विद्युत्प्रकाश अथवा सूर्य और उसकी छाया की उपमा के द्वारा भी कवियों ने किया है। यह एकता महामधुर शुद्ध अनुराग की प्रतीक है। जब तक दो मन अपना अलग-अलग सुख प्राप्त करना चाहता है, प्रेम की उत्पत्ति नहीं होती। स्वार्थहीन होकर जब वह सहज हो जाता है तब उसकी संज्ञा प्रेम हो पाती है। किशोर और किशोरी की पारस्परिक प्रीति उसका ही स्वरूप सामने रखती है। उसके काम केलि के वर्णन को प्राकृतिक समझना भ्रम है। शृंगारिक वर्णन वस्तुत: उस मधुर रति को व्यक्त करने की एक प्रणाली मात्र है।[2]

गोपी-कृष्ण

गोपी-कृष्ण के प्रसंग जीव और ब्रह्म के मिलन और उसकी रसानुभूति ध्वनित करते हैं। वह प्रकृति और पुरुष की सनातन लीला है। ब्रह्मांश जीव अपने को भूल कर संसार में लिप्त

---

१. (क) हे माई राधा मोहन सहज सनेही।
सहज रूप गुण सहज लाडिनी एक प्राण द्वै देही॥
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति सहज सदा वन गेही।
सूर श्याम श्यामा दोउ सहजहि सहज प्रीति करि लेही॥

—सूर सागर, पृ० ३६४

(ख) एकै मन एकै सुतनु, एकै चिन्ह चिन्हार।
प्रिया पीय के पिय प्रिया, कछू न होत विचार॥

—माधुरी वाणी, केलिमाधुरी २१, पृ० ५१

(ग) हरिवंश सुरीति सुनाऊँ। श्यामा श्याम एक संग गाऊँ॥
छिन इक कबहुँ न अन्तर होई। प्राण सु एक देह हैं दोई॥

—हितचौरासी-सेवक वाणी, सेवक, पृ० ६०

(घ) माई री राधा वल्लभ राधा
वे उनिमै-उनिमै वे बसत,
घाम छाँह घन दामिनी कसौटी लीक ज्यों कसत।
दृष्टि नैन स्वास वैन नैन सैन दोऊ लसत,
सूरदास मदन मोहन सन्मुख ठाठे ही हसत।

—सुहृत वाणी सूरदास मदन मोहन की, पृ० ९

२. 'दोइ सुख दोइ मन दोइ रुचि जब ताई एक न होइ तब ताई प्रेम कहा....जो कोउ कहै कि काम नेम में कहि आए तो उनहू की काम केलि तो गाई है, सो यह काम प्राकृत न होइ प्रेम मई जानिबो निज प्रेम मई जानिबो निज प्रेम है नेम रस सिंगार पोषण के लिये न्यारे के कहे हैं। जो बात प्रिया जू के अंग-संग ते उपजे सोई प्रीतम को प्यारी लागे यह अप्राकृतिक प्रेम है।'

—ब्यालीस लीला, सिद्धान्त विचार लीला, पृ० ५१

हो जाता है।[१] माया बद्ध जीव अनेक साधनों के द्वारा ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है और उसके हृदय की आकुलता को देखकर प्रभु उस पर अनुग्रह कर उसके साथ अनेक क्रीड़ायें करते हैं। गोपिकायें प्रेम में मग्न होकर लोक मर्यादा का अतिक्रमण कर जाती हैं। सूरदास ने उन्हें प्रेम की ध्वजा बतलाया है। भक्त कवियों की वाणियों में जीव का ब्रह्म साक्षात्कार की ओर बढ़ने का क्रमिक और विशद वर्णन मिलता है।

सांसारिक प्राणी को सबसे पहले रूप की माधुरी आकर्षित करती है। गोपियाँ बालक कृष्ण के रूप पर मुग्ध हो जाती हैं और उनके अन्दर प्रेम का अंकुर फूट निकलता है। उनके अनेक चरित्रों को देखकर वे निछावर हो जाती हैं और बार-बार उसे देखने के लिये नन्द के घर की ओर दौड़ पड़ती हैं।[२] वे बार-बार कृष्ण चरित्र सुनना चाहती हैं, रसना से नाम रटती हैं और नेत्र से उनका रूप देखना चाहती हैं। वे अनेक पूजा और साधनाओं के द्वारा कृष्ण को अपना पति बनाना चाहती हैं। कात्यायनी का व्रत इसीलिए करती हैं। नवधा भक्ति, योगसाधना आदि की उपयोगिता ब्रह्मरस का पान ही है। धीरे-धीरे वे गोपिकायें कृष्ण के प्रेम में मग्न हो जाती हैं। उनको तन और मन की भी सुधि नहीं रहती। वह या तो गिरधर का मुख प्रत्यक्ष देखती हैं अथवा उसका चितन करती हैं।[३]

उनकी साधना से जब कृष्ण प्रसन्न होते हैं वे उनके साथ नाना केलि कला कौतुक करने के लिये तैयार हो जाते हैं। सबसे पहले वे उनकी वासना और लोक भय जनित लज्जा को दूर करते हैं। चीरहरण का प्रसंग इसी दृष्टि से भागवत में और अन्य भक्तों के द्वारा वर्णित हुआ है। इसमें काम का कोई साधन नहीं है क्योंकि उसके सान्निध्य में भजन और ब्रह्मानुभव नहीं हो सकता।[४] उसकी समाप्ति पर लज्जा स्वभावतः ही नष्ट हो जाती है ओर ब्रह्म सुख का रस प्रवाहित हो उठता है। उसी प्रसंग के अन्त में गोपिकाओं को महारास का वरदान मिलता है।

भक्त जीव की प्रथम अभिलाषा प्रभु की सेवा की होती है। सहचरी भाव की साधना उसी की व्यंजिका है। नवधा भक्ति के माध्यम से भक्त की बड़ी उत्कंठा होती है कि उसे

---

१. सूरसागर, पृ० ३३३

२. ग्वालिनि उरहन के मिस आइ।
नँदनन्द तनु मनु हरि लीनो बिन देखे छण रह्यो न जाई॥

—सूरसागर, पृ० १७२

३. देखी री माई कैसी है ग्वालिनि उलटी रई मथनिया बिलोवै।
बिनु नैनी कर चंचल पुनि-पुनि नवनी ते टकटोवे॥
निरखि स्वरूप चोहटि चित्त लाग्यो एकटक गिरधर सुख जोवै।
कुंभनदास चितै रही अकबक औरैं भाजन धोवै॥

—अष्टछाप पदावली, कुम्भनदास, पृ० १५९

४. काम कामना वासना, मन ते करि सब दूरि।
श्री राधावल्लभ लाल भजि, रसिकन जीवन मूरि॥

—ब्यालीस लीला, मनशिक्षा लीला, पृ० ९

निकट सेवा का किसी प्रकार अवसर मिले। जब प्रियतम का रस शरीर में व्याप्त हो जाता है, उनकी क्रीड़ायें दृष्ट होने लगती हैं। फिर भी उस समय तक इतना नैकट्य नहीं प्राप्त हो पाता कि प्रभु के साथ स्वयं भी रास विलास करें। केवल दूर से ही उनका दर्शन मतवाला बनाने के लिये यथेष्ट है।[१] भक्त उसका चिंतन निशिवासर करता है। उसे प्रिया प्रियतम की केलि प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगती है और वह उसी में आत्म विभोर हो जाता है। उसे प्रभु के सब कृत्य अच्छे लगते हैं और दोनों में एकता स्थापित हो जाती है।[२]

इस अवस्था तक पहुँचने पर कृष्ण उन पर अनुग्रह करते हैं और उनसे रूप और यौवन का दान माँगते हैं। वह उनसे अपना सब कुछ समर्पण कर देने को कहते हैं। लोक की मर्यादा, कुल, धर्म और भौतिक कृत्य का वहाँ पर कोई स्थान नहीं रह जाता। उनके सब दुःख और द्वंद्व मिट जाते हैं और वे ब्रह्म के साथ रमण करने लगते हैं।[३] इसी रमण की अनुभूति का प्रकाशन उन कवियों ने मधुर शृंगारिक पदावली में किया है। इनका विषय अलौकिक लीला होने के कारण उचित और अनौचित्य की सीमा से आबद्ध नहीं हो पाता। वह अद्‌भुत रस महा गोप्य रखने की वस्तु है। सब इसके अधिकारी नहीं हैं।[४] उसका आनन्द तो वही ले सकता है जिसने सत्संग किया हो। भक्त का हृदय उस रस से इतना आपूरित होता है कि वह चाह कर भी अपनी वाणी में नियंत्रण नहीं कर पाता। बरबस ही वह हृदय के बाहर छलक पड़ती है—

कहों-कहाँ लों बरनि में, वंशीवट की केलि।
वा सुख में समझे सोई, जे निज संग सहेलि॥

---

१. नव निकुंज के रन्ध्र में, छिन-छिन नवल बिहार।
निरखि माधुरी नैन भरि, भरहि नैन मतवार।

—माधुरी वाणी, उत्कंठा माधुरी, पृ० १४

२. जोई-जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै।
भावै मोहि जोई सोई करैं प्यारे।

—हितचौरासी हितहरिवंश, पृ० १

३. अरस परस झगैर सरस, बढ्यो दोउ ओर।
केलि करें ब्रजनागरी, नटनागर कुंवर किशोर॥
प्रेममगन ग्वारिन भई, बाढ़ो अधिक अनन्द।
सरबस दे पांयन परी, तब मेटे सब दुःख द्वंद्व।।
अचरज लीला कृष्ण की, कहाँ लगि करूँ बखान।
चरणदास सुखदेव दया सूँ पावै पद निज अस्थान॥

—भक्तिसागर, दान लीला वर्णन, पृ० ५१५

४. महागोप्य अद्‌भूत सरस, चिंतत रहौ मन माँहि।
या रस के रसिकन बिना, सुनि धुव कहबे नाँहि॥

—ब्यालीस लीला, रस रत्नावली लीला, पृ० १९३

पिय प्यारी को विहरिवो, राखी हिय दुराय।
छिन-छिन रोकत अधिक तउँ, निकसि-निकसि मुख जाय॥[१]

गोपियों का उल्लेख प्रायः परकीया रूप में ही हुआ है। उसका अन्य रूप होना सम्भव भी न था। कहा जा चुका है वे जीव की प्रतीक थीं। संसार में संलिप्त और लोकाचार के अनुकूल सर्व व्यवहार सम्पादन ही जीव का स्वकीयात्व है। लोकाचार एवं वैदिक मर्यादा मार्ग का त्याग ही परकीयात्व है। रास के पूर्व कृष्ण गोपियों को लोक धर्म की शिक्षा देते हैं किन्तु उन पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे एकनिष्ठ परमात्मा के अनुराग में रँगी हुई थीं। उन्हें भौतिक पति पुत्र आदि की चिता नहीं थी। उनके इस भाव की परीक्षा जब कृष्ण कर चुके, उन्होंने महारास जो भक्तों का मोक्ष है, प्रारम्भ किया था। उस स्थिति तक पहुँचे हुए परमभक्त उसमें इतना तन्मय हो जाते थे कि वे उसके कारण उत्पन्न अनुभावों और संचारियों के स्वयं पात्र बन जाते हैं। उनकी आत्मा के साथ-साथ उनकी वाणी भी नाना भावों में नाच उठती है।

समस्त उत्तरी भारत में व्याप्त भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप कृष्ण, राधा और गोपियाँ शृंगार रस के प्रधान आलम्बन बन गये। भक्त कवियों ने उनका इतना सर्वांग पूर्ण वर्णन किया था कि दूसरे आलम्बन को उनके स्थान पर ग्रहण करना बनी हुई सृष्टि को नष्ट कर नई सृष्टि बनाने के सदृश था। राजनैतिक एवं बौद्धिक पराभव के युग में उसकी सम्भावना भी समाप्त हो गई थी। मुगल दरबार और उनका अनुकरण करने वाले अन्य अमीरों और सामन्तों के दरबार के आश्रित कवि उनके विविध वैभवपूर्ण विलास का वर्णन करने में ही कवि कर्म की इति समझने लगे। उनके समक्ष केवल दो विषय थे। वे या तो कामिनियों की अवस्था, परिस्थिति, प्रकृति अथवा धर्मानुसार वर्गीकरण करते अथवा आश्रयदाताओं का अतिशयोक्तिपूर्ण यश गाते थे।

रीतिकाल का शृंगार न तो आत्मा का परमात्मा की ओर उन्मुखी भाव है और न धर्माचरण अथवा संतति के निमित्त स्त्री-पुरुष का शास्त्र सम्मत संयोग है।[२] आलम्बन एक होते हुए भी भावना भेद से भक्ति और रीतिकालीन कविता में महान अन्तर दिखाई पड़ता है। काव्य का विषय व्रज की लीला होने के कारण शृंगारिक कवियों को एक प्रकार का नैतिक बल प्राप्त होता था और उस पतन के काल में भी भारतीय संस्कृति की परम्परा उन्हें फारसी ऐन्द्रिक वासना से बचाये रखे थी।[३]

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में देश की बागडोर पूर्णतया एक विदेशी शक्ति के हाथ में चली गई। विदेशी सम्पर्क, देश में सुव्यवस्था और शान्ति के वातावरण में अनेक नवीन विचारों का समावेश साहित्य में होने लगा। अनेक नये विषय काव्य का आधार बनने लगे।

---

१. माधुरी वाणी, वंशीवट माधुरी, पृ० ४९
२. देव और उनकी कविता, पृ० ९९।
३. रीतिकालीन अवस्था का विचार डा० नगेन्द्र की पुस्तक रीतिकाव्य की भूमिका के आधार पर किया गया।

फिर भी एक शताब्दी में भी राधा और कृष्ण को कवि त्याग नहीं सके है। प्राचीन परम्परा के निर्वाहक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र या जगन्नाथ दास रत्नाकर जैसे कवियों के अतिरिक्त अनेक नवचेतना सम्पन्न व्यक्तियों ने उन्हें अपने काव्य का विषय बनाया है। उन्होंने इन पर सामाजिक सेवा के गुणों का आरोप अवश्य ही अधिक किया है।[१] पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन ऐसे वृहदाकार ग्रन्थ की रचना कर इस बात को द्योतित किया है कि कृष्ण कथा काव्य का अमर विषय है। भावनाशील आधुनिक कवि आज भी रहस्यात्मक ढंग से गा उठता है—

कुंज कुटीरे यमुनातीरे तू दिखता यदुवंशी।[२]

नायक-नायिका भेद

मधुर भक्ति की विशद विवेचना करने वाले ग्रंथ उज्जवलनीलमणि में विभिन्न अवसरों और विभिन्न क्षेत्रों के अनुकूल एकमात्र अलौकिक श्रीकृष्ण में ही धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त तथा धीरोद्धत नायक के गुणों का समावेश किया गया है। उनका एक साथ ही पति और उपपति होना और प्रत्येक के अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भेद उनकी पूर्णता के द्योतक हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि साहित्य शास्त्रियों का मत है कि कृष्ण का पति रूप नागरिक स्त्रियों, रुक्मिणी आदि के साथ और उपपति रूप गोपिकाओं के बीच प्रकट हुआ था।[३] भक्त कवियों का प्रधान काव्यक्षेत्र उनकी वृन्दावन, वंशीवट आदि की लीलाओं तक ही केन्द्रित था। उन्होंने राधा के साथ पति भाव और अन्य गोपिकाओं के साथ उपपतिभाव का निरूपण किया है। यह उनकी एक विशेषता है जो उन्हें भागवत, ब्रह्मवैवर्त और भक्तिशास्त्र के अन्य ग्रन्थों की परम्परा से पृथक कर देती है। यह उनकी मौलिकता सूचित करती है।

आलम्बन के दूसरे अंश नायिका का विभाग पूर्ववर्ती आचार्यों ने स्व, अन्य तथा साधारण के भेद से तीन प्रकार का किया है। रूप गोस्वामी का अभिमत मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा के रूप में स्वकीया को ही स्वीकार करने का है।[४] उन्होंने अन्या के भेद परोढा को इसलिए ही स्वीकार किया है कि जिससे पूर्व परम्परा का विरोध न हो। सन्त कवियों ने स्वकीया और परोढा दोनों को समान रूप से ग्रहण किया है। मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा के भेद शरीर भेद के साधक नहीं हैं। नित्य नव वयः सम्पन्न श्री राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति में अवस्थाकृत वैषम्य का होना सम्भव नहीं है। भक्त की मनोदशा एवं वयः परिणाम और भजनीय के मिलन की

---

१. देखिये पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत, प्रिय प्रवास, पृ० ११६-१३०

२. त्रिधरा, माखनलाल चतुर्वेदी, पृ० ३

३. 'पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ' की टीका करते हुए जीव गोस्वामी ने लिखा है कि 'पतित्वं पुरसुन्दरीषु विप्राग्निसाक्षिकं प्रसिद्धमिति' और विश्वनाथ चक्रवर्ती ने टीका की है, 'पति पुरवनितानां द्वितीयो व्रजवनितानाम्'

—उज्ज्वलनीलमणि, नायक भेद प्रकरण, पृ० ९

४. उज्ज्वलनीलमणि, नायिका भेद प्रकरण, पृ० १०७

कामना उन तीनों भेदों का अवसर लाती है।[१]

धीराधीर नायिकायें भक्ति काव्य का अधिक विषय बनी हैं। सूरदास जैसे महाकवि ने भी अधीर की अपेक्षा और धीर की अपेक्षा भी धीराधीर का अधिक अभिव्यक्तीकरण किया है। उसका कारण यह है कि केवल धीर में रस की नव-नव स्फूर्ति का अवरोध हो जाता है और अधीर का चांचल्य विषय ग्रहण से विमुख होकर किकर्त्तव्यविमूढ़ सा बन जाता है। धीराधीर में योगक्षेम की भावना अपनी मात्रा में स्थिर रहती है। भक्त उसकी सहायता से जितना भी भगवत सहाय्य प्राप्त कर सकता है, उससे और अधिक के लिए अधीर रहता है। इसलिए भी उच्चकोटि के भक्त शान्त पर अधिक ब्रह्म तादात्म्य प्राप्त करने के हेतु क्रियाशील देख पड़ता है।

कृष्ण में उत्कट अनुराग रखने वाली सभी नायिकाएँ आलम्बन के रूप में उपस्थित होती हैं। किशोरी नायिकाओं में आकृति और प्रकृति की प्रगल्भता गाढ़ परिचय के अनन्तर हो उठती है। भगवत चिन्तन और उसके विभिन्न व्यापारों का आत्मीयकरण वे इस प्रकार करती है कि उन्हें सभी अवस्थाओं का स्वाद स्वयं में प्रतीत होने लगता है। व्रजेन्द्र नन्दन के प्रति प्रेम का जो तारतम्य है उसी के अनुरूप वासकसज्जा, उत्कंठिता, खंडिता, कलहंतारिता आदि अपने-अपने ढंग से उसके अनुराग की याचना करती है और राधा के तुल्य नित्य मिलन के निमित्त उसी प्रकार आचरणों का आधान स्वयं में कर राधा बनने की चेष्टा करती है। वल्लभ और गौडीय सम्प्रदाय के कवियों को छोड़कर अन्य सम्प्रदायों में खंडिता की भावना नहीं मिलती। वहाँ सहचरी भाव होने के कारण उपपति का किंचित भी ध्यान बाधित है। वस्तुत: खंडिता की अनुभूति होना भक्तिकोटि की स्वाभाविक प्रक्रिया है। दीर्घकालीन चिन्तन के बाद भक्त खिजला उठता है, उस समय जब प्रभु का दर्शन होता है तब भक्त अनुमान करता है कि अवश्य ही वे अन्य स्थान पर रमण करते रहे हैं, अन्यथा उनके दर्शन शीघ्र ही क्यों न होते। इसके लिए वह उन्हें उपालम्भ देता है और दो चार खरी खोटी भी सुना देता है।[२] नित्य संयोग

---

१. (क) **एकै वय क्रम नहिं कछु, सहज अलौकिक रीति।**
विलसत विविध विनोद रति, उपजावत निज प्रीति॥
अपनी-अपनी समै सब, रुचि लै करैं अनुसार।
फरत रहै छिन-छिन नई, आनन्द दसा विहार॥
—ब्यालीसलीला, आनन्द दसा विनोद लीला, ध्रुवदास, पृ० २५५

(ख) **लिये लगाइ कठिन कुच के विच गाढ़े चापि रही अपने कर॥**
उमंगि अंग अँगिया उर दरकी, सुधबिसरी तन की तिहि औसर॥
तब भये श्याम बरस द्वादश के रिझै लई युवती वा छवि पर॥
मन हरि लियो तनक से ह्वै देखि रहीं शिशु रूप मनोहर।
माखन ले मुख धरति श्याम के सूरज प्रभु रति पति नागर वर॥
—सूरसागर, पृ० १७१-१७२

२. **मैं जानी जिंय जंह रति मानी।**
तुम आये हो ललना जब चिरिआँ चुहचुहानी॥

मानने वाले वैष्णव सम्प्रदाय प्रोषितपतिका की कल्पना नहीं कर पाते। प्रेम पराधीन नायक से मान और स्वयं गर्व होना भी नैसर्गिक है, किन्तु कृष्ण किसी के गर्व को टिकने नहीं देते।

इस प्रकार यद्यपि साहित्य शास्त्र में वर्णित नायक और नायिकाओं के अनेक शत भेदों के सुन्दर और यथार्थ उदाहरण भक्ति साहित्य में मिल जाते हैं, तथापि उनके रचयिताओं को आचार्यत्व प्रदर्शित करने के लिए किसी लक्षण ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उन्होंने काव्य लिखने के लिए ही साहित्य सर्जन नहीं किया। उनका उद्देश्य स्वान्त:सुखाय भगवान् की लीला का गान करना था। आलंबन की पूर्णतमता के कारण उनका काव्य भी पूर्णतमता की सीमा छू गया है। कला जब चरम सीमा पर पहुँच जाती है, उसमें काट-छाँट की चातुरी और रेखाओं और स्वरों की बारीकी पर अधिक ध्यान दिया जाने लगता है। रीतिकालीन नायिका भेद और अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण भक्ति काव्य का अनिवार्य और स्वाभाविक विकास है।

उद्दीपन

आलम्बन के परिपोषण के लिये उद्दीपन भाव की प्रचुर मात्रा में कल्पना आवश्यक है। उभयाश्रित रति में यदि निरन्तर या यों कहिए कि प्रतिपल उद्दीपन न होता रहे तो उसमें नीरसता आने का भय रहता है। वंशीनाद, निकुंज केलि, परिचर्या, नर्म साचिव्य, आवृत निरीक्षण, वन विहार और ऋतूत्सव आदि की चर्चा तदर्थ ही होती है। उपादान की अपेक्षा निमित्त का महत्व कम नहीं होता। दोनों के सामंजस्य से अत्यन्त असामान्य रस की अनुभूति करना काव्य चमत्कार के साथ ही आत्म चमत्कार भी है।[१] मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों गुण उद्दीपन में होना आवश्यक है। मन से चिन्तन, वाणी से स्तवन और शरीर से नृत्य एवं वादित्र को सम्पन्न कर केशव की आश्रयता और रसता को उद्‌बोधन करना भक्तों का लक्ष्य है।

मुख की बात कहा कहौं ठानी बात नहीं पहिचानी।
येते पर अंखियां रससानी अउर पगिया लपटानी॥
भाले जावक रंग बनानी अधरे अंजन परगट जानी।
बिन गुण बनी माल सब अंगन उलटी सकल निसानी॥
सूरदास प्रभु गुनन निधानी अन्तरगत की मैं सब जानी।
धनि त्रिय तुमको जो सुखदानी संगम जागत रैन विहानी॥ —सूरसागर, पृ० ४७७

१. **चलहि राधिके सुजान तरहित सुख निधान रास रच्यो श्याम तट कलिंद नंदिनी।**
निर्तत युवती समूह रागरंग अति कुतूहल बाजत रसमूल मुरलिका आनन्दिनी॥
वंशीवट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ सकल सुखद मलय बहै वायुमन्दिनी।

* * *

विलसहि भुज कवि मेलि कामिनि सुख सिंधु झेलि नव निकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी॥ १२॥

—श्री हितचौरासी, पृ० ५-६

वंशी

स्वरूप सौंदर्य से कुछ ही घटकर कृष्ण की मुरली निनाद में चराचर को विमोहित करने की शक्ति है। वह साक्षात् विष्णु की योग माया है जिसे उन्होंने लीला करने के लिये अपने आधीन कर रखा है।[१] ब्रह्मा, शिव, देवता, ग्रह, नक्षत्र, पशु पक्षी, वृक्ष और सरिताएँ आदि उसे सुनकर स्तम्भित रह जाते हैं। व्रजबालाएँ उसकी मधुर ध्वनि को सुनकर पति, पुत्र आदि की उपेक्षा कर कृष्ण के समीप चली गई थीं। प्रत्येक व्रज की नारियों को उसमें अपना आवाहन सुनाई पड़ता था और वे श्रृंगार सज कर प्रिय मिलन के लिए दौड़ पड़ी थीं। यह मुरली का नाद अनहद नाद की तरह तन मन की सुधि भुलाकर भक्त को रस सिक्त कर देने में समर्थ है। मन उद्दीप्त होकर उसी आनन्द में मग्न हो जाता है।

सखी

प्रिया प्रियतम की सेवा और सर्व प्रकार से उनका नित्य केलि कलाओं में रस की वृद्धि करना सखियों का कार्य है। उनकी अष्टयाम टहल करने के लिए और विशेष कार्यो के लिए विशेष सखियाँ अपनी सहायकों के साथ सदा सन्नद्ध रहती हैं। ललिता पानबीरा, विशाखा वस्त्र श्रृंगार, चम्पकलता विजन, चित्रा सुगन्ध तथा पान, तुंगविद्या संगीत, इन्दुलेखा कोक कला मंत्र आदि, रंगदेवी आभूषण तथा चित्रलेखन और सुदेवी श्रृंगार तथा पक्षी शिक्षण में निपुण और उनकी अधिकारी हैं।[२] वे वन विहार की आयोजना करती हैं, मान भंग करने में दूतियों का कार्य करती हैं, रस केलि के लिये उत्साहित करती हैं, सुरत शय्या की रचना करती हैं और संगीत एवं विनोद के द्वारा रस में वृद्धि करती हैं। उन सब प्रसंगों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानों यदि वे न हों तो सम्भवत: नित्य विहार का क्रम ही खंडित हो जाए।[३] उन कृत्यों में सहचरियों का अपना स्वार्थ है भगवान के सान्निध्य की प्राप्ति। कदाचित कभी स्वयं प्रभु के श्रृंगार का अवसर मिलने पर उनके आनन्द की पराकाष्ठा आ जाती है।[४]

---

१. सोह जोग-माया गुन-भरी लीला-हित हरि आश्रित करी।
शिव मोहिनी जु वह मोहिनी बातें मुरली सरस सोहिनी॥
—नन्ददास, दशम स्कन्ध, पृ० ३२१

२. देखिये, ब्यालीस लीला, रस मुक्तावली लीला, ध्रुवदास, पृ०१६५-१६९

३. दोऊ जन भीजत अटके बातन।
सघन कुंज के द्वारे ठाढ़े अम्बर लपटे गातन॥
ललिता ललित रूप रस भीजी बूंद बचावत पातन।
हितहरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवन रति रस घातन॥ —श्री हित स्फुट वाणी, पृ० ३२

४. एक सखी राधा के धोखे गुहत स्याम की बेनी।
भूषन बसन संभारति अंग अंग चक्रित भई मृगनैनी॥
राधा हंसि मोहन तन चितई सखिन दई करसैनी।
नरहरिदास पिय मन में क्रीडत लिये लाल करलैनी॥
—निम्बार्क माधुरी, नरहरिदेव, पृ० २९६

संगीत

रस की अभिवृद्धि का एक प्रबल साधन संगीत भी है। स्वयं राधा संगीत प्रसराभिज्ञा हैं।[१] न केवल आनन्द की स्थिति में ही संगीत की सृष्टि होती है, अपितु वह आनन्द की जनक भी है। प्रत्येक रस विलास को उससे प्रोत्साहन प्राप्त होता है। रास के समय नाना वाद्यों की योजना उसके प्रभाव की वृद्धि तथा लय उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। विभिन्न ध्वनि वाद्यों से एक ऐसे वातावरण की समा बँधती है जिसके आकर्षण से विमुक्त होना असम्भव होता है। मन्दिरों में उत्थापन से लेकर शयन तक गायन वादन का विशिष्ट क्रम भक्ति के उद्रेक के लिये ही निश्चित किया गया है ।

प्रकृति और ऋतूत्सव

प्रकृति का सौन्दर्य नित्य नूतन और आह्लादकारी होता है। चन्द्र ज्योत्सना, पुष्पित निकुंज, कल्लोलिनी सरिता का पुलिन, पशु-पक्षियों का कलरव आदि मन पर अतर्कित प्रभाव डालते हैं। व्रज की रसमयी लीला बिना उनकी सहायता के अपूर्ण ही रह जाती है। वनस्थली की एकान्तता अथवा पुष्पित कुंजों का झुरमुट रहस्य लीला के लिए कितना उपयुक्त है?[२] सरिता तट पर शिकता में झिलमिलाती शरत् की चन्द्रिका कितनी मनोमुग्धकारी और उत्तेजक होती है? लीला बिहारी कृष्ण अपनी क्रीड़ाओं के लिए ऐसे ही स्थानों को खोजा करते हैं। वे वन के बीच जाती हुई व्रज नारियों से दान माँगते हैं, राधा और गोपियों के साथ नव निकुंजों में केलियाँ करते हैं, जल विहार करते हैं और शरद पूर्णिमा में यमुना के किनारे व्रज की किशोरियों के साथ रासनृत्य करते हैं।

ऋतुओं के अनुसार प्रकृति के परिवर्तन भी कम उद्दीपक नहीं होते। वसंत की शीतल मन्द वायु में डोंल पर झूलना, ग्रीष्म के ताप में सुमनों का शीतल एवं सुखद स्पर्श, वर्षा की फुहारों के बीच झूले की पेंगे एवं विनोद, शरद की चाँदनी में रासविलास, हेमन्त की कुंजक्रीड़ायें और शिशिर के अन्त में होली का हुलास सहज की मनमथ की मोहिनी विखेर देते हैं। व्रज साहित्य में होली, हिंडोल और रास का विस्तृत एवं प्रचुर वर्णन मिलता है। तीनों में सामूहिक आनन्द का अवसर मिलता है और मर्यादा पालन की चिन्ता नहीं रहती। तीनों में प्रभु से इतनी निकटता होती है कि स्पर्श से भी आगे बढ़कर परस्पर छीना-झपटी और

---

१. **गुन की बात राधे तेरे आगे को जाने जो जाने सो कछु उनहारि।**
नृत्य गीत ताल भेद के विभेदन जाने काहू जिते किते देखे झारि॥
—निम्बार्क माधुरी, स्वामी हरिदास, पृ० २०९

२. **वृन्दावन कुंज कुंज केलि बेलि फूली।**
कुन्द कुसुम चन्दनलिन विद्रुम छवि मूली॥
मधुकर शुक पिक मराल मृगज सानुकूली।
अद्भुत घन मंडल पर दामिनि सी झूली॥
ब्यासदासि रंगरासि देखि देह भूली॥ २८१॥
—व्यास वाणी, पृ० ३८५

परिरम्भण का भी आनन्द उपलब्ध होता है।[१]

शेष उद्दीपन

उद्दीपन के अन्य साधनों में प्रसाधन, चेष्टा और सत्संग मुख्य हैं। शारीरिक सौन्दर्य आभूषण, वसन और कल्प (षोडश शृंगार) के द्वारा अधिक मोहक हो जाता है। कृष्ण का पीताम्बर, किरीट, कुंडल, मयूर का मुकुट आदि और राधा का नीलाम्बर, प्रति अंग के रत्न जटित आभूषण और सर्वाग शृंगार आदि चराचर को आकृष्ट कर लेते हैं। गोदोहन, माखनचोरी, कन्दुक क्रीड़ा, छद्म विनोद, चीरहरण, रास लीला आदि चेष्टायें प्रेम को पूर्णता तक पहुँचाने में सहायक होती हैं। सत्संग प्रीति को उद्बुद्ध करता है और निरन्तर प्रेरणा प्रदान किया करता है।

अनुभाव और संचारी भाव

चित्तस्थ भावों के अवबोधक प्रत्येक रस की क्रिया के अनुकूल चेष्टा विशेष को और वहिर्विकार को अनुभाव कह सकते हैं। नृत्य, विलुंठित, गीत, क्रोशन, मोट्टायित आदि शरीर के शुद्ध व्यापार और हुंकार, जृम्भण, प्रश्वास, लोकानपेक्षिता आदि शरीर सहकृत अन्तर्धर्म सभी अनुभाव हैं। भावावेश में भक्त में ज्यों ज्यों औपाधिक भेद का निवारण तथा विराट की समधिगति होने लगती है वे चेष्टायें स्वभावतः ही उदय होने लग जाती हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य और कभी कभी प्रगल्भता का प्रकटीकरण साहित्य की पूर्व परम्परा के अनुसार केवल शाब्दिक चमत्कार मात्र न होकर अनुभाव की कोटि में आते हैं।[२] यहाँ कवि रचयिता

---

१. (क) गावत गारिनि नारीन ही झुकि प्रीति की।
बात बनावत आपनी आपनी जीत की॥
कोऊ गहैं पट पीत कोऊ वन दाम कों।
कोऊ निशंक ह्वै अंक भरे घनश्याम कों॥
श्याम के सीस ते श्यामाजू केसरि ढोरी है।
दै करतारी हंसे सब हो हो होरी है॥
ओसोई ध्यान सदा हरि कौ हीयै जौ रहै।
तौपै गदाधर वाके भाग की को कहै॥

—मोहिनी वाणी, गदाधर भट्ट की, पृ० ४९

(ख) आज वन उमगि रही व्रजनारी।
फूली फिरत निसंक गुण गावत झूलत प्राण प्यारी॥
एक कुसुम लै डारत ऊपर एक चितवत ही ठाढ़ी।
एक जो धाय आय मोहन पे अंक भरत है गाढ़ी।
नील पीत अंग अंग विराजत और शृंगार सिगारे।
सूर संग विलसत है भामिनि नेक न होत नियारे॥

—पुष्टिमार्गीय पदसंग्रह, भाग १, पृ० ४९५

२. उज्वलनीलमणि, अनुभाव प्रकरण, पृ० ३०३-३०५

न होकर सम्प्रदाय का निष्ठावान पुजारी भी है। उसके अपने अनुभाव भक्ति रस के परिपोषक अनुभाव हैं और उसके लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम तथा किलकिंचित भगवत् के प्रमुदार्थ आचरण हैं। ईर्षा, चकित होना आदि भी अनुभाव के सूचक हैं।

आलाप, विलाप एवं संलाप और कभी कभी प्रलाप का होना साधना की पुष्टि का परिचायक है। गोपिकायें उनका व्यवहार कृष्ण के प्रति सदैव करती हैं। सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश एवं व्यपदेश अनुभाव की अन्तिम कक्षायें हैं। प्रेयसी के रूप में आत्मिक तथा वाचिक सन्देश, शोषित का परोक्ति के साम्यरूप अतिदेश, विनोद अथवा प्रणय कोप की कल्पना कर अन्यार्थक पदों का अनभिमत अर्थ में उपदेश, उद्धव की योग क्रिया का उपदेश और सबके अन्त में सोऽहं तथा सोऽयं का निर्देश भक्ति काव्य का चरम लक्ष्य और साम्प्रदायिक निष्ठा की समाप्ति है।[१]

संचारी भाव सभी रसों में स्थिरता की निवृत्ति कर उसमें उत्तरोत्तर दृढ़ता तथा नूतनता उत्पन्न करते हैं। उन्हें व्यभिचारी भी कहते हैं। निर्वेद, दैन्य, विषाद, ग्लानि, भ्रम, मद एवं गर्व विशेष रूप से स्थायी भाव को अभिमुख दिशा की ओर प्रेरित करते हैं और आलस्य ब्रीड़ा, हर्ष, जड़ता, निद्रा आदि सभी भावों की गति में संचरण के साथ-साथ उन्मज्जन और निमज्जन के रूप में रस, रसानुभूति तथा रस लिप्सा से ओत-प्रोत कर देते हैं। शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार तथा शारीरिक एवं मानसिक व्याधियाँ जब तक उत्पन्न न हों और काव्यों में उनका विशद विवेचन न हो वह रसात्मक नहीं कहा जा सकता।

विप्रलम्भ

मधुर रति का एक पक्ष संयोग का है दूसरा विप्रलम्भ का। सभी वैष्णवों ने संयोग को अधिक ग्रहण किया है क्योंकि विप्रलम्भ न तो मिलन के सदृश आनन्दात्मक है, न उसमें नाना क्रीड़ाओं के लिए स्थान है और न अनुभावों एवं संचारियों की विविधता है। नन्ददास ने चार प्रकार की विरह की कल्पना की है।[२] प्रत्यक्ष विरह संभ्रम के कारण, पलकान्तर विरह रूपमान में बाधा के कारण, वनान्तर विरह गोचारण आदि के कारण और देशान्तर विरह मथुरा गमन के कारण उत्पन्न होती है। अनन्य वैष्णव क्षणमात्र के वियोग की कल्पना भी नहीं कर सकते फिर भी प्रायः सभी भक्तों ने प्रथम दो का किसी न किसी रूप में वर्णन किया है। वल्लभ सम्प्रदाय न केवल श्रीमद्भागवत के सिद्धान्त पर ही, अपितु उसकी सम्पूर्ण कथा पर भी आस्था रखता है। भावनानुसार वह उनकी अनुभूति भी करता है। अतएव पुष्टिमार्गीय कवि वियोग की भी उतनी ही सफल अभिव्यंजना कर सके हैं जितनी संयोग की।

कंस के बुलाने पर कृष्ण मथुरा चले गये, सभी व्रजवासियों पर वज्राघात हुआ। उनका सारा आनन्द, सारे विलास और सारी सरसता समाप्त हो गयी। दैन्य और करुणा का उन पर

---

१. उज्ज्वलनीलमणि, अनुभाव प्रकरण, अलंकार विवृति प्रकरण, पृ० ३२२-३२८

२. प्रथम प्रतच्छ विरह तू सुनि लै, तातैं पुनि पलकान्तर गुनि लै।
तीजौ विरह वनान्तर भये, चौथी देशान्तर के गये।

—नन्ददास ग्रन्थावली, विरह मंजरी, पृ० २८

साम्राज्य छा गया।[१] वन, उपवन, यमुना, कुंज आदि सभी सुख के स्थान दुःख का उद्दीपन करने लगे। जो षड् ऋतुयें आनन्द की सृष्टि करती थीं वही अब ताप की वर्षा करने लगीं। मनुष्य ही नहीं जड़ और चेतनमात्र प्रभु के वियोग में कृशित एवं दुखित हो गये। गोपियाँ निशिवासर कृष्ण का ध्यान करतीं, उनके पूर्व चरित्रों का स्मरण करतीं, परस्पर उनके गुणों का कथन कर अश्रुधारा बहातीं, भविष्य मिलन के लिए पथ निहारतीं और कभी कभी कातर होकर उन्हें निष्ठुर और अविश्वसनीय बनातीं। मरण को छोड़कर वियोग की नव दशाओं का और विरह जनित चेष्टाओं का जैसे कृशता, दीनता, तन्मयता आदि के बड़े ही हृदयग्राही वर्णन उन कवियों ने किये हैं। इसी प्रसंग में उद्धव और गोपी संवाद, जिसका एक रूप भ्रमरगीत भी है, ज्ञान के समक्ष भक्ति की गुरुता को प्रदर्शित करने के लिए लिखा गया है।

साधन की कोटि में विप्रयोग की महत्ता अनेक सम्प्रदायों ने स्वीकार की है।[२] अभाव में प्रेम की तीव्रता और मिलन की विकल अभिलाषा का उदय होता है। स्मरण और ध्यान करते करते सर्व ब्रह्मयं जगत् भासित होने लगता है और स्वयं भक्त भी तदाकारता को प्राप्त हो जाता है—

सुमिरत तदाकार ह्वै जांहीं, यह वियोग यहि विधि व्रज मांहीं।[३]

इसे ही सायुज्य मोक्ष कहते हैं।

भरत की रस परिपाटी के साथ उसके अन्यतम अंग नायक-नायिका भेद को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए गौडीय भक्तिरस साहित्य में श्रीराधाकृष्ण का दर्शन

---

१. जा दिन ते गोपाल चले।
ता दिन ते ऊधो या व्रज के सब सुभाइ बदले॥
घटे अहार विहार हर्ष हितु सुख शोभा गुणगान।
उतल तेज सब रहित सकल विधि आरति असम समान॥
बाढ़ी निशा बलय आभूषण उर कंचुकी उसाँस।
नैनन जल अंजन अंचल प्रति आवत अवधि की आस॥
अब यह दशा प्रकट के तनु की कहवी जाइ सुनाइ।
सूरदास प्रभु सों हिवो जिहि वेगि मिलहिं अब आइ॥

—सूरसागर, पृ० ६६८

२. (क) विरह दुःख जहां नाहि जामत नहीं उपजे प्रेम।

—सूरसागर, पृ० ६३९

(ख) सकूं न तुम्हें बुलाय मैं, मो आवन गम नांहि।
रामरूप यों ही तपे, जीव विरह के मांहि॥

—मुक्तिमार्ग, विरह को वेग, पृ० ७७

(ग) जदपि हौं अपनौ मन भायौ कियौ चाहौ सु तौ कैसे कर सकौं जो तुम राखौ पकरि।
कहैं हरिदास पींजरा के जानवर लों तरफराय रह्यो उड़वै को कितौउ करि॥

—निम्बार्क माधुरी, हरिदास, पृ० २०२

३. नन्ददास विरह मंजरी, पृ० २९

नायक-नायिक के रूप में पाते हैं। राधावल्लभीय रसिकों ने काव्य रस परिपाटी को किसी अंश में भी अंगीकार नहीं किया है। रति किंवा प्रेम ही आस्वादित होकर रस कहलाता है। यह प्रेम इस सम्प्रदाय के अनुसार अद्वय युगलस्वरूप है। यह प्रेम के कारण भी है और कार्य भी, अतएव इनको आलम्बन विभाव नहीं कहा जा सकता। श्री हित हरिवंश के उपास्य प्रेमस्वरूप श्याम-श्याम जलतरंगवत् एक दूसरे से ओतप्रोत हैं और जलतरंग की भाँति ही वे दो भिन्न रूपों में प्रकट होकर क्रीड़ा करते रहते हैं। इनकी क्रीड़ा अनादि अनन्त एवं प्रेममदनमयी होती है।

वात्सल्य रति

मधुर के पश्चात् दूसरा व्यापक भाव वात्सल्य है। एक बालक की अनेक विनोदपूर्ण चेष्टाओं से और उसकी सरल आकर्षक मुखाकृति से जो आनन्द प्राप्त होता है उसमें शुचिता और एकांगिता होती है। रूप गोस्वामी ने सिद्धान्तः वात्सल्य को केवल माधुर्य से ही न्यून माना है, किन्तु गौडीय भक्त का मन उसमें रम नहीं सका है। वल्लभाचार्य की उपासना पद्धति में बाल भाव की प्रधानता है। अतः सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, कृष्णदास आदि भक्तों ने बाल स्वभाव का सूक्ष्म, विशद एवं मार्मिक अंकन किया है। राधावल्लभीय उपासक यद्यपि युगल भावना में ही निमग्न रहता है तथापि स्वयं हितहरिवंश के दो बधाई के पद मिलते हैं।[१]

इस रस के आलम्बन नन्दनन्दन, यशोदा, नन्द, देवकी आदि हैं। मातृ हृदयों में सन्तान के प्रति जितना स्वार्थहीन और त्यागपूर्ण स्नेह होता है उतना पितृ हृदय में दिखाई नहीं पड़ता। अतः भक्तों ने यशोदा को नन्द से अधिक सामने रखा है। यशोदानन्दन का स्वरूप तो नयनाभिराम था ही, उनकी वेश भूषा भी चित्ताकर्षक थी। जो भी उनका अवलोकन एक बार कर लेता वह बारम्बार उसी को देखना चाहता था। उपालम्भ देने के लिये आई हुई गोपियाँ उसे देखकर कृष्ण के दोष भूल जाती थीं। उनके अलौकिक कृत्य जहाँ एक ओर थोड़ी देर के लिए शंका, चिन्ता या व्याकुलता उत्पन्न करते थे वहाँ वे आकर्षण के साधक भी थे। सरल स्वभावा यशोदा की अभिलाषा, उत्सुकता, गर्व, उत्साह, विश्वास आदि में सामान्य मातृ हृदय की भावना के दर्शन होते हैं।

प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने वात्सल्य को रस न मानकर भाव माना है। कविवर सूरदास ने जन्म से लेकर कैशोर तक के प्रत्येक सम्भव बालविनोदों का शब्द-चित्र उतारकर उसे रस सिद्ध करने में सफलता पाई है। बच्चे का रोना, किलकारी भरना, करवट लेना, चलने और बोलने का प्रयत्न करना, नवनीत और चन्द्र के लिए हठ करना, ग्वाल-बालों के साथ खेलना, उपालम्भ देना, चंचलता, ऊधम मचाना, बहाने बताना आदि किसी भी ऐसी बाल चेष्टा का वर्णन उन्होंने छोड़ा नहीं है, जो मानव हृदय को विमुग्ध न कर सके। उनमें अनुभावों और

---

१. देखिये, श्री हित स्फुट वाणी, पृ० २२-२३ और पुष्टिमार्गीय पद संग्रह, भाग १, पृ० १८-१९

संचारियों की योजना इतनी मधुर हुई है कि रसानुभूति होने मे कहीं व्याघात नहीं होता।[१] वियोग की उद्‌भावना से वात्सल्य के साथ दीनता और विषाद का हृदयबेधक संयोग हुआ है। अक्रूर के आने पर भावी वियोग की आशंका से यशोदा व्याकुल हो जाती है। वे सबों से कहकर कृष्ण को रोक रखना चाहती हैं और उसमें असफल होकर मूर्छित हो जाती हैं। वह धाय बन देवकी से उनके सौविध्य का सन्देश कहलाती हैं और उद्धव के आने पर मुरली की भेंट भेजती हैं।

प्राय: अधिकांश कवियों ने राधा और कृष्ण के जन्म बधाई के ही पद लिखे हैं। उसमें व्रजवासियों का आनन्द, उनका गान और नृत्य, लाठी की याचना, दान की वर्षा आदि का वर्णन मिलता है।[२] बाल विनोदों में कृष्ण का आँखमिचौनी, कन्दुक क्रीड़ा, चकडोरी, दौड़ कर छूना आदि और राधा की आँखमिचौनी, सांझी लीला आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त लोकाचार भी उपेक्षणीय नहीं हुए हैं। अन्नप्राशन, कर्णछेदन, नामकरण, प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ की पूजा, वर्षगाँठ आदि के विधान अतिमानव को मानव बना देते हैं।

---

१. (क) यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलरावै मल्हावै जोई सोई कछु गावै॥
मेरे लाल की आउ निदरिया काहै न आनि सुवावै।
तू काहे न वेगि सी आवै तोको कान्ह बुलावै॥
कबहूं पलक हरि मूंद लेत हैं कबहूं अधर फरकावे।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रही कर करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनी पावैं॥

—सूरसागर, पृ० १३३

(ख) किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मणिमय कनक नन्द के आंगन मुख बिम्ब पकरवैही धावत।
....
बाल दशा मुख निरखि जशोदा पुनि पुनि नन्द बुलावत।
अंचरा तर लै ढांकि सूर के प्रभू की जननी दूध पियावत॥

—वही, पृ० १४४

यशुमति मन में यहै विचारति।
झझकि उठ्यो सोवत हरि अबहीं कछु पढ़ि पढ़ि तनु दोष निवारति।
खेलत में कहुं डीठ लगाई लै लै राई लोन उतारति।

—वही, पृ० १५७

२. सूरसागर, पृ० १२३ से १२५
व्रजप्रेमानन्द सागर, लहरी, २, ७ और पुष्टिमार्गीय पद संग्रह, भाग १, पृ० १, १००, १३१, १५१

राधावल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य से बढ़कर शृंगार की महत्ता स्वीकार की गई है। ध्रुवदास ने लिखा है कि —

अद्भुत बाल चरित्र को, जो यशुदा सुख लेत।
ताते अधिक किशोर रस, व्रजवासिनि के हेत॥
सर्वोपरि है मधुर रस, युगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवत तिनहिं, मिटत न कबहुँ हुलास॥[१]

सख्यरति

सख्यरति एकमात्र वल्लभ सम्प्रदाय की वस्तु है। अन्य भक्तों ने बहुत थोड़े पद उस सम्बन्ध में गाये हैं, गोप बालकों के साथ गोपाल ने गोचारण, माखनचोरी आदि अनेक बालसुलभ लीलायें की थीं। उनके सौहार्द में न तो गोपियों के प्रेम या यशोदा के स्नेह की तरह अतिमानवता की अवहेलना थी और न दास भक्तों के सदृश माहात्म्य का ध्यान रखते हुए दीनता की भावना ही थी। कृष्ण के ऐश्वर्य का उनके बीच कोई महत्व न था। वे सब अपने को बराबर समझंते थे। खेलने में कोई बड़ा छोटा नहीं होता। श्रीदामा, सुदामा, मधुमंगल आदि सखा गोपाल से अपनी गाय घिरवाते, छाछ खाने में छीना झपटी करते, पर्वत की कन्दराओं और वन के बीच कौतुक करते और उनकी रहस्यात्मक लीलाओं में भाग लेते थे। माखनचोरी, दानलीला आदि मधुर लीलाओं में वे सदा साथ रहते थे। उनको बीच कोई गोपन न था। दानलीला के पूर्व कृष्ण ने अपनी प्रकृति के सखाओं को बुलाकर कहा था कि राधा के बिना उनसे रहा नहीं जाता।[२]

दूसरी और अनेक असाधारण कार्यों से सखावृन्द कुछ आश्चर्यचकित और संशक होते थे। वे कृष्ण के महत्त्व को समझते थे और पूछते भी थे कि उन कार्यो को उन्होंने कैसे किया। कृष्ण भी सख्यत्व को स्थिर रखने के लिये सदा यही कहते रहे कि यदि वे सब सहायता न करते तो न तो वे गोवर्धन धारण कर सकते और न अनेक असुरों का वध कर सकते, फिर भी सब उनसे प्रभावित होकर प्रार्थना करते थे कि वे कहीं व्रज छोड़कर चले न जाएँ और उन्हें भूल न जाएँ, भक्त उनके व्याज से कामना करता है कि सुर मुनि दुर्लभ व्रजभूमि में कृष्ण का सहचर्य सदैव मिलता रहे।[३] इस तरह अलौकिकता में लौकिकता का समन्वय सत्य भक्ति की चरम परिणति है।

दास्यरति—रागानुगा भक्ति प्राप्त करने के पूर्व आराधक आराध्य से अपने को न्यून समझ कर और उनसे अपना दुःख निवेदन कर सामीप्य प्राप्ति की याचना करता है। वह उन्हें भक्त वत्सल, असुर संहारक, सर्वशक्तिमान, अवतारी, ईश्वर, क्षमाशील, वदान्य व प्रेमवश आदि

---

१. ब्यालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० ६९
२. सूरसागर, पृ० ३०४
३. वही, पृ० ५३६

समझ कर उनकी शरण ग्रहण करता है। यही दास्य रति है। भक्त संसार की असारता और अपने पापों को प्रकट करते हुए दीन वचनों में अपने उद्धार की प्रार्थना करता है। उसे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता, इसीलिये वह प्रभु का अनुग्रह चाहता है। उस भाव को व्यक्त करने वाले पद प्रत्येक संप्रदाय में मिलते हैं।

भक्त को एकमात्र भगवान के नाम का आधार ही दिखाई पड़ता है। उसे पश्चाताप होता है कि उसने भगवत् भक्त तथा सतसंग के बिना जीवन व्यर्थ ही बिता दिया, संसार की माया मोह और विषय वासना में फँसा रह कर वह काल का ग्रास बना और बारम्बार जन्म ग्रहण किया।[१] वह मन को प्रेरित करता है कि हरि को छोड़कर इधर-उधर मत डोल।[२] वस्तुतः यह सब चक्कर अहंकार के ही कारण है। उसे त्याग कर तथा सत्संग का आश्रय लेने से मन की वृत्ति आसक्ति से विराग की ओर उन्मुख हो जाती है।

निरन्तर प्राथना करते-करते भक्त को आकुलता होने लगती है कि क्या कारण है कि भगवान दया नहीं कर रहे हैं। उसे अपने अधिकार का स्मरण हो जाता है। यह उनकी भक्त उद्धरण की क्षमता को ही चुनौती दे बैठता है।[३] धीरे-धीरे उसका दैन्य जब अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है, वह प्रभु को पूर्ण आत्म-समर्पण कर देता है। वह अनन्य मन से उन्हीं को स्मरण करता है और अपनी अच्छाई बुराई का सब भार उन्हीं की सौंप देता है।[४] दास्य रति

---

१. ऐसे हो जनम गयो बिताइ।
साधु संग हरिजस न गायो वर मानुस तन पाइ॥
नैन श्रुति पद पान रसना सकल अछित उपाय।
कहा कहौं विषै विकल मति दयौ ग्रास न चाइ॥

--- --- ---

(जै श्री) हित वनमाली वह बड़ो मत श्याम भजन कराइ।
खोज रिपोर्ट, १९१२-१४ ई० संख्या १५

२. मन मेरो अजहूं होइ सयानों।
हरिपद कमल विसारि विषय रति कहा फिरत बौरानो॥
सोइ-सोइ दाव उपाव करत नित जो अपने चित मानो।
भयो विवस आलस अभिमानी नेकु न हित नियरानो।
—निम्बार्क माधुरी, बिहारिनि देव, पृ० २४६

३. दीनानाथ अब बारि तुम्हारी।
पतित उधारन बिरद जानि के बिगरी लेहु संवारी॥ —सूरसागर, पृ० १३

४. जो हम भले बुरे सो तेरे।
तुम्हें हमारी लाज बढ़ाई विनती सुन प्रभु मेरे॥
सब तजि तुम शरणागति आयो निज कर चरण गहेरे।
तुम प्रताप बल बदत न काहू निडर भये घर चेरे॥
और देव सब रंग भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हारि कृपा ते पायो सुख जु घनेरे॥ —वही, पृ० २१

की परिसमाप्ति यहीं होती है।

शान्त रति

संसार के विषयों से विरत होकर निजानन्द में संलग्न हो जाना शम कहलाता है, जो शान्त रति का स्थायी भाव है। चतुर्भुज, सच्चिदानन्द, परब्रह्म, दान्त, विभु, हतारि गतिदायक तथा अनेक मुख वाले हरि उनके अवलम्ब हैं। उस रस की अनुभूति होने पर नेत्र नासाग्र पर स्थित हो जाते हैं, अवधूत की तरह चेष्टा होने लगती है, निर्ममता, निरहंकारिता, निरपेक्षता और जीवनमुक्ति प्राप्ति होती है। यह दशा योगियों की ही होती है।[१] उस स्थिति में द्वन्द्व की प्रतीति नहीं होती और सर्वभूतों में समत्व बुद्धि का उदय होता है। व्रज के कुछ समुदायों में यह रति भक्ति के साधन के रूप में स्वीकृत हुई है। उसके सब से प्रबल पोषक शुक साम्प्रदायिक उपासक है। उनके ग्रन्थों में अष्टांग योग का विस्तृत वर्णन और तुरीय अवस्था का पूरा चित्रण मिलता है।

अन्य विषय

सेवा पद्धति और पर्व

अभी तक उन विषयों पर प्रकाश डाला गया है जो साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। साम्प्रदायिक पूजा की प्रणाली से प्रभावित होना सन्तों के लिये नैसर्गिक था। भोग, राग और श्रृंगार वह आधार भूमि है जहाँ सभी का सामंजस्य हो जाता है। कम से कम दिन में तीन भोग, श्रृंगार और आरती सर्व गृहीत है, किन्तु अष्टयाम सेवा का क्रम, सम्भवत: वल्लभ सम्पद्राय के प्रभाव से, प्रत्येक सम्प्रदायों में प्रचलित हो गया है। स्वरूप को जगाना सभी मूर्तिपूजकों के लिये आवश्यक है। वल्लभ सम्प्रदाय में वह जागरक दो भावों में होता है। यशोदा बाल कृष्ण को वात्सल्य भाव से या गोचारण के लिये जगाती है अथवा समस्त दिन समंगल बिताने की इच्छा से गोपिकाएँ प्रात:काल आकर इन्हें जगवाती है।[२] राधावल्लभी, हरिदासी, चरणदासी और गौडीय सम्प्रदाय में उसकी भावना प्रिया प्रियतम के रात्रि केलि का दर्शन करने के लिये

---

१. एषां निरभिमानानां शरीरादिषु योगिनाम्।

— हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु, पश्चिम विभाग, लहरी १, पृ० ३२१

२. (क) भोर भये निरखत हरि को मुख प्रमुदित यशुमति हरखित नन्द।
दिनकर किरन नलिन ज्यों विकसत उर उपजत आनन्द॥

—सूरसागर, पृ० १५८

(ख) भोर भयो जागौ नन्दनन्दन संग सखा ठाढे जगवन्दन।
सुरभी पय हित बच्छ पियावै पंछी तरु तजि दुहुं दिसि धावै॥

—वही, पृ० १६२

(ग) प्रात समय उठ आई कमलनयन तुमरो देखन मुख।
गोरस बेचन जात मधुपुरी लाभ होइ मारग पाऊं सुख॥

—पुष्टिमार्गीय पद संग्रह, भाग ३, परमानन्ददास, पृ० १८

होती है।[१]

शय्या त्याग के पश्चात् कलेवा का क्रम आता है। उस समय के मुख्य भोजन दूध, मक्खन, मिश्री, खीर और फल हैं। ऋतु और सम्प्रदाय के अनुसार उसमें परिवर्तन भी होता है। स्नान के उपरान्त शृंगार भोग और शृंगार आरती के पदों में भोग की सामग्री, स्वरूप के सौन्दर्य और वेशभूषा का वर्णन होता है। फिर अधिकांश सम्प्रदायों में कुंज भ्रमण की भावना होती है। पुष्टिमार्गीय उपासना में इस अवसर पर गोचारण, गोदोहन, माखन चोरी, धैया और प्रेखारोहण के पद मिलते हैं जो उसकी अपनी विशेषता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में इसका स्थान नहीं है, वहाँ सात ही भोग लगते हैं।[२]

राजभोग वैष्णवों के लिये नित्य पर्व है। वे सामर्थ्यानुसार अधिक से अधिक खाद्य सामग्रियों का समर्पण करते हैं। कवियों ने उनकी लम्बी सूचियाँ दी हैं।[३] भक्त भगवान के मुख की वीरी पाकर धन्य हो जाता है। राधाकृष्ण के जूठन से बढ़कर उसकी कोई और आकांक्षा नहीं है।[४] युगल विनोद और फिर उनका एकान्त में विश्राम मध्यान्ह कालिक आवसानिक सेवा है। सायंकालीन वन विहार के पूर्व उत्थापन भोग पर अधिक बल भक्तों ने नहीं दिया है। वन विहार का विशद वर्णन मधुर रस से परिपूर्ण है। उस समय जल विहार, गान और छद्म आदि विनोद के विषय वल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त सभी सम्प्रदायों में प्रमुख स्थान रखते हैं, पुष्टिमार्ग में गोचारण से लौटकर आने पर व्रज वासियों के द्वारा आरती और श्रांति के परिहार के लिये भोग का विधान ही है। इस समय बड़े शृंगार का आयोजन सभी

---

१. सिटपिटात किरनन के लागे।
उठ न सकत लोचन चकचौंधत ऐंच ऐंच ओढ़त वसनन दोउ जागे॥
हिय सों हिय मुख सों मुख मिलवत रस लम्पट सुरत रस पागे।
नागरीदास निरखि अँखियन सुख मति कोउ बोलौ जाउ जिन आगे॥

—हित सुधासागर, अष्टयाम की सेवा के पद, पृ० १७३
तथा पाठ भेद से समय प्रबन्ध, पृ० ६

२. अनन्य सार, पत्र २७

३. सूरसागर, पृ० १८७-१८८ और हित सुधासागर, अष्टयाम की सेवा के पद, १७६-१७८ आदि।

४. (क) अति सुगन्ध कपूर लौंग युत प्रीति सों रुचिर संवारी।
हंस मुसकाय दशन खंडित बीरी सूरदास बलहारी॥

—पुष्टिमार्गीय, पद संग्रह, भाग ३, पृ० ११३

(ख) सादर पावत उछिष्ट सीथ-सीथ पुष्ट-पुष्ट
परम मुदित होत सखी सुख विभाशिनी।
उचवन तंबोल लेति परस पै सन्मान देति॥
आनन्द की मूरति अति ही अनुरागिनी॥

—अष्टयाम, पृ० ४२

सम्प्रदायों के यहाँ होता है जिसमें स्वरूप सौन्दर्य की बहुलता रहती है।

अन्त में व्यारु और शयन से दैनिक सेवा की समाप्ति होती है। राधावल्लभी उपासक उनके पूर्व नित्य विवाह और नित्य रास की भावना करता है। निशा व्यापिनी केलि के प्रारम्भ होने के पहले सुदृढ़ स्वकीयात्व का होना इसलिये भी आवश्यक है कि उन्मुक्त विलास का दर्शन कहीं अन्यथाभाव न उत्पन्न कर दे। आनन्द और निकटता का परिचायक रास भक्त को अपने ध्येय का स्मरण प्रतिदिन करा देता है। वल्लभ सम्प्रदाय के जागरण के सदृश शयन में भी दो भाव प्रकट होते हैं, एक मधुर दूसरा वात्सल्य।[१] मधुर भाव में मिलन के रूप, मान और सुखद संयोग के पद मिलते हैं।

हिन्दू धर्म में प्रचलित अनेक पर्वों के उत्सव भी सम्प्रदायों में प्रविष्ट कर गये हैं, साम्प्रदायिक साहित्य में पवित्रा, रक्षा बंधन, देवप्रबोधनी, दशहरा, दीवाली, अन्नकूट, भैयादूज, रामनवमी, नृसिंह चतुर्दशी, रथयात्रा आदि का प्रायः वर्णन मिलता है। सम्प्रदाय के विशिष्ट गुरुओं का जन्मोत्सव भी पर्वोत्सव की तरह मनाया जाता है। वल्लभाचार्य, विट्ठलदास, गिरधरजी, बालकृष्णजी, हित हरिवंश, वनमाली, स्वामी हरिदास, चैतन्य, गोपाल भट्ट, चरणदास आदि की जयन्तियों में बधाई के पद प्रचुरता से मिलते हैं। यह आचार्यो के बधाईगान की परम्परा वैष्णवों की ही देन है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में राधा की सखियों की बधाई भी गाई जाती है।

सन्त कवियों ने अनेक रचनाएँ केवल उपासना पद्धति के स्पष्ट करने के लिये लिखी हैं। उनका उद्देश्य अष्टयाम सेवा का वर्णन अथवा भक्ति सिद्धान्तों का स्वमत के अनुसार निरूपण करना रहा है। हित वृन्दावन दास का अष्टयाम तथा समय प्रबन्ध, गो० रूपलाल कृत समय प्रबन्ध, सरस माधुरी कृत अष्टयाम, रसिकदेव कृत पूजाविलास आदि स्वतन्त्र पुस्तकों

---

१. (क) **दंपति पौढ़ेई पौढ़े रसबतियाँ करन लागे दोउ नयना लाग गये।**
सेज ऊजरी चन्दा हु ते निर्मल तापर कमल छयै॥
फूकत दृग वृषभान नन्दिनी झपत खुलत मुरझात नये।
मानो कमल मध्य अलि सुत बैठे साँझ समय मानो सकुच गये॥
आलस जान आप संग पीढ़ी पिय हिये उर लाय लये।
नन्ददास प्रभु मिली श्याम तमाल ढिग कनकलता उल्हये॥

—नन्ददास, पृ० ४२३

(ख) **सोवत नींद आय गई श्यामहीं।**
महरि उठि पोढाय दुहन को आप लगी गृह कामही॥
बरजत हैं घर के लोगन को हरिये ले ले नामहीं।
गाढ़े बोल न पावत कोऊ उर मोहन बलराम ही॥
शिव सनकादिक अन्त नहि पावत ध्यावत हैं दिन याम हीं।
सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन सो सोवत नन्द घामहीं॥

—पुष्टिमार्गीय पद संग्रह, भाग ३, पृ० २२२

को छोड़कर अनेक संग्रह ग्रन्थ प्रत्येक सम्प्रदाय में समय प्रबन्ध, वर्षोत्सव के पद या कीर्तन संग्रह के नाम से मिलते हैं। माधुरी जी की सुप्त माधुरियों माधुर्य भक्ति के क्रमिक विकास का अच्छा प्रतिपादन करती हैं, नन्ददास की रूपमंजरी में केवल प्रेम भक्ति की तीव्रता ध्वनित की गई है। रसिकदेव कृत भक्ति सिद्धान्त मणि, रस सिद्धान्त की आरती, भगवत रसिक की कुंडलियाँ और नन्ददास कृत सिद्धान्त पंचाध्यायी, ध्रुवदास कृत ब्यालीस लीला आदि साम्प्रदायिक भक्ति के सिद्धान्तों का अच्छा निरूपण करते हैं।

आरती

प्रत्येक 'दर्शनों' के अन्त में वैष्णव मन्दिरों में आरती की व्यवस्था होती है। उन अवसरों पर गाये जाने वाले भजनों में प्रायः सौन्दर्य का वर्णन ही प्रधान रूप से रहता है। पुष्प वर्षा, घंटे, घड़ियाली, शंख आदि का ध्वनियाँ, धूप, कर्पूर अथवा घृत आरती का उपयोग, विभिन्न दर्शकों की चेष्टाएँ आदि उनके प्रासंगिक विषय हैं। मंगल आरती में कल्याण की भावना अधिक रहती है। अतः उसमें बहुधा मंगल शब्द की अधिकता पाई जाती है। उत्थापन की आरती में आरती शब्द का व्यवहार कम होता है, स्तुतियाँ ही उस समय के लिए उपयुक्त होती हैं। कभी-कभी भक्त आरती को प्रतीक के रूप में ग्रहण करता है और स्व सिद्धान्त का उसमें आरोप करता है।[१]

माहात्म्य

प्रभु में अनन्याश्रयत्व तभी माना जाता है जब उनके सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु, स्थान और कृत्य अच्छे लगने लगें। कृष्ण और राधा का लीला स्थल व्रजमंडल, विशेष रूप से

---

१. (क) गगन मंडल में आरति कीजै।
उत्तम साज सकल सजि लीजै॥
सुखमन अमृत कुंभ धरावै।
मनसा मालिन फूल चढ़ावै॥
घीव अखंडा सोहँ बाती।
त्रिकुटी ज्योति जलै दिन राती॥
पवन साधना थाल करीजै।
तामै चौमुख मन धरि लीजै॥
× × ×
चरनदास सुखदेव बतावैं। ऐसी आरति पार लगावै॥

—भक्ति सागर पृ० ३४७

(ख) आरती कीजै श्यामसुन्दर की, नन्द के नन्दन राधिका वर की।
भक्ति करि दीप प्रेम करि बाती, साधु संगति करि अनुदिन राती॥
आरति वृज युवति यूथ मन भावै, श्यामलीला श्रीहरिवंश हित गावै।

—हित स्फुट वाणी, पृ० २७

वृन्दावन, था। सभी कृष्ण उपासक वहाँ की धूलि को सर्वापेक्ष अधिक पवित्र मानते हैं। वहाँ के निवास का फल सर्व पापों का क्षय और परम भक्ति की प्राप्ति है। वृन्दावन के हर तरुवरों के पत्ते-पत्ते में, वहाँ की लताओं में, पशु-पक्षी आदि में अद्‌भुत माधुर्य भासित होता है। उसका आदि और अन्त नहीं है। त्रिगुणात्मिका माया का वहाँ प्रवेश नहीं है। वहाँ के वन, उपवन, बाग और तड़ाग गौरश्याम की प्रीति से रंगे हुए हैं। ऐसे वृन्दाविपिन में जो नहीं बसना चाहता उसका जन्म वृथा है।[१] उसके माहात्म्य को प्रदर्शित करने के लिये मुक्तक काव्य ही नहीं स्वतन्त्र ग्रंथ भी निर्मित हुए हैं।

माहात्म्य की दृष्टि से वृन्दावन के समकक्ष यमुनाजी भी हैं। वे अपार गुणवाली, सुख, सिद्धि तथा भक्ति की दात्री हैं, कृष्ण ने स्वयं यमुना में स्नान किया है। वह कलियुग के जीवों का उद्धार करने वाली हैं। यदि उनकी ही कृपा हो जाये तो प्रभु का दर्शन सहज ही प्राप्त हो जाता है,[२] वंशीवट, गोवर्द्धन, बरसाना, राधाकुंड, गोकुल, मानसरोवर आदि सभी कुंजों और सरोवरों की महिमा अपरम्पार मानी गई है, क्योंकि वहाँ कृष्ण ने केलि और कौतुक किये हैं। वैष्णवों के लिये तुलसी सर्व फलदात्री है, उनकी प्रशंसा में भी कुछ पद मिलते हैं।

गुरु महिमा

सभी साधनों में चाहे वह ज्ञानमार्गीय, मर्यादामार्गीय अथवा भक्तिमार्गीय हो, गुरु के निर्देश और उपदेश की आवश्यकता होती है। जो साधना जितनी ही कठिन या रहस्यमय

---

१. (क) वृन्दावन तैं बनत ही जैतिक घोस बिहात।
ते दिन लेखे जिन लिखो वृथा अकारथ जात॥
—ब्यालीस लीला, वृन्दावन लीला, पृ० १९

(ख) देखौ श्रीवृन्दाविपिन प्रभाइ।
सब तीर्थ धामनि फिर आवत देखत उपजत भाइ॥
श्री यमुना तट लता भवन रज छिन-छिन बाढ़त चाइ।
मगन होत जब सुधि बुधि बिसरत कहूँ चलत नहि पाइ॥
यह रस चाखि और सुख भूले फूलत लखि मन अति गहराइ।
अचरज कहा व्यास सुख बरनत थके रसिक ताहि गाइ॥
—व्यास वाणी, ३०, पृ० १९

(ग) वन में तन तन में वृन्दावन। ज्यों घनदामिनि दासिनि में घन।
अहो प्रीय या वन की बात। कहत कछू मुख कही न जात॥
—माधुरी वाणी, पृ० २२

२. यमुना पर तन मन प्राण वारौं।
जाकी कीर्ति विशद कौन अब कहि सकै ताहि नैनन ते नैकु न टारौं।
चरण कमल इनके जो चिन्तत रहो निसदिन नाम मुखते उचारौ।
कुंभनदास कहै लाल गिरधरण मुख उनकी कृपा भई तो निहारौ।
—अष्टछाप पदावली, कुंभनदास, पृ० १६७

होगी उतनी ही गुरु की आश्रयता भी होगी। अतः गुरु की महिमा का गान सर्व कालों में ही होता रहा है, वैष्णव सम्प्रदायों में उपास्य के नियत विग्रह के तुल्य गुरु भी नियत है, कबीर आदि सन्त कवियों ने जिस गुरु की महत्ता प्रदर्शित की है वह विशिष्टता का ज्ञापक न होकर सामान्यता का व्यंजक है, वैष्णव गुरु का महत्त्व परम्परानिष्ठ होते हुए भक्तिपरक भी है। अतएव प्रत्येक भक्तों ने अपनी गुरु परम्परा का ही गान किया है, वल्लभ सम्प्रदायी उपासक वल्लभाचार्य, विट्ठलदास आदि की राधावल्लभीय हरिवंश की, चरणदासी शुकदेव, श्यामचरणदास, रामरूप (गुरु भक्तानन्द) आदि की, हरिदासी स्वामी हरिदास, विट्ठल विपुल, बिहारिनदास आदि की और गौडीय साधक गौरांग महाप्रभु, रूप, सनातन आदि की स्तुति में उन्हें ही सर्वाधिक महिमाशाली एवं एकमात्र भगवान का प्रतिनिधि मान लेता है।

राधावल्लभी सम्प्रदाय में हित हरिवंश को लेकर छोटी बड़ी रचनायें हुई हैं, वल्लभ सम्प्रदाय के समकक्ष या उससे भी अधिक परिमाण में राधावल्लभी एवं गौडीय सम्प्रदाय में हिन्दी साहित्य का सर्जन हुआ है, उनकी साधना निरन्तर राधाकृष्ण के विहार का चिन्तन करना है जिसके अनुरूप उनकी वाणियाँ प्रस्फुटित हुई हैं। उस रहस्यात्मक उपासना में कदाचित पार्थिव जगत की वासना का धोखा न हो जाए, सम्भवतः इस ध्येय को ध्यान में रखते हुए हितहरिवंश के अलौकिक स्वरूप और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग की गहनता का स्मरण हर भक्त बराबर करता जाता है। सम्प्रदाय मे चतुरासीजी हित चौरासी के समकक्ष स्थान पाने वाली सेवकवाणी से इस बात की पुष्टि होती है।[१] अन्य सम्प्रदायिकों की गुरु भक्ति के पीछे भी इसी प्रकार की भावना है।[२]

योग

राधाकृष्ण के विहार को निकट से देखने योग्य अवस्था तक पहुँचने के लिये दो सम्प्रदायों ने योग को साधन माना है। हरिदासी या टट्टी साधक अष्टांग योग या हठयोग का पक्षपाती नहीं है। वह चित्तवृत्ति निरोध तथा ध्यान की एकाग्रता के द्वारा युगल दर्शन का योग प्राप्त करता है। दर्शन हो जाने पर वह आत्मानुभूत रस का ही प्रकाशन करता है। शुक सम्प्रदायी उपासक उस रसानुभूति को लक्ष्य बनाकर अष्टांग योग का अभ्यास करता है। चक्रों को बेधकर यह अनहद नाद श्रवण करता है और मन को स्थिर कर अखंडित ज्योति का प्रत्यक्ष करता है, इस ब्रह्मज्ञान के प्रकाश में उसकी भक्ति प्रस्फुटित होती है और उसे नित्य रमण का आनन्द प्राप्त होता है। उस सम्प्रदाय का भक्त योग की अवस्थाओं का वर्णन विस्तार से करता है।

---

१. सेवक वाणी की विषय सूची इस सम्बन्ध में देखी जा सकती है: हितजन विलास, हितविलास, हरिवंश नाम, प्रतापजस, हितवाणी प्रकरण, हित इष्ट साधन प्रकरण, हित धर्मिकृत प्रकरण, रसरीति प्रकरण, हित अनन्य टेक प्रकरण, हित कृपा अकृपा प्रकरण, हित भक्त भजन प्रकरण, हित ध्यान प्रकरण, हित मंगलगान प्रकरण, हित पाके धर्मी प्रकरण, हित काचै धर्मी प्रकरण,अलभ्य लाभ प्रकरण और मान सिद्धान्त प्रकरण।

२. देखिये, निम्बार्क माधुरी, नागरीदास, पृ० २७२–२७६ और सरस देव, पृ० २८२-२८५ आदि।

चरणदासजी ने अष्टांग योग वर्णन, अष्ट प्रकार के कुंभक, कर्म हठ योग वर्णन, पंच उपनिषद्, अथर्ववेद भाषा तथा अन्य स्फुट अंगों की रचना अष्टांग हठ योग को समझाने के लिये की है। उस सम्प्रदाय के साधकों ने भी योग का विस्तृत उल्लेख किया है। उनके अध्ययन के ज्ञानमार्गीय सन्तों की परम्परा का भ्रम होता है, फिर भी चरणदास ने भक्ति, ज्ञान, और योग में समन्वय सा किया है, तीनों के द्वारा प्राप्तव्य एक है। उनमें अन्तर केवल साधन और कथन का ही है।[१]

जगत् और माया

भगवत् मिलन के बाधा के रूप में जगत् और माया का प्रसंग सभी आराधकों के सम्मुख आता है। नश्वर जगत् की स्थिति माया के कारण ही सुदृढ़ एवं भ्रामक बनी रहती है। अतएव उसका प्रत्याख्यान और उससे त्राण पाने के लिये ईश्वर से अनुग्रह का अनुरोध अधिकांश भक्तों ने किया है। त्रिलोक को वश में रखने वाली माया का विस्तार लोभ, मोह, अहंकार आदि षड्रिपुयों के माध्यम से होता है। उनके परित्याग के बिना हरि का भजन सम्भव नहीं है।[२] इसलिये प्राय: सन्तों ने उन सब से बचने का उपदेश अपनी आर्त वाणी में दिया है। अष्टांग योग के साधक चरणदासी सन्तों ने उन अवरोधक अंगों की अच्छी विवेचना की है।

---

१. सब इन्द्रिन को रोकि कै, करि हरि चरणन ध्यान।
बुद्धि रहे सुरतिहुं रहे, तो समाधि मत मान॥
ध्याता विसरे ध्यान में, ध्यान होय ले ध्येह।
बुद्धिलीन सुरति न रहै, पद समाधि लखि लेह॥
आसन प्राणायाम करि, पवन पन्थ गहि लेहि।
षट् चक्कर को ध्यान करि, ध्यान शून्य में देहि॥
आपा बिसरे ध्यान में, रहै सुरति नहिं नाद।
लीन होइ किरिया रहित, लागै योग समाधि॥
जब लग तत्त्व विचार करि, कहैं एक अरु दोय।
ब्रह्मव्रत बाँधे रहैं, ह्यौ लगि ध्यानहि होय॥
मैं तू यह वह भूल करि, रहै तु सहज स्वमाय।
आपा देहि उठाय करि, ज्ञान समाधि लगाय॥
ज्ञान रहित ज्ञातारहित, रहित ज्ञेय अरु ज्ञान।
लगी कभी छूटै नहीं, यह समाधि विज्ञान।

—भक्तिसागर, अष्टांग योग वर्णन, पृ० ११४-११५

२. हरि तेरो भजन कियो न जाइ।
कहा कहूँ तेरी प्रबल माया देति लहर बहाइ॥

—सूरसागर, पृ० ७

मोक्ष

सभी साधनाओं के अन्तिम फल मोक्ष के चारों भेदों को भक्त कवियों ने स्वीकार किया है। उन्होंने उनमें क्रमशः उत्कर्ष अभिव्यक्त किया है। सबसे पहले सालोक्य मुक्ति की चेष्टा करना भक्ति का प्रथम सोपान है। अनन्य निष्ठावान कृष्णोपासक बैकुंठ प्राप्ति की भी आकांक्षा नहीं करता।[१] उसे तो स्वामि और स्वामिनी की लीलाभूमि व्रज का निवास ही अच्छा लगता है। वहाँ उसे प्रत्येक वस्तु में दिव्यता का आभास मिलता है। श्रद्धा और विश्वास दृढ़ हो जाने पर उसे युगल दर्शन होते हैं और अष्ट सखियों से परिचय प्राप्त होता है। उनसे उसे सेवा की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है, तब उसका सखीत्व प्रस्फुटित होकर सामीप्यात्मक मुक्ति की अवस्था उत्पन्न करती है।[२]

चिन्तन के द्वारा निकट सेवा का अधिकार मिल जाने पर भी जीव रूपी सखियाँ या व्रज बालाएँ प्रभु से आत्मिक मिलन नहीं कर पातीं, वे राधाकृष्ण की केलि का रहस्य पूर्णतया हृदयंगम करने में असमर्थ होती है।[३] शनैः शनैः उनके अनुराग से कृष्ण प्रसन्न होते हैं और उनके साथ क्रीड़ायें करने के निमित्त उनका आवाहन वंशीनाद के द्वारा करते हैं। व्रज युवतियाँ सुधि-बुधि खोकर और संसार का तिरस्कार कर अनन्य मन से उनके समीप दौड़ जाती हैं। उनके मिलन के आनन्द का प्रकटीकरण रास नृत्य के द्वारा होता है।

रास के प्रसंग में कृष्ण की परीक्षा आनन्दमयता में ईषत् न्यूनता कर देती है। भक्त की सर्वोत्तम कोटि में मर्यादा पालन की शंका भी अग्राह्य है। अतः हिन्दी के कुछ भक्त कवियों ने मर्यादाहीन होली की उद्भावना की है। लोक व्यवहार का अतिक्रमण होलिकोत्सव के आकर्षण का कारण है। उस अवसर पर धृष्टता की सीमा तक पहुँच कर व्रज बालाएँ प्रियतम का पीताम्बर तक छीन लेती हैं और उन्हें अनेक प्रकार से छकाती है।[४] सब अपने मन की

---

१. कहा करै बैकुंठहि जाय।
जंह नहि कुंजलता अलि कोकिल मन्द सुगन्ध न वायु बहाय॥
नहीं वहाँ सुनियत श्रवनन वंशीधुन कृष्ण न मूरत अधर लगाय।
....
गोविन्द प्रभु गोपी चरणन की व्रज रज तजि वहाँ जाय वलाय॥

—अष्टछाप पदावली, पृ० २३२

२. माधुरी वाणी, उत्कंठा, माधुरी, पृ० १४-१५

३. प्रिया के गुण अब देखौ चरण उठावनि अस सुर ग्राम अलाप।
मंडल परस होत किधौ नहि थकित शारदा देखत अस परताप॥
हमहू कौं नहि समझ परत है करत निकट रहियत गुण जाप।
वृन्दाहित रूप तड़ित ज्यों कौंधि जाति है दै जु मान सिर छाप॥

—अष्टयाम, पृ० ६२

४. सुहृदवाणी सूरदास मदन मोहन की, पृ० २७-२८ तथा व्यास वाणी, पृ० ४२४-४२८ आदि सभी कवियों ने कृष्ण के साथ होली खेलने का विशद और रसपूर्ण वर्णन किया है।

साध पूरी करती है।[१] प्रेम के वश में होकर भगवान उन्हें आत्मसमर्पण कर देते हैं। गोपिकाएँ उन्हें मनमानी रूप धारण कराती और अपना मन भाया करती हैं।[२] यदि मदनमोहन भक्तों पर अपना रंग उछालते हैं तो वे भी उन्हें अपने रंग से सराबोर कर देती हैं। यह प्रेम की फाग है जिसका प्रचुर वर्णन प्रत्येक व्रज भाषा के कवि ने किया है।[३]

इस प्रकार का स्वच्छन्द, बाधाहीन और उन्मुक्त होली का विलास ही सामीप्यात्मक मुक्ति की चरम परिणति है। ज्ञान मार्गी योगी साधु संग की होली खेलता और ज्ञान के रंग में विनिमज्जित होता है।[४]

सामीप्य मुक्ति शाश्वत तृप्ति नहीं करा पाती, रास के अन्त में भी श्रांति आती है और होली भी अचिर है। फलतः साधक को बीच-बीच में उत्कट विरह का अनुभव करना पड़ता है। उपासक उससे सदा के लिये विमुक्त होने के निमित्त षडैश्वर्यों का स्वयं में आधान करने की चेष्टा करता है। उसकी सिद्धावस्था में सार्ष्टि मुक्ति सुलभ हो जाती है जिसका प्रतीक है

---

१. फागु रंग करि रस राख्यो, रह्यो न मन युवतिन के काख्यौ।
सखा संग सब को सुख दीनो, नरनारी मन हरि हरि लीनो।
जो जेहि भाव ताहि हरि तैसे, हित को हित कंटक के तैसे।

—सूरसागर, पृ० ५७३

२. माधुरी वाणी, होरी माधुरी, पृ० ८३-८७

३. खेलत फाग भरे अनुराग सी लाड़िली लाल महा अनुरागी।
तैसिये अंग सखी सुठि सोहिनी प्रेम सुरंग सुधारस पागी॥
है पिचकारी चितौन छबीली के प्रीतम के उर अन्तर लागी।
रंग की ओर न छोर सनेह को देखि सबै उपमा ध्रुव भागी॥

—ब्यालीस लीला, श्रृंगार सत लीला, पृ० ११६

पद्माकर ने भी इसी भाव को अधिक सुन्दर ढंग से प्रकट किया है :
या अनुराग की फाग लखो जंह राजति राग किशोर किशोरी।
त्यों पद्माकर घालि चली फिर लालहि लाल गुलाल की झोरी॥
जैसे कि तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंग में बोरी।
गोरिन को रंग भीजिगा साँवरो, साँवरे के रंग भीजि गै गोरी॥

—पद्माकर पंचामृत, जगद्विनोद, पृ० १६३

४. आई अजब रंगीली ऋतु बसन्त घर में पायौ अपनो कन्त
चावन खेलूं कर उछाह बहुत दिनों का था उमाह।

....

जहाँ ब्रह्म जहाँ चला जाव मुक्ति होने का था उपाव।
रहै न आस कोई काम, चरणदास भये आप राम।
ज्ञान रंग बाढ्यो अपार रामरूप जित तित निहार।

—मुक्तिमार्ग, बसन्त होली, पृ० २९३ तथा २९४-२९६

राधा और कृष्ण का नित्य साहचर्य, दोनों के रूप और गुणों में किंचित मात्र का अन्तर नहीं है, राधा का स्वकीयात्व उपासक की अनन्यता का परिचायक है। उस भावना को स्थिरता प्रदान करने के निमित्त अधिकांश कृष्ण सम्प्रदाय नित्य विवाह की रचना करते हैं। प्रभु से गंठबन्धन हो जाने पर अबाधित विहार का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मोक्ष का अन्तिम रूप एकाकार होना है। माधुरीजी ने उनका चित्रण इस प्रकार किया है :

नैनन सों नैना मिले, मुख सों मुख लपटाय।
भुज अरुझे सुरझे नहीं, रहे सुरति सुरझाय॥
उर सों उर ऐसे मिले, सब अंगन सों अंग।
मनहु अरगजा में कियौ, नव केसर को रंग।[१]

व्यासजी ने इस मिलन की उपमा खांड और घी से की है।[२] दोनों अवस्थाओं में एकाकार होने वाली वस्तुओं में प्रत्येक का परिज्ञान निरन्तर होता रहता है। यही वैष्णव का द्वैताद्वैत या सविशेषण अद्वैत है। इसका संकेत सभी ने एक प्राण द्वै-दैही के उल्लेख से किया है। दूध और पानी के मिश्रण को सायुज्य मुक्ति उद्घोष करने वाला अद्वैतवाद एकोऽहं ब्रह्मास्मि की पुष्टि करता है। ब्रह्म रस का आस्वादन विलय में नहीं, अपितु लय में ही प्राप्त हो पाता है।

स्फुट

संसार से विरक्त सन्तों ने समाज और देश की परिस्थिति की ओर भी ध्यान दिया था। उन्होंने लोक व्यवहार का वर्णन प्रसंगतः भक्ति के उन्मुखीकरण के लिये किया है। उनके काल में देश और समाज की स्थिति अच्छी नहीं थी। उसे उन्होंने कलिकाल का प्रभाव माना है। असत्य व्यवहार, गुरु और शिष्य की दुर्दशा, म्लेच्छाक्रान्त देश के अधर्म, समाज की शोचनीय अवस्था आदि कलिकाल की कथा के अंग हैं। उन्हें सुधारने का उपाय हरिभक्ति ही है। साधु सेवा उस ओर प्रवृत्त करने का एक साधन है, किन्तु साधु असाधु के विवेक बुद्धि का उपार्जन वेद और शास्त्र के अध्ययन से सम्भव है। सुधार का दूसरा मार्ग सदाचार है। सत्य,

---

१. माधुरी वाणी, उत्कंठा, माधुरी, पृ० १९

२. निरखि सखी श्यामा विहरति पिय सौं।
मुख मँह अधर वाहु बाहुनि मँह, बिहुरत नाही कुव युग हिय सौं॥
लट मैं लट, पट मैं पट अरुझे, तन मैं तन, मन मैं मन जिय सौं।
मिली बिछुरी न व्यास की स्वामिनि ज्यौं व षाँड मिलि घिय सौं॥

—व्यास वाणी, पृ० ४९२

अन्य भक्तों ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है। यथा
उरझे दंपति सुरझे नांही।
परम प्रेम की उरझाने उरझे सुरझे न जानत उरझत जांहीं।
श्री रार्ध मोहन बन बैठीं मोहन राधे है दरसाहीं।

—सूरसागर, भाग ३, पृ० २२१

शील, दया आदि का अभ्यास समस्त अधर्मों का विनाशक है। उनका स्फुरण सत्संग के द्वारा होता है। महात्माओं ने उसके महत्त्व की ओर बराबर ध्यान दिलाया है।

भगवताश्रित कवियों ने भागवत की कथा आंशिक या पूर्ण रूप से लिखी है। नन्ददास का दशम स्कन्ध आदि इसके उदाहरण हैं। प्रसंग विशेष को लेकर अनेक खंड काव्य, जिन्हें लीला काव्य कहा जा सकता है, लिखे गये हैं। उनमें कृष्ण लीला के एक ही अंश का आधार लिया गया है। माखनचोरी लीला, चीरहरण लीला, दान लीला, रास लीला, असुर संहार लीला, पनघट लीला आदि का निर्माण आज तक हो रहा है। इन पर कुछ विस्तार से विचार पष्ठ प्रकरण में किया जाएगा।

नन्ददास ने अनुभव किया था कि संस्कृत न जानने वाले जन ज्ञान के अभाव में सत्साहित्य को समझने में असमर्थ होते हैं। तदर्थ उन्होंने दो कोश ग्रन्थों की रचना की है। भक्त हृदय को आकर्षित करने के हेतु उन्होंने पर्यायवाची कोश मान मंजरी में राधा के मान विमोचन का सरस वर्णन किया है और अनेकार्थ वाची शब्दकोश नाममाला के प्रत्येक शब्द का सम्बन्ध भगवान के साथ जोड़ा है। ये दोनों अपने ढंग की मौलिक रचनायें हैं।



षष्ठ प्रकरण

हिन्दी साहित्य के विविध अंगों पर साम्प्रदायिक प्रभाव

काव्य के रूप

प्रबन्ध काव्य

पद्य गद्यात्मक साहित्य के दो विभाग आचार्यो ने किए हैं, श्रव्य और दृश्य, श्रव्य काव्य के तीन भेदों में प्रबन्ध काव्य कथासूत्र के तारतम्य की अपेक्षा रखता है। उसके छंद परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध रहते हैं कि इनमें विपर्यय सम्भव नहीं है। घटनाओं और विस्तार की दृष्टि से उसके भी महाकाव्य और खंड काव्य नाम से दो विभेद होते हैं, महाकाव्य सदा जाति की सांस्कृतिक चेतना के द्योतक होते हैं। उनके लिए प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक की आवश्यकता होती है जो जातीय आदर्शो एवं आकांक्षाओं की मर्यादित रूप से सामने रख सकें। कभी-कभी इस नियम में शिथिलता दिखाई पड़ती है पर वह बहुत कम। इसीलिए भारतीय साहित्य शास्त्र मे उसके नायक तथा रस सीमित कर दिए गए हैं। नाटकों के लिए उपयुक्त चार प्रकार के नायकों मे केवल धीरोदात्त एवं देवगुण विशिष्ट नायक ही उसके लिए मान्य हैं। रसों में शृंगार, वीर तथा शांत ही अंगी स्वीकार किए गए हैं।[१] शेष रस उसमें रोचकता लाने के लिए अथवा चरित्र विकास के लिए प्रयुक्त होते हैं। इसमें जीवन के विस्तृत क्षेत्र का दर्शन, खलों की निन्दा, सज्जनों का गुणकीर्तन, प्राकृतिक शोभा का वर्णन, युद्ध आदि भी आवश्यक होते हैं।

सम्प्रदायों के अधीश्वर कृष्ण की कल्पना प्रधानतया धीरललित रूप में ही की गई है। जनरक्षक कृष्ण का व्यक्तित्व, जो उनके असुर संहार के कृत्यों में परिलक्षित होता है, भक्तों के हृदय के अनुकूल न हो सका। उनके समस्त कार्य लीला भाव से किए गए थे। उपासकों ने उन्हें भक्ति सिद्धान्तों के अनुरूप ग्रहण किया था। पिछले प्रकरण में दिखाया जा चुका है कि राधाकृष्ण और गोपियों की त्रिकुटि की क्रियाएँ प्रतीक रूप में स्वीकार की गई हैं। उनमें भक्ति

---

१. **सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।**
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥
एक वंशभवा भूपाः कुलगा बहवोपि वा।
शृंगार वीर शान्तानामेकांगी रस दृष्यतै॥

—साहित्य दर्पण, परिच्छेद ६, पृ० ३००

भावना का क्रमिक उत्थान मिलता है। सामाजिक जीवन के क्रमिक विकास का उसमें कोई स्थान नहीं है। अतएव कृष्ण चरित्र को लेकर महाकाव्यों की रचनाएँ कम हुई हैं, और जो हैं उनमें रामचरित के सदृश्य लोक ग्राह्यता नहीं है। उनका महत्त्व पौराणिक स्वरूप के कारण अधिक है।

व्रजभाषा में राधा अथवा कृष्ण को लेकर जो वृहदाकार प्रबन्धात्मक रचनाएँ हुई हैं उन्हें तीन विभागों में बाँटा जा सकता है। बहुसंख्यक कृतियाँ श्रीमद्‌भागवत की भावानुवाद अथवा उन पर आधारित हैं। उन्हें महाकाव्य की श्रेणी में न रखकर पुराणों के अन्तर्गत रखना उचित होगा। नंददास कृत दशमस्कंध, मंगलदास की कृष्ण प्रिया, जनन्नाथसहाय का कृष्ण सागर, गिरधारी की भागवत भाषा आदि इसी तरह के ग्रंथ हैं। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी की छप्पय शैली में लिखी हुई भागवत चरित इस ढंग की कृतियों में अंतिम है जिसे उन्होंने सप्ताहों में विभाजित किया है। कुछ लोगों ने न तो भागवत का अनुवाद किया है और न सीधे भागवत का आधार लिया है। उन सबों को सूरसागर से प्रेरणा मिली है। व्रजवासीदास ने व्रज विलास में इसको स्पष्ट स्वीकार किया है।[१] साम्प्रदायिक उपासना पद्धति अथवा सूरसागर से प्रभावित होकर अधिकांश रचनाएँ राधा अथवा गोपी और कृष्ण के केलि कला कौतुक या विहार की लीलाओं के विषय को लेकर निर्मित हुई हैं। उनमें बाल लीला का वर्णन अति गौण है। इनको विहार काव्य कहा जा सकता है। नागरीदास का सिंगार सागर, देव की स्नेहलीला, हीरासखी का अनुभवरस, श्याम सुन्दर कृत राधाविहार, बलवीर कृत राधिकाशतक आदि के वर्ण्य विषय शृंगारिक व्रजलीला हैं।

भगवदाश्रित रचनाओं में काव्य सौष्ठव तथा विस्तृत जीवन दर्शन का अभाव होने के कारण जन रुचि उधर कम आकर्षित हो सकी है। वे केवल साम्प्रदायिक जनों अथवा कथावाचकों की अभिरुचि की वस्तु बनी है। विहार काव्यों के अनेक स्थल अवश्य ही काव्यमय हैं। उनके वर्णन प्रायः प्राचीन कवियों, विशेषकर सूरदास, की छाया प्रतीत होते हैं। उनमें मौलिक उद्‌भावनाओं एवं रसानुभूति की न्यूनता काव्यानन्द के प्रस्फुटन में बाधक हैं। उनके अंदर अनूठी उक्तियाँ केवल आलंकारिक प्रयोग अथवा दो चार नई कल्पनाओं में दिखाई पड़ती हैं। ईसा की १८वीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के बीच की रचनाओं में और भी कम काव्य दिखाई पड़ता है। उनमें केवल परम्परा का पालन ही किया गया है।

---

१. सूरदास सोइ हरि रस सागर।
गायो बहु विधि परम उजागर॥
... ...
सो तो कथा अमित विस्तारा।
मो पै पायो जात न पारा॥
तामै व्रजविलास सुखदाई।
सो कछु कहिहौ कर चौपाई॥

—व्रज विलास, मंगलाचार, पृ० ३

तीसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्य तुलसीदास के रामचरितमानस से प्रभावित होकर रचे गए हैं। इन्हें महाकाव्यों की श्रेंणी में रखा जा सकता है। रामायण के अनुकरण में इनका नाम कृष्णायन रखा गया है। इस प्रकार के ग्रंथों में मंचित कवि कृत कृष्णायन, जगन्नाथ रिचार्य कृत कृष्णायन, श्यामसनेही कृत वसंत कृष्णायन और पंडित द्वारिकाप्रसाद मिश्र कृत कृष्णायन उल्लेखनीय हैं। उनमें रामायण की तरह सप्त सोपानों में विभक्त करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। श्याम सनेही ने उन्हें क्रमशः राधाकृष्ण द्वार, गोलोक द्वार, वृन्दावन द्वार, गिरिराज द्वार, गोपिका द्वार, मधुपुरी द्वार तथा द्वारावती द्वार और मिश्रजी ने उन्हें अवतार कांड, मथुरा कांड, द्वारका कांड, पूजा कांड, गीता कांड, जय कांड तथा आरोहण कांड की संज्ञा दी है। इन कृष्णायनों में प्रथम तीन का उद्देश्य विष्णु के अवतार वासुदेव कृष्ण की उन लीलाओं का दिग्दर्शन करना रहा है जो भक्तों की सर्वस्व हैं। उनमें मथुरागमन के बाद की घटनाओं का विस्तार अधिक नहीं है। फिर भी उनमें कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। साम्प्रदायिक बंधनों से मुक्त होकर पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने महा काव्य के योग्य नायक का चरित्र-चित्रण करने की सफल चेष्टा की है। उन्होंने व्रजलीला को एक कांड में समाप्त कर शेष छह कांडों में वीर, राजनीतिज्ञ और दार्शनिक कृष्ण के व्यक्तित्व को स्पष्ट किया है। प्रबन्ध की दृष्टि से उसमें प्रवाह है किन्तु भाषा व्रज के स्थान पर अवधी है। काव्य की दृष्टि से वह शेष तीनों रचनाओं से श्रेष्ठ है। मिश्रजी ने लिखा है कि इन्होंने शैली और भाषा तुलसीदास से और बालचरित्र का वर्णन सूरदास से ग्रहण किया है।[१] अयोध्यासिह उपाध्याय ने मथुरा गमन की घटना को लेकर 'प्रियप्रवास' की रचना संस्कृत वृत्तों में की है। वह प्रधान रूप से विरह काव्य है जिसमें कृष्ण के बाल्यकाल के कृत्यों का वर्णन स्मृति के आधार पर किया गया है। यह अपने ढंग की सर्वथा मौलिक रचना है।

इन तीनों प्रकार के प्रबन्ध काव्यों में हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध सभी शैलियों का उपयोग मिलता है। निस्संदेह रामचरितमानस और प्रेमाख्यान काव्यों की दोहा चौपाई की शैली प्रबन्ध रचना के लिए आदर्श है, अधिकांश कवियों ने उसका ही प्रयोग किया है। उनके प्रवाह में थोड़ी कमी व्रजभाषा के कारण है। वह भाषा मुक्तक काव्य के अधिक अनुकूल पड़ती है। उसमें ही उसका लालित्य निखरता है। आचार्य केशवदास की चलाई हुई शैली नाना छंदमयी है, उनमें संस्कृत और हिन्दी दोनो के वार्णिक और मात्रिक छंद मिलते हैं जैसे मत्तगयंद, वसंततिलका, पद्धटिका, तोमर, दोहा, कवित्त, सवैया, शार्दूत विक्रीडित, भुजंगप्रयात, बरवा आदि। इस शैली का अधिक प्रचार नहीं हुआ है। व्रजराज विहार और गंगावक्त हरिदास कृत कृष्ण चन्द्रिका विविध छंदों में निर्मित हुई है। कवितावली में तुलसीदास द्वारा ग्रहण की हुई कवित्त और सवैया की शैली भी उत्तर रीतिकाल के बाद के कवियों ने अपनाई है, यथा

---

१. तुलसी शैलिहि मोंहि प्रिय लागी।
भाषहुं बिनु विवाद रस पागी॥
सूरदास पद ज्योति सहारे।
बरने बाल चरित मैं सारे॥

—कृष्णायन, पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र, पृ० ३

गिरधारी कवि की भागवत दशम स्कन्ध भाषा। कृष्ण भक्तों की प्रिय रागमयी पद शैली भी कुछ व्यक्तियों ने अपनाई है। कथा प्रसंग को जोड़ने के लिए बीच-बीच में दोनों का समावेश भी उनमें कहीं-कहीं किया गया है।

खंड काव्य लीला काव्य

भक्त वत्सल नन्दनन्दन गोपीजन वल्लभ कृष्ण का जीवन चरित्र वस्तुत: विभिन्न लीलाओं का पुंजीभूत संग्रह मात्र था। उनमें चरित्र एवं कथा प्रसंगों की एक देशीयता ही व्यष्टि रूप में परिलक्षित होती है।[१] इसीलिए उनके एक-एक पक्षों को लेकर खंड काव्यों की सुन्दर सृष्टि हुई है। उन्हें लीला काव्य कहा जा सकता है। विशिष्ट प्रसंगों के आगे लीला शब्द संयुक्त भी कर दिया गया है. यद्यपि सूरसागर में भागवत की कथा का क्रम मिलता है तथापि उसके अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह स्फुट प्रसंगों का केवल संग्रह ही है, अन्यथा एक ही कथा की पुनरावृत्ति न होती। उसमें अनेक स्थल ऐसे हैं जो फुटकल पदों में और उसके ठीक बाद छंदोबद्ध प्रबन्ध रूप में दो बार वर्णित हुए हैं। ऐसे स्थल हैं दान लीला, द्वितीय दानलीला, चीरहरण, द्वितीय चीरहरण, रासलीला, द्वितीय रासलीला आदि। हिन्दी कवियों ने वृहद् परिमाण में इस प्रकार की रचनाएँ की हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहासों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मानलीला और उद्धव लीला की सर्वाधिक रुचिकर विषय समझा गया है। मानलीलाओं में किसी कारण से राधा के मान करने, सखियों अथवा दूतियों के अनुनय और अंत में युगल मिलन का चित्र उपस्थित किया जाता है। दोहों में निर्मित नन्ददास की मानमंजरी एक कोष ग्रंथ होते हुए भी मान मनावन का अच्छा परिचय देती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मानचरित्र में छद्म का मिश्रण राधाकृष्ण के अनुराग के निमित्त उद्दीपन का काम करता है। उद्धव-गोपी-संवाद ज्ञान और भक्ति की विवेचना के साथ ही गोपी प्रेम की मनोहर ढंग से अभिव्यक्त करता है। उसके लिए अनेक शैलियों और नामों का चुनाव कवियों ने किया है। सबसे अधिक प्रिय नाम भ्रमर गीत रहा है क्योंकि भ्रमग के ब्याज से या अन्योक्तियों के द्वारा गोपियाँ अपने विचार सामने रखती हैं। नन्ददास ने भंवरगीत में रोला, दोहा और दशमात्रा की एक टेक लगाकर जिस शैली को ग्रहण किया है, वह कथोपकथन के लिए अच्छी बन पड़ी है। रसिकराय ने दोहों में सनेहलीला नाम से मधुर काव्य की रचना की है, रसरूप के उपालम्भ शतक में कथा की कड़ियाँ दोहे के द्वारा और संदेश आदि कवित्त में वर्णित हुआ है। रत्नाकर ने उद्धव शतक में केवल कवित्त के द्वारा काव्य चमत्कार प्रदर्शित किया है।

भ्रमरगीत के पश्चात् रासलीला तथा दानलीला पर कवियों ने लेखनी उठाई है। मोहन की मुरली का मोहक प्रभाव, लोक मर्यादा की हीनता, तथा प्रभु की अनुकम्पा के फलस्वरूप आनन्ददायक रास नृत्य, जिसमें प्रति दो गोपियों के बीच रासविहारी कृष्ण की कल्पना की

---

१. **साहित्य दर्पणकार ने खंड काव्य की परिभाषा लिखते हुए उसकी एकदेशीयता पर बल दिया है, यथा 'खंड काव्यं भवेत् काव्यस्यैकदै शानुसारि च।'**

—पृ० ३०२

जाती है, सभी भक्तों और भक्तेतर व्यक्तियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। नन्ददास, रहीम, कृष्णदेव, द्वारिकादास आदि ने अधिकांशतः दोहा चौपाई में रासपंचाध्यायी की रचना की है। गिरधारी ने रहस्य मंडल की रचना कवित्त में की है।[१] दानलीला और चीरहरण लीला के अन्दर भौतिकता के समावेश का अवसर सहज ही मिल जाता है। अतएव आज भी उनकी रचना छंदों में होती है, जिनका प्रचार कम पढ़े लिखे वर्गों के बीच होता है। अन्य लीलाओं में गोवर्धनलीला, दधिलीला, माखन चोरी लीला, दामरी लीला, गेद लीला, नागलीला, दामोदरलीला, बांसुरी लीला आदि प्रचलित हैं। बाल लीला के अन्तर्गत कभी- कभी नन्दनन्दन के अनेक कृत्य, जिनमें उपर्युक्त लीलाएँ भी सम्मिलित हैं, वर्णित होते हैं जैसे जगन्नाथ सहाय कृत बाल लीला। अनेक बड़े काव्यग्रंथों में विषयों के शीर्षक लीलात्मक होते हैं। व्रजविलास,व्रजराजविहार और कृष्ण विलास आदि उसके लिए दृष्टव्य हैं।[२] ध्रुवदास की ब्यालीस लीला में सिद्धान्त के प्रतिपादक गद्यांश भी लीला माने गए हैं।

कृष्ण सम्प्रदायो के उद्‌भव से एक विशेष ढंग के खंड काव्य की परम्परा स्थापित हुई जिन्हें छद्‌मलीला कहते हैं। छद्‌मों का उपयोग बाधाओं का अतिक्रमण कर प्रिय द्वारा राधा मिलन की चेष्टा तथा विनोद के लिए किया जाता है। सूरदास ने एक छद्‌म की कल्पना की है जिसमे कृष्ण गाडुड़ी के भेष में राधा पर से काले का असर उतारने जाते हैं। छद्‌म रचयिताओं में सबसे प्रमुख स्थान हित (चाचा) वृन्दावनदास का है। उन्होंने पुष्कल परिमाण में उनका सृजन किया है। कृष्ण चितेरिन, सुनारिन, मनिहारी, विसातिन, तमोलिन, जोगनी, जोगी आदि का रूप धारण कर और अनेक बहाने बना कर राधा की सखियों के माध्यम से राधा से मिलने का अवसर निकालते हैं। चाचा वृन्दावनदास ने उन लीलाओं के लिए सार, लावनी और कुछ ऐसे छन्दो का प्रयोग किया है जिनके नाम हिन्दी छंद शास्त्र की पुस्तकों में नहीं मिलते। एक छंद तीस मात्राओं का है जिसमें उन्नीस और ग्यारह पर यति है :

ललिता कहति जु हो प्यारी निकट चल, कछु बुझियै बात।
जाको जोग जु हो हियहि बिलोबहीं, नहिं तप लायक गात॥
क्यों घर छाड़ौ हो रावलि तात कौ, अजहूँ हट तजि देहू।
कुटी छवाऊँ हो याही बाग में, इच्छा भोजन लेहु॥[३]

उनका द्वितीय छंद पन्द्रह, ग्यारह की यति से छब्बीस मात्राओं का है :

कहि इहि पुर तू वासिनी है, काहू के अभिलाष।
बड़े गुननि की औषधि भरीं, झोरी मेरे काँख॥

---

१. खोज रिपोर्ट, १९२३-२५ ई०, पृ० १५८

२. इन पुस्तकों में चन्द्रलीला, माटीखान लीला, आघासुर वध लीला, वकासुरवध लीला, गायदुहावन लीला, हिडोला लीला, कंस लीला आदि शीर्षक मिलते हैं।

३. रास छद्‌म विनोद, पंचम जोगी लीला, पृ० ११४ आदि

जो प्रतीत आवै नहीं तौ, तू जा नैन निहारि।
इत उत भलौ जु मानिहैं करवावै जहाँ चिन्हारि॥
खबरि वेग करि राज घर री, बचन न मेरौ डारि।
तौ मारग हेरि हों बैठी, भानु सरोवर पारि।[१]

इसी के साथ बीच-बीच में १६, ११ पर यति देकर २७ मात्राओं के सरसी छंद भी प्रयुक्त हुए हैं।

दोहे की एक पंक्ति के साथ उपरिनिर्दिष्ट द्वितीय प्रकार के छंद की एक पंक्ति मिला कर एक नए प्रवाह पूर्ण छंद की उत्पत्ति उन्होंने की है :

चरन पलोटन हों निपुन प्रथम परीक्षा लेहु।
ललिता मोकों महल में वलि, तज तुम रहनिजु देहु॥
तोको फूलन टहल है ताही में चित राखि।
अहो सहेली मालिनी कछु, बात समझि मुख भाखि॥
वक्र विलोकनि निरखि कें ललिता करति विचार।
वचन विचित्र सु मालिनी दीखत सु बड़ी खिलवार॥
कौस्तुभ मणि उर पर लखी सारी खसी सुभाय।
सखी धूत यह नन्द कौ तुम देखौ कौतुक आय॥[२]

किसी मेले में आज भी छद्‌म लीला की छोटी-छोटी पुस्तकें देखी जा सकती हैं।[३]

मुक्तक-पद

वैष्णव सम्प्रदाय में सम्बन्धित सभी साहित्य सृष्टा प्रमुखतया भक्त थे। उनकी वाणी आत्मनिवेदन के रूप में प्रस्फुटित हुई है। इसी कारण उनके अंदर आत्माभिव्यक्ति की इतनी गंभीर अभिव्यंजना संभव हो सकी है। प्रभु के सान्निध्य में उनके गुणों और लीलाओं का गान सुमधुर रस की वर्षा करने में समर्थ हुआ है। विभिन्न अवसरों पर भावनानुकूल मुक्तक पदों का उद्‌भव स्वाभाविक ही था। वे सभी गेय हैं। भक्ति और गीति का सम्बन्ध सनातन है। वैदिक साहित्य की सभी स्तुतियाँ गेय हैं। सामवेद गान्धर्व विद्या का आदि स्रोत है। भक्तिसूत्र के प्रणेता नारद के स्वरूप की कल्पना वीणा विहीन हो सकना असम्भव है। नवधाभक्ति में संकीर्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्त हृदय के उत्साह और उल्लास में तथा उनके दैन्य के उद्रेक में अनायास ही लयात्मक स्वर झंकृत हो उठते हैं। आराधक निर्गुणियों ने ब्रह्मनाद का

---

१. रास छद्‌म विनोद, पंचम जोगी लीला, वैद्यनि लीला, पृ० ५७
२. रास छद्‌म विनोद, मालिन लीला, पृ० ३१
३. छद्‌म लीला की कुछ रचनाएँ हैं : व्रजजीवन की छद्‌मचौवनी, प्रेमदास की विसातिनलीला, भारतेन्दु हरिश्चन्द की देवीछद्‌मलीला, खंग बहादुर मल की जोगिनलीला, कविराम की मनिहारिन लीला तथा विश्वेसर प्रसाद की चुरिहारिन लीला।

श्रवण कर उन्हें शब्द का रूप दिया है और सगुणियों ने ब्रह्म की निकटता के आनन्द को पद बन्ध किया है।

काव्य और संगीत का सम्बन्ध ताल और मात्रा के ही माध्यम से सभव है। काल के मान को ताल कहते है।[१] वर्ण के उच्चारण में लगने वाले समय को मात्रा कहते है। लघुवर्ग को एक मात्रिक और गुरु वर्ग को द्विमात्रिक माना जाता है।[२] इस तरह मात्रा और ताल दोनों समय की माप सूचित करते है। वार्णिक वृत्तो में लघु एवं गुरु वर्णो की सख्या नियत होती है और छंदों में वर्णो की संख्या अनियमित किन्तु मात्राओं की संख्या सीमित होती है। संस्कृत के सभी मंत्र, वृत्त और छद लयात्मक हैं। वैदिक ऋचाओं को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर में पाठ करने का सुनिश्चित विधान है, जिससे कर्णप्रिय मनोहर ध्वनि निष्पन्न होती है। वार्णिक वृत्तों मे गणों का क्रम स्वर लहरी को नियंत्रित कर देता है। अल्प प्रयास में ही उन्हें गाया जा सकता है। वाल्मीकीय रामायण के सदृश वृहद प्रबन्ध काव्य प्रारंभ से ही गाने की वस्तु थी। फिर भी नाटकों मे गाने के लिए आर्या तथा अन्य मात्रिक छंदों का उपयोग यही सिद्ध करता है कि मात्रिक छंदों का गाना अपेक्षाकृत सरल होता है। आर्या के चतुर्मात्रिक गण सहज ही तिताला, चौताला अथवा ऐसे तालों की लय पर बैठ जाते हैं जिनके दो मात्रिक विभाग हों।

संभव है हिन्दी में मात्रिक छन्दों के प्रचलन होने का कारण गीति की परम्परा हो। आरम्भ से ही उसमें गीतों की प्रमुखता रही है। वीर गाथाएँ गाई जाती रही है। रासो के गाये जाने का उल्लेख मिलता है।[३] आल्हा-ऊदल का गान आज भी होता है। दोहा दूहा, (दोहक) और चौपाई भी संगीत की ही वस्तु थे। यह परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश से आई है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के १६वे और २६वें अध्याय में गेय छंदों के अधिकांश उदाहरण प्राकृत भाषा से लिए गए हैं। जिनमें १६, २९, ३०, ३१ आदि मात्राओं के छंद हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मात्राओं के यूथों का आवर्तन संगीत का उपयोगी अंग हो गया था।[४] संगीतात्मक सुविधा के लिए एवं उच्चारण के अनुकूल संस्कृत भाषा में प्रचलित लघु गुरु के नियम प्राकृत और अपभ्रंश

---

१. तालः काल क्रिया मानम्।

—संगीत सुदर्शन, पृ० १६१

२. छंद प्रभाकर, पृ० ३

३. गायो हो रास सुणे सब कोइ।
सांभल्यां रस गंगा फल होइ॥

—वीसलदेव रासो, नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण १९२२ वि०, पृ० ५

संगीत रत्नाकर में रासक (रासो) का लक्षण इस प्रकार लिखा है :
यो झोम्बऽगतं लक्ष्म गमकस्थानकेर्विना॥
भजते रासकः सोऽयं रासतालेन गीयते॥
गणैर्वर्णैश्च मात्राभिः केचिदेनं त्रिधा जगुः॥ १७५॥

—संगीत रत्नाकर, प्रबन्धाध्याय, पृ० ३०४

४. संशोधनने मार्गे, देशी ढालनां गीतों पदों कडवांनां मूल, पृ० ७७-७८

में अनेक स्थलों पर शिथिल कर दिए गए हैं।[१]

जयदेव ने गीत गोविन्द की रचना संभवतः प्राकृत और अपभ्रंश के गीतों से प्रेरणा लेकर की होगी। उनके लगभग समसामयिक शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर में अनेक देशीय भाषाओं के गीतों की चर्चा की है जो देश के एक कोने से दूसरे कोने तक अनेक स्वरों और तालों में गाये जाते थे। सिद्धों और नाथपंथियों ने उन्हीं लोकगीतों के आधार पर सम्भवतः वाणियों और शब्दों की रचना की होगी जो उनके सिद्धान्तों के प्रचार में सहायक रहे होंगे। चंडीदास और विद्यापति ने भी उनका अनुसरण किया था। हिन्दी प्रदेश के ज्ञानमार्गी निर्गुणी साधक रमते जोगी थे। वे कम पढ़े और अधिक गुने हुए संत अनेक भाषाओं के मेल से अपनी वाणियों को बचा नहीं सकते थे। इसीलिए उनके साहित्य में भाषा का कोई स्थिर रूप नहीं मिलता।

वैष्णव आन्दोलन के फलस्वरूप श्रीमद्भागवत और दूसरे संस्कृत ग्रंथों का प्रणयन अनेक पंडितों के द्वारा लोकभाषा में होने लगा। स्वयं वल्लभाचार्य ने कई बैठकों में भागवत की कथा कही थी। उस समय गुजरात से लेकर बंगाल तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत में श्रीमद्भागवत की चर्चा हो रही थी। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय की स्थापना से कम से कम वृन्दावन और उसके आसपास के स्थानों में नित्य उसके कथा प्रसंगों पर वार्ताएँ होती रही होंगीं। गौडीय सम्प्रदाय में भी भागवत कथा का प्रचार हो रहा था। षडगोस्वामियों में रघुनाथ भट्ट गोविन्द जी के मंदिर में संगीत मय स्वरों में भागवत की कथा सुनाया करते थे। अतः साहित्य के निर्माण पर उसका प्रभाव पड़ना नैसर्गिक ही था। प्रौढ़ सिद्धान्त और साहित्य के अद्‌भुत ग्रंथ भागवत का आश्रय लेकर पद की रचना करने वाले भक्तों ने उससे ध्वनि, रस, अलंकार और वक्रोक्ति के नाना रूपों को ग्रहण कर उच्चश्रेणी का विकसित साहित्य निर्मित किया है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता में एक प्रसंग है कि श्री वल्लभाचार्य ने सूरदास को भागवत की कथा सुनाई थी जिसके बाद उनके हृदय में दास्य भक्ति से ऊपर रसमयी भक्ति की भावना स्फुरित हुई थी।[२]

सधुक्कड़ी अव्यवस्थित भाषा और रचना से वैष्णव पदों की तुलना करने पर हमें बड़ा अन्तर लक्षित होता है। उनके बीच की कड़ियों का अनुसंधान अभी तक नहीं हो पाया है। इन कड़ियों का मिलना दुर्लभ भी है, क्योंकि हिन्दी साहित्य का सृजन सीधे संसकृत साहित्य के आधार पर हुआ है। केवल भाषा और शैली को ही स्वभावतः अपभ्रंश के विकसित रूप से ग्रहण किया गया है। वैष्णव सम्प्रदायों को इस प्रकार के साहित्य के निर्माण में प्रमुख हाथ रहा है। नन्ददास कृत नाममाला तथा अनेकार्थ मंजरी से भी इसी विचार की पुष्टि होती है। उन्होंने उनकी रचना वैष्णव समाज को संस्कृत पदावली से परिचित कराने के लिए की थी।[३]

---

१. ऋजुलिपौ भ्रे ष्के ष्ये च रहोर्योगे स वा लघुः॥
ए ओइ हिं पदान्ते वा प्राकृते लघवो मताः॥
पदमध्येऽप्यपभ्रंशे हुंहे ए ओइमित्यमी॥

—संगीत रत्नाकर, प्रबन्धाध्याय, पृ० २८०-२८१

२. 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', सूरदास गऊघाट ऊपर रहते तिनकी वार्ता, पृ० २७४-२७५

३. समुझि सकत नहिं संसकृत, जान्यौ चाहत नाम।

पद और राग

पदों के साथ प्राय: किसी न किसी राग अथवा रागिनियों (जिन्हें राग की ही संज्ञा प्राप्त हो चुकी है) का उल्लेख होता है। प्रश्न यह है कि जब गीति ताल के साथ ही सम्बद्ध है तब उनका ही केवल उल्लेख क्यों नहीं होता। प्रत्येक राग की अनेक तालें ही सकती हैं और अनेक रागों की एक ताल हो सकती है। संभवत: गीतों की लय से ताल का ज्ञान कुछ सरलता से हो सकता है, किन्तु उचित रागों का निश्चय कुशल भावुक कलाकार का ही कार्य है। यह कहा जा सकता है कि राग आह्निक और आर्त्विजीन आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। अष्टयाम सेवा और ऋतूत्सव के अनुकूल इनका संकेत पदों में किया गया है। यहाँ समस्या यह है कि जबकि प्रत्येक प्रहर में अनेक राग गाये जा सकते हैं, किसी विशेष पद के साथ विशिष्ट राग क्यों जोड़ दिये गये हैं? अनेक समयानुकूल रागों को भक्तों ने बिल्कुल त्याग सा दिया है। उदाहरणत: वागेश्वरी, कामोद, श्रीभीमपलासी, कलिगड़ा, भूपाली आदि में कदाचित ही कोई पद रचे गए हैं। कुछ रागों का नगण्य प्रयोग हुआ है जैसे भैरवी, हमीर, मालकौस, जैजैवंती आदि। अत: पदों के साथ रागों के उल्लेख के दो कारण स्पष्ट रूप से अनुमानित होते है। प्रथम सामान्य कारण यह है कि किसी गीति को उसके रचयिताओं ने जिस राग में प्रारम्भ में गाया था वह उसके साथ रूढ़ हो गया है। सम्प्रदायों में उसे उन्हीं स्वरों में गाने की परम्परा चली आ रही है। वैदिक ऋचाओं की तरह उनकी भी स्वर लहरी अपरिवर्तनीय है।

दूसरा कारण अधिक गंभीर और ध्यान देने योग्य है। रागों की उत्पत्ति सप्त स्वरों और उनके विकारों के मेल से होती है। संगीतशास्त्रियों ने बाइस बोध्यमान श्रुतियों का पता लगाया है और उन्हीं से उन शुद्ध और विकृत स्वरों का निर्धारण किया गया है। स्वरों के कोमल और तीव्र होने का अर्थ होता है पूर्वापर श्रुति नाद। आधुनिक भारतीय संगीतज्ञ केवल बारह श्रुतियों का उपयोग कर रहे हैं।[१] सोलहवीं शताब्दी तक अवश्य ही अधिकांश श्रुतियों का उपयोग हो रहा था। उसी समय के लिये हुए अहोबल के संगीत पारिजात से उसका संकेत मिलता है।[२]

तिन लगि नंद सुमति जथा, रची नाम की दाम॥

—नंददास, मान मंजरी नाममाला, पृ० ६१

तथा

उचरि सकत नहि संसकृत अरु समुझन असमर्थ।
तिन हित नंद सुमति जथा भाख्यो अनेका अर्थ॥ —नंददास, अनेकार्थमंजरी, पृ० ९८

१. शास्त्रप्रवेश, भाग ४, पृ० २१। उस समय सातों स्वर अपने शुद्ध रूप में और रि, ग, ध तथा नि कोमल और म तीव्र रूप में प्रयुक्त होते हैं।

—वही, भाग २, पृ० ३-५

२. उसमें सारंग के लक्षण में अति तीव्रतम ग, तीव्रतर म, तथा ध एवं तीव्र नि का निर्देश मिलता है। पृ० ४९, कारिका ४०३। अन्यत्र अन्य श्रुतियों का भी नाम है। इसके अतिरिक्त उनका मत है कि—
द्वाविशति श्रुतीनां च व्यवहारप्रसिद्धये।
तासानि नामानि वदयेऽहं नारदीयानुसारतः॥ —पृ० ४

उन श्रुतियों की पाँच जातियाँ प्राचीन भारतीय संगीत शास्त्रियों ने स्वीकार की हैं। वे जातियाँ हैं, दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु और मध्य।[१] जिस जाति की श्रुतियों की अधिकता जिस राग में होती है वह वैसा ही प्रभाव उत्पन्न करता है।

यहाँ एक बात स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक राग में कोई न कोई स्वर वादी अर्थात सर्वाधिक प्रयुक्त तथा संवादी अर्थात उससे कम प्रयुक्त हुआ करते हैं। शेष स्वर अनुवादी अथवा मूर्छना के लिए उपयुक्त होते हैं। इसलिए वादी एवं संवादी स्वरों के अनुकूल भी प्रभविष्णुता में अंतर पड़ जाएगा। कालानुसार रागों के लक्षण में अंतर पड़ता गया है।[२] षडज का आरंभ प्रथम श्रुति से हो अथवा चतुर्थ श्रुति से इसके विवाद में पड़ना यहाँ अपेक्षित नहीं है किन्तु उसके कारण गाने के प्रभाव में अवश्य अंतर पड़ जायेगा। इसलिए वैष्णव पदों के साथ संयुक्त रागों के अपेक्षित स्वरूपों के ज्ञान के लिए वर्तमान संगीत पद्धति से नहीं वरन् १५वीं से १७वीं शताब्दी के बीच प्रचलित पद्धति से विचार करना उचित होगा। संभवतः उस समय ध्रुवपद का ही प्रचलन विशुद्ध भारतीय संगीत में अधिक था, जिसका संकेत कृष्णदास अधिकारी की वार्ता के एक प्रसंग में मिलता है जिसमें खयाल और टप्पा की हीनता सूचित

---

१. दीप्ताऽऽयता च करुणा मृदुर्मध्येति जातयः॥
श्रुतीनां पंच तासां च स्वरेष्वेवं व्यवस्थितिः॥

—संगीत रत्नाकर, स्वराध्यायः, पृ० ४१

तथा
दीप्तेति चाऽयताख्येति करुणेति मृदुस्त्विति॥
मध्येतिज जातयस्तचत्स्वरस्श्रुति संख्यया॥

—संगीत पारिजात, पृ० ५

२. उदाहरण के लिए विलावल रागिनी के लक्षण को देखिए :
विभाषा ककुभे भागवर्धनी तारमन्द्रगा॥
धैवतांशग्रहन्यासा गापन्यासा रिवर्जिता।
धनिभ्यां गमपैर्भूरिवैराग्ये विनियुज्यते॥
तज्जा वैलावली तारधागमन्द्र समस्वरा॥
धाद्यन्तांशा कम्प्रषड्जा विप्रलम्भे हरिप्रिया॥

—संगीत रत्नाकर, रागविवेकाध्याय, पृ० २०५

तथा
वैलावल्यां गनितीव्रौ मूर्छना चाभिरुद्गता॥
आरोहै मनिहीनायाभंशः षडजो बुधैस्मृतः॥
अवरोहै ग वर्जायां क्वचिद्गान्धार मूर्छना॥

—संगीत पारिजात, पृ० ५०

शास्त्रप्रवेश, भाग १, पृ० १५ में लिखा है कि 'यह राग सम्पूर्ण है। इस राग में सब स्वर शुद्ध हैं वाद्री स्वर धैवत और संवादी स्वर गान्धार है।

की गई है।[१] प्राचीन संगीत शास्त्र में रागों के साथ रसों का भी वर्णन मिलता है और वह उल्लेख संगीत पारिजात में भी अनेक स्थलों पर हुआ है। संभव है कि पदों के साथ रागों का निर्देश अपेक्षित भक्तिपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने के लिए होता हो। यह निर्विवाद है कि उन उच्च भक्त कवियों में अधिकांश संगीत में पारंगत थे। उन्होंने अवश्य ही श्रुति साधना कर विशेष पदों के लिए विशेष रागों को चुना होगा।

पद साहित्य के अध्ययन से उसकी कुछ विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। भक्तों के कर्णमधुर रागिनियों की ओर अधिक रुचि दिखाई है। परुष रागों में उन्होंने बहुत कम पद रचे हैं। दूसरी बात है कुछ विशेष रागों की ओर उनका अत्यंत मोह। लगभग साढ़े छः सहस्र राग युक्त पदों में लगभग बारह सौ पद केवल सारंग के देखने को मिले हैं।[२] सारंग के अनन्तर फिर विलावल प्रिय रहा है जिसके लगभग ९०० पद प्राप्त हुए हैं। उनके बाद क्रमशः गौरी, धनाश्री, मल्हार (मलार) कान्हरा, रामकली, देवगंधार, विहागरा, केदारा, आसावरी, वसंत, नट, सोरठ, कल्याण, विहाग, मारू, काफी, भैरव तथा ईमन राग का स्थान है। ये सभी बीस राग मिलाकर लगभग नब्बे प्रतिशत वैष्णव पदों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बाकी दस प्रतिशत में लगभग पचास वैष्णव राग स्वीकृत हैं। उनमें टोडी, आड; अड़ानो, ललित, विभास, जैत श्री, पूर्वी, सूहो तथा मालव प्रमुख हैं। १८वीं शताब्दी और उसके बाद के कवियों पर मुसलिम दरबारी रागों और गान पद्धति का प्रभाव पड़ने लगा था। वे गजल, रेखता, करखा और पंजाबी रागों में माझ, हैला, बरवा आदि रागों का उल्लेख करने लगे थे। आगे चलकर १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कव्वाली, ठुमरी, दादरा, कजली आदि की भी सृष्टि वे करने लगे। पारसी नाटक कम्पनियों के प्रचार से प्रभावित होकर बाद में कुछ उनकी नकल में भजन आदि लिखे गए हैं।[३]

कृष्ण भक्तों ने विभिन्न रागों में पदों की इतनी अधिक रचना की है कि साम्प्रदायिक साहित्य उन्हीं का व्यंजक हो गया है। उन्होंने न केवल प्रचलित रागों को ही अपनाया अपितु

---

१. ता पाछें नृत्य भयो गान भयौ बापै कृष्णदास बहुत रीझैं सो रुपैया सत एक दिये तब वा वेश्या सों कह्यौ जो तेरौ गान हू आछौ और नृत्यहूं आछो परि हमारो सेठ है सो तेरे ख्याल टप्पा ऊपरो रीझेगो नाहीं ताते हों कहों सो गाइयौ। ता पाछे कृष्णदास ने एक पूरबी राग में पद करिके सिखायौ।

—चौरासी वैष्णव की वार्ता, कृष्णदास अधिकारी तिनकी वार्ता, प्रसंग ५, पृ० ३५४

२. रागों का विवेचन पुष्टिमार्गीय पद संग्रह भाग १-३, सूरसागर, हित चौरासी, व्यासवाणी, अष्टयाम हित वृन्दावन दास कृत निम्बार्क माधुरी, सूरदास मदनमोहन की वाणी, मोहिनी वाणी गदाधर भट्ट की, वल्लभ रसिक की वाणी, माधुरी वाणी, भक्तिसागर और मुक्तिमार्ग के आधार पर किया गया है। आगे पदों के छंदों पर विचार भी उन्हीं का आश्रय लेकर किया जाएगा।

३. सरस सागर खंड १, ३ हरिश्चन्द्र सर्वस्व (भाग ५) व्रजविहार रंगीलाल कृत तथा अन्य छोटी बड़ी कीर्तन की पुस्तकें।

उनमें परिवर्तन कर अनेक नए रागों की सृष्टि भी की। उनमें से दो विशेष उल्लेखनीय हैं। सारंग का अतिमात्रा में उपयोग उन्होंने विशिष्ट स्वरों में किया जो वृन्दावनी सारंग कहलाया। इसी तरह से सूर की मलार नाम से भी एक राग का प्रचलन है।[१] उन्होंने कुछ रागों को बहुकालीन बना लिया है। उदाहरण के लिए सूरदास ने कान्हरा का उपयोग दिन में आंगन में घुटने के बल चलने के समय, सायंकाल घर लौटने के समय, चन्द्रमा का दर्शन करते समय आदि विभिन्न अवसरों पर किया है।[२] कुछ राग किन्हीं सम्प्रदायों अथवा कवियों को अधिक आकर्षित कर सके हैं। जैसे सूरदास ने विलावल, सारंग और धनाश्री पर विशेष बल दिया है, व्यास जी ने सारंग में अधिक पद लिखे हैं और चरणदासी सम्प्रदाय में सोरठ और काफी पर जोर है।[३]

ताल और छंद

काव्य में संगीतात्मकता रागों के निर्देश से नहीं वरन् ताल अथवा लय की साधना से उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक है कि छंद और ताल का साम्य निर्धारित किया जाए। संगीतज्ञ को सबसे बड़ी सुविधा ताल की लय को द्रुत, मध्य एवं विलम्बित किसी भी रूप में साधने की प्राप्त है। वह विलंबित लय में चतुस्त्र मात्रा तक और द्रुत लय में अठगुन तक धीमी या तेज ताल से गा बजा सकता है।[४] आवश्यकतानुसार वह स्वर विस्तार कर मात्रा की कमी पूरी कर लेता है और गुरु अक्षर को भी एक स्वर में समावेश कर सकता है। कवि अधिक से अधिक लघु को दीर्घ अथवा दीर्घ को लघु कर एक मात्रा का ही संतुलन कर सकता है। ऐसी स्थिति में गेय काव्य में पिंगल का पूर्ण निर्वाह करना कठिन हो जाता है। गायक भक्त उसकी अधिक चिन्ता करते भी नहीं थे। उनके पदों में छंदों के नियम पालन में कभी-कभी शिथिलता मिलती है।

---

१. शास्त्र प्रवेश, भाग ३, पृ० १५, राग विज्ञान, भाग ५, पृ० २०, २१ तथा संगीत सुदर्शन, पृ० १२४, १३५

२. सूरसागर, पृ० १४३, १५५ तथा १६१

३. हित हरिवंश के चौरासी पदों के सम्बन्ध में एक कवित्त है :

छै पद विभास माँझ सात हैं विलावल में,
टोडी में चतुर आसावरी में द्वै बने।
सप्त हैं धनाश्री में जुगल वसंत केलि
देवगंधार पंच दोय सरस सों सने॥
सारंग में षोडश है चार ही मलार एक
गौड में सुहायो नव गौरी रस में भनैं।
षट कल्याण निधि कान्हरे केदारे, वेद वानी
हित हरिजू की सब चौदह राग में गने॥

—हित चौरासी, सेवक वाणी, पृ० ४३

४. संगीत, ताल अंक, १९४७ ई०, पृ० ९२-९८

तालों का लक्षण मध्य लय की मात्रा के अनुसार निश्चित किया जाता है। आजकल ६ मात्रा से लेकर १६ मात्रा तक के ताल व्यवहार में लाए जाते हैं। जिस प्रकार श्रुतियों का प्रयोग घटते-घटते बाइस से बारह रह गया है, वैसे ही प्राचीन ९६ मात्रा तक की बड़ी तालों का विनाश होकर छोटी तालों प्रयुक्त हो रही हैं। किसी भी गाने के तालों की आवृत्ति होती है और उसके सम का ध्यान रखना पड़ता है। वैष्णव गीतों में सात मात्रिक रूपक ताल से लेकर १६ मात्रिक तिताला तक काम में लाए जाते हैं।[१] किसी भी गीत में संगीत तत्व तभी माना जा सकता है जब उसमें किसी भी ताल का आवर्तन इस प्रकार हो जिसमें शब्दों के रूपों में विकृति कम से कम होने पाए। कम से कम ताल की मात्रा की पूर्ति जिस अक्षर पर होती हो, वह इस प्रकार गुरु न हो कि उसकी एक मात्रा तो पूर्व ताल के अंत में और दूसरी अग्रिम ताल के प्रथम मात्रा में पड़े।[२] पंक्ति के अंत में कुछ मात्राओं की कमी पड़ना आलाप या तान के लिए आवश्यक होता है। उससे गान में आलंकारिकता आती है। कोई भी छंदोबद्ध कविता ताल में बैठाई जा सकती है, किन्तु जब वह छंद की लघु गुरु मात्रा के अनुरूप गेय हो जाती है उसे सुन्दर गीति कहा जाता है। वैष्णव भक्त सीधे सरल ढंग से सुबोध स्वरों में संभवतः कीर्तन भजन करते रहे होंगे। इसलिए उनके पद अनायास ही संगीतात्मक हो उठे हैं। प्रत्येक आर्य भाषा-भाषी गायक इन साम्प्रदायिक कवियों के पदों को सदा गाने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।

संगीतात्मक लय एवं स्वर विस्तार की सुविधा के कारण वैष्णव पद छंद शास्त्र का उल्लंघन करते हों यह बात नहीं है। अच्छे गीत के दश गुणों में छंदोबद्धता भी एक है।[३] कुशल रचयिता ताल और छंद दोनों का ध्यान रखता है। संगीत रत्नाकर ने उन्हें वाग्येकार की संज्ञा दी है और उनके गुणों में पिगल, साहित्य शास्त्र, लोक व्यवहार आदि का ज्ञाता होना आवश्यक बताया है।[४] हिन्दी पदों के रचयिता भी उन गुणों से शून्य नहीं थे। उन्होंने प्रायः

---

१. व्यास वाणी और अष्टयाम में निम्नलिखित तालों के नाम मिलते हैं :
रूपक ७ मात्रा, झपताल १० मात्रा, चरचरी ताल १० मात्रा, मूलताल १० मात्रा, चौताला १२ मात्रा, इकताल १२ मात्रा, आड ताल १४ मात्रा, जयति ताल १४ मात्रा, आसावरी १५ मात्रा, अठताल और तिताला १६ मात्रा।

२ अपभ्रंश मीटर्स, एच०डी० वेलंकार, पृ० १०६७

३. व्यक्तं पूर्णे प्रसन्नं च सुकुमारमलंकृतम्॥
समं सुरक्तं श्लक्ष्णं च विकृष्टं मधुरं तथा॥
दशैतै स्युर्गुणा गीते तत्र व्यक्तं स्फुटैः स्वरैः॥
प्रकृतिप्रत्यैश्चोक्तं छन्दोरागपदैः स्वरैः॥ —संगीत रत्नाकर, प्रबंधाध्याय, पृ० ३५३

४. वांगातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते॥
वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्रोयकारका॥
शब्दानु शासनज्ञानमभिधानप्रवीणता॥
छन्दः प्रभेदवेदित्वमलंकारेषु कौशलम्॥
रसभावपरिज्ञानं देशस्थितिषु चातुरी॥
अशेषभाषा विज्ञानं कलाशास्त्रेषु कौशलम्॥ —वही, प्रकीर्णकाध्याय, पृ० २४३-२४४

पिंगल और रस आदि का निर्वाह किया है। कुछ भक्त गायक पहले थे और कवि बाद में। उनके काव्य में अवश्य ही पिंगल की उपेक्षा हुई है। उनमें स्वामी हरिदास एक थे। सूरदास मदनमोहन और कृष्णदास अधिकारी भी गायक थे पिंगल के निर्वाहक नहीं।

प्रकाशित पद साहित्य में बहुधा उपर्युक्त कथन का विरोध प्रत्यक्ष होता है। उसके दो कारण हैं। प्रथम है प्रामाणिक सम्पादित संस्करणों का अत्यंत अभाव। फलस्वरूप उनमें अनेक अवांछित भूलें दिखाई पड़ती हैं। उसमें ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व हो जाना साधारण बात है। पाठ की अशुद्धि किसी पंक्ति के छोटे अथवा बड़े हो जाने में सहायक हुई है। यहाँ पर कुछ उदाहरण यथेष्ट हैं :

छीत स्वामी का एक पद अष्टछाप पदावली में है :

मेरी अँखियन के भूषण गिरिधारी।
बलि-बलि जाऊँ छबीली छवि पर, अति आनंद सुतकारी।
परम उदार चतुर चिन्तामणि, दरस परस दुखहारी।
अतुल सुभाव तनक तुलसी दल, मानव सेवा भारी।
छीत स्वामी गिरधरन विशद यश, गावत कुलनारी।
कहा वरण गुण गाथ नाथ के, श्री विट्ठल हृदय विहारी।[1]

टेक को छोड़कर यह पद २८ मात्रा का सार छंद है, किन्तु रेखांकित स्थलों पर अशुद्धि के कारण पंक्तियाँ २६ से २९ मात्रा की हो गयी हैं। यही पद अष्टछाप परिचय में इस प्रकार है।

मेरी अँखियन के भूषण गिरिधारी।
बलि-बलि जाऊँ छबीली छवि पर, अति आनंद सुखकारी।
परम उदार चतुर चिंतामनि, दरस-परस दुखहारी।
अतुल सुभाव तनक तुलसी दल, मानत सेवा भारी।
छीत स्वामी गिरधरन विसद जस, गावत हैं कुल चारी।
कहा बरन गुन गाथ नाथ के, श्री विट्ठल हृदय विहारी।[2]

इनमें अशुद्धियों का दोष नहीं हैं। अंतिम पंक्ति में श्री शब्द केवल सम्मान के निमित्त साम्प्रदायिक व्यक्तियों ने जोड़ लिया है।

इससे भी अधिक दर्शनीय कुंभनदास का एक पद है जिसके दो पाठों में बहुत अधिक अंतर है :

हमारो दान दे री गुजरेटी।
नित उठित आवत जात चोरि दधि बेच, आज अचानक भेंटी।

---

१. **अष्टछाप पदावली, पृ० २१०**
२. **अष्टछाप परिचय, पृ० २१३**

अति सतरात कैसे छूटेगी। बड़े गोप की बेटी।
कुंभनदास गिरधरन लाल सों, भुज ओढ़नी लपेटी।[१]
और

हमारो दान देउ गुजरेटी।
बहुत दिना चोरी दधि बेच्यो, आजु अचानक भेंटी।
अति सतराति कहा करि हौ तुम, बड़े गोप की बेटी।
कुंभनदास प्रभु गोवर्धन धर, भुज ओढ़नी लपेटी।[२]

द्वितीय पाठ में सार छंद का लक्षण पूर्णतः घटित होता है। अनेक स्थलो में पढ़ने मात्र से पाठ की अशुद्धियाँ निकाली जा सकती हैं। अष्टछाप पदावली में २७ मात्रा के सरसी छंद में एक पद की पंक्ति है—

माखन मिश्री दूध मलाई मेवा-मेवा परम रसाल।[३]

इसमें मेवा का द्वित्व अनावश्यक है जिससे पूरे पद की छंदोबद्धता समाप्त हो जाती है। नागरीदास के एक २४ मात्रिक छंद में इसी तरह की तीन मात्राएँ अधिक हो गई हैं :

सरस नागरीदास सरस रस सेवत सरस सुजान।[४]

इसमें से द्वितीय सरस शब्द निकाल देने पर न केवल छंद ही शुद्ध हो जाता है 'सरस नागरीदास रस' में यमक की भी सृष्टि हो जाती है। साम्प्रदायिक गुरु और सेव्य के प्रति श्रद्धा भाव की कामना नाम के आगे श्री अथवा जै श्री के संयोग का कारण है। राधावल्लभी और हरिदासी सम्प्रदाय में विशेष रूप से यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।[५] छंद का परिज्ञान करने के लिए उनका ध्यान रखना चाहिए। वस्तुतः छंद और ताल का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विशुद्ध पाठ की महती आवश्यकता है।

पाठ शुद्धि के उपरान्त लघु गुरु के कुछ नियमों का ज्ञान अनिवार्य है। उनका निश्चय उच्चारण की सुविधा के अनुसार होता है। संस्कृत भाषा में दीर्घ स्वर युक्त, अनुस्वार युक्त, विसर्ग युक्त एवं संयुक्त व्यंजन का पूर्व वर्ण गुरु माना जाता था। जैसा कहा जा चुका है प्राकृत और अपभ्रंश में गुरु वर्ण को स्थानानुसार लघु मानने का प्रचलन था। व्रज भाषा में ए, ऐ, ओ, औ के ह्रस्व रूप मिलते हैं। जिनमें लिपि भेद नहीं किया जाता है।[६] कुछ संयुक्त स्वर मिलते हैं, जिन्हें एक अक्षर मानना चाहिए दो भिन्न स्वर नहीं।[७] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने निम्नलिखित

---

१. अष्टछाप पदावली, पृ० १५५
२. अष्टछाप परिचय, पृ० ७०
३. अष्टछाप पदावली, पृ० २१९
४. निम्बार्क माधुरी, पृ० २७१
५. अष्टयाम, व्यासवाणी, हितहरिवंश सेवक वाणी तथा निम्बार्क माधुरी
६. व्रजभाषा व्याकरण, पृ० ४७ तथा हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ९९
७. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ११०

व्रजभाषा के संयुक्त स्वर माने हैं :

अओ, अइ,. अऊ, आइ, आउ, आओ (ह्रस्व ओ)

इअ, उअ, एओ, (दोनों ह्रस्व) एओ (ह्रस्व ओ)

ओइ (ह्रस्व ओ) ओउ तथा ओओ।[१]

काव्यों में सर्वाधिक ओउ का प्रयोग होता है, जैसे दोउ, कोउ, होउ आदि। इन शब्दों को तीन मात्रिक न मानकर दो मात्रिक गुरु मानना चाहिए। उदाहरण के लिए चतुर्भुजदास के ३२ मात्रा के एक पद की अर्द्धाली है—

अरस-परस दोउ रीझि रिझावत।[२]

इसमें दोउ को दो ही मात्रा का शब्द मानना पड़ेगा अन्यथा छन्दोभंग होगा ही और साथ ही तिताला के विभाग में भी एक मात्रा बढ़ जायेगी। बिहारिनदास के एक सार छंद में इसी तरह चार मात्राओं का अंतर पड़ जाएगा।

कोउ स्वामी कोउ साहिब सेवक कोउ चाकर कोउ चेरा।[३]

हिन्दी में संयुक्त अर्द्ध अनुनासिक व्यंजनों को अनुस्वार के रूप में लिखने का प्रचलन है। प्राय: स्वरों के साथ मिलकर वे विकल्प से अनुनासिक हो जाते हैं, जैसे अंग और अँग, इन्दु और इँदु, बिन्दु और बिंदु आदि को तरह से उच्चरित होते हैं। नन्दनन्दन का प्रयोग सदा नँद-नंदन के रूप में ग्रहीत हुआ है। कवियों ने भी कभी-कभी अपने नाम के अनुस्वार, दीर्घ स्वर, अथवा संयुक्त व्यंजन को ह्रस्व माना है। छीतस्वामी ने छित स्वामी, चतुर्भुजदास ने चतुभुजदास और गोविन्द स्वामी ने गोविंद स्वामी उच्चारण को छंद के लिए सदा उपयुक्त समझा है। परमानन्द दास, हित वृन्दावन दास, हित हरिवंश ने अनुस्वार को विकल्प से कभी लघु कभी गुरु मान कर प्रयोग किया है।

ह वर्ण के साथ न या म का संयोग सदा एक मात्रिक होता है। वे न और म के महाप्राण रूप माने जाते हैं।[४] उनके पूर्व का स्वर या व्यंजन दीर्घ नहीं होता, जैसा कन्हैया, जुन्हैया, अन्हाय, तुम्हारा, कुम्हार आदि। इनके अतिरिक्त अर्द्ध स्वर य के साथ जब कोई व्यंजन मिलता है, शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों को छोड़ कर, वह भी व्रजभाषा काव्य में लघुवत माना जाता है। यह प्राय: भूतकालिक कृदंत युक्त क्रियाओं के रूपों में होता है जैसे सक्यो, रख्यो, बच्यो, सज्यो, लिपट्यो, बढ्यो, पड्यो, सुमत्यो, भ्रम्यो, धर्‌यो, मिल्यो, रह्यो आदि। वर्तमान आज्ञार्थ बहुवचन्न मध्यम पुरुष के रूपों में भी उनका प्रयोग होता है जैसे पत्याहु। इन सबमें संयुक्त वर्ण से पूर्व का अक्षर गुरु नहीं होता। यथा सरसी छंद में—

---

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ११२-११३

२ अष्टछाप परिचय, पृ० २२४

३. निम्बार्क माधुरी, पृ० २४३ मूल पाठ अशुद्ध है क्योंकि उसमें कोऊ शब्द है। उसका शुद्ध पाठ ही यहाँ दिया गया है।

४. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १२०-१२१

अलख अनंत अमित महिमाबल, कटि कसि रख्यो तुनीर।[१]

अथवा ३७ मात्रिक हंसाल छंद में—

भाव ही कह्यो मन भाव दृढ़ राखिबो

दै सुख तुमहिं सँग रंगरलि हों।[२]

अथवा दोहे में—

खेल बढ़्यौ अति चौगुनी आनंद भयो भारी।[३]

अथवा तीस मात्रिक छंद में—

होते पतित अजित इन्द्री रत, तव हम कछु समत्यो न लही।[४]

अथवा २८ मात्रिक सार छंद में—

यमुना पुलिन रसिक रस सागर रास रच्यौ मन माही।[५]

संपादन की भूलों और उपर्युक्त लघु गुरु के नियमों पर दृष्टि रखते हुए पद साहित्य के छंदों का अध्ययन करने पर अधिकांश पदों में कोई न कोई छंद अवश्य दिखलाई पड़ता है। नि:संदेह अनेक पद ऐसे हैं जिमनें छंदों से अधिक लय पर ही ध्यान दिया गया है, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। पद साहित्य के विचारकों ने उनमें छंदों का अभाव बतलाया है यह उनकी भूल है। बाद के कवियों ने छंदों पर अधिक ध्यान दिया है, ताल पर कम। ताल-गणों की सृष्टि ४, ५, ६ और ७ मात्राओं अथवा उनके अनेक आवर्तनों से होती है। इसलिए पदों में ऐसे छंद प्रचुर परिमाण में मिलते हैं जिनकी प्रथम अर्द्धाली में १२, १४, १५, १६ अथवा २० मात्राएँ हों। ९, ११, १७, १९ मात्राओं की पूर्व अर्द्धालियों का प्रयोग कम है। विषम छंदों में १३ मात्राओं वाले दोहे अपवाद स्वरूप हैं, क्योंकि उनकी गायन परम्परा शताब्दियों पूर्व से चली आ रही थी। गाने के लिए उसके स्वरों का विस्तार तिताले के अनुरूप १६ मात्राओं का कर लिया जाता है।

प्रत्येक छंद के उदाहरणों से कलेवर की वृद्धि करना यहाँ अवांछनीय है। केवल वैष्णव पदों में प्रयुक्त छंदों के नाम और लक्षण दे देना ही यथेष्ट है। पदों की आरम्भिक टेकों का विचार छंद निर्धारण में नहीं करना चाहिए।[६] छोटे छंदों में चौपई (१५), चौपाई (१६), पदाकुलक (१६), चन्द्रायण (११, १०), कुंडल (१२, १०), हीर (१२, ११), उपमान (१३, १०), दोहा (१३, ११) तथा शोभन (१४,१०) का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। चौपई, चौपाई

---

१. सूरसागर, पृ० ९०

२. वही, पृ ४८८

३. माधुरी वाणी, पृ० ९१

४. निम्बार्क माधुरी, बिहारीदास, पृ० २४१

५. हित चौरासी-सेवक वाणी, हितहरिवंश, पृ० ३१

६. यहाँ कोष्ठ में मात्राएँ यति सहित दी गई हैं।

और पदाकुलक में भेद इन काव्यों में नहीं किया गया है। वे एक दूसरे में प्रायः मिले हुए प्रयुक्त होते हैं। दिंडी (९, १०), १०, ११ मात्रा के छंद, ११, ११ मात्रा के छंद १२, ९ मात्रा के छंद, सुखदा (१२, १०), राधिका (१३, ९), दिगपाल (१२, १२), १२, १३ के एक छंद और सुजान (१४, ९) का उपयोग अल्प हुआ है। बड़े छंदों में सबसे अधिक आकर्षक विष्णुपद (१६, १०) और उसके भेद, सरसी (१६, ११), सार (१६, १२) ताटंक और उसके भेद लावनी (१६, १४), वीर (१६, १५), समान और मत्तगयंद सवैया के रूप (१६, १६), २०, १६ मात्राओं का एक भेद, हंसाल (२०, १७) और हरिप्रिया (१२, १२, १२, १०) रहे हैं। इनमें भी भावनाओं का प्रवाह और काव्य कौशल विष्णुपद, सरसी, सार, लावनी, वीर और सवैयों में खूब दिखलाई पड़ता है। १६ मात्राएँ संगीत की स्वर लहरी में सरलता से मेल खा जाती हैं। अतएव उनकी सर्वग्राह्यता नैसर्गिक है।

अन्य लम्बे छंदों में गीतिका या गीता (१४, १२), विधाता (१४, १४), विजया (२०, २०) तथा ऐसे छंद हैं जिनके नाम पिगल की पुस्तकों में प्राप्त नहीं हैं जैसे १३, १३ मात्रा; १५, १५ मात्रा; १५, १६ मात्रा; १६, १३ मात्रा; १६, १७ मात्रा अथवा १७, १६ मात्रा; १७, ११ मात्रा; १९, ११ मात्रा; २०, १९ मात्रा; २०, २३ मात्रा; और १२, १२, १२, ८ कुल ४४ मात्रा के छंद। वास्तव में गायक कवि इसकी चिन्ता नहीं करता कि उसकी रचना के लक्षण पूर्व प्रचलित हैं अथवा नहीं। वह तो नए और पुराने किन्हीं छंदों में अपनी लेखनी दौड़ाया करता है। वह बहुधा जोड़ घटा कर अथवा मिश्रण कर सर्वथा नवीन छंदों की उद्भावना करता रहता है।[१]

पद साहित्य में मिश्रित छंदों के उदाहरण भरे पड़े हैं। अधिकांश मिश्रण समान स्वरूप वाले छंदों में किया गया है। उनमें एक से लेकर सोलह मात्राओं तक अन्तर है। चार मात्राओं तक का उतार-चढ़ाव साधारण बात है। यहाँ भी १६ मात्राओं की विषम चरणवाली अर्द्धालियाँ प्रमुख हैं। विष्णुपद और सरसी, विष्णुपद और सार, सरसी और शोभन, सरसी और सार, सार और लावनी, सार और वीर, सार और सवैया तथा वीर और सवैया कहीं भी मिले-जुले मिल जाते हैं। सवैया और २३ मात्रिक छंद, सवैया और १६, १९ मात्रिक छंद, सवैया और १६, २० मात्रिक छंद, वीर और १६, १९ मात्रिक छंद, २३ मात्रिक और १६, २० मात्रिक सभी छंदों के विषम चरणों में १६ मात्राएँ हैं। अन्य मिश्रित छंदों में चन्द्रायण और कुंडल, २४ और २२ मात्रिक छंद, विजया और ४१ मात्रिक छंद आदि पदों में बिखरे हुए हैं।

एक प्रकार का विशेष छंद इन पदों में और मिलता है जिन्हें टेक वाले छंद कहा जा सकता है। किसी भी छंद के एक चरण अथवा दो चरणों के अंत में ८ से ११ मात्राओं की टेक लगा कर उनकी सृष्टि हुई है। उनका उपयोग सामूहिक हर्ष, अनुराग अथवा उत्सव के चित्रण में किया गया है। सूरदास ने इस तरह के कई प्रयोग किए हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने उल्लाला और चौपई के मिश्रित छंद में मात्रिक टेक लगा कर एक नया छंद निर्मित किया है—

---

१. **संशोधनने मार्गे, देशी ढालनां गीतों पदो कडवांनां मूल, पृ० ७९**

कंचन माट भराइकै रंग हो हो होरी।

सौंधे भरी कमोरी लाल रंग हो हो होरी।[१]

अथवा केवल उल्लाला में ८ मात्रिक टेक लगा कर यह छंद बनाया है—

यहि विधि हरि को घेरि रहीं मिलि झूमक हो।

ज्यों घेरी रही मधुमाली मिलि झूमक हो।[२]

चरणदास का एक पद है जिसमें उन्होंने मनमोहन के एक भेद (१४) और शक्ति (१८) के अंत में 'रस होरी हो' लगाया है—

निगुर्ण नित निधरि सरस रस होरी हो।

सखी री शील श्रृंगार संवारिए रस होरी हो॥

दुविधा भान निवार सरस रस होरी हो।

सखी री बहुरि न ऐसो बार सरस रस होरी हो।[३]

सूरदास ने दोहे के विषम चरण के अंत में दस मात्रा की टेक 'रंग भीजी ग्वालिनि' और सम चरण के अंत और टेक के बीच में 'नैन सलोन री' जोड़ कर सामूहिक गान का एक स्वरूप सम्मुख रखा है—

उमड़्यो मानुष घोष यों, रंग भीजी ग्वालिनि।

भवन रह्यो नहि कोइ, नैन सलोन री, रंग राची ग्वालिन।

डफ बाँसुरी सुहावनी, रंग भीजी ग्वालिनि,

ताल मृदंग उपंग नैन सलोनी री रंग राची ग्वालिनि।[४]

चौपई के दो चरणों अथवा दोहे के दो चरणों के अंत में भी टेक लगा कर कथा प्रवाह बढ़ाया गया है।

अन्य मुक्तक

कृष्ण भक्ति काव्य के पदों के अनन्तर दोहा, कवित्त और सवैया का स्थान है। सिद्धांत प्रतिपादन, उपदेश, श्रृंगार रस के विविध अंगों और अन्य अनुभूतियों के वर्णन में दोहे का सदा उपयोग होता रहा है। कवित्त और सवैया स्फुट विषयों को लेकर जिनमें श्रृंगार प्रमुख है, निर्मित होते हैं। प्रबंधात्मक रचनाओं को छोड़ कर उनका उपयोग ध्रुवदास ने राधाकृष्ण के रूप और विहार के स्फुट वर्णन में किया है।[५] उत्तर सत्रहवीं शताब्दी और उनके बाद के कवियों ने उनका अधिक प्रयोग किया है। उस समय सभी सम्प्रदायों में पदों के स्थान पर कवित्त और

---

१. सूरसागर, पृ० ५५३

२. वही, पृ० ५६५

३. चरणदास जी की वाणी, भाग २, पृ० १५३-१५४

४. सूरसागर, पृ० ५५२

५. ब्यालीसलीला, श्रृंगार सत लीला, पृ० ८८-१२३

सवैया का प्रचलन बढ़ गया था। नख सिख वर्णन, राधाकृष्ण विलास और सिद्धान्त निरूपण इन मुक्तकों में अच्छा बन भी सकता था। वे न दोहों के सदृश्य छोटे थे और न अधिक बड़े ही। कुछ भक्तों की रचनाओं में दोनों के लक्षणों का पालन भली भाँति नहीं हो पाया है। कुछ छन्दरहित पद्यों को भी कवित्त और सवैया की संज्ञा दी गई है।[१]

उनके अतिरिक्त कुंडलियाँ, छप्पय, चौबोला, अरिल्ल आदि छंदों में भी भक्तों ने अपने उद्‌गार प्रकट किए हैं। उनमें उनका हृदय अधिक रम नहीं पाया है। उनका प्रयोग बीच-बीच में अन्य छन्दों की एकरूपता में सुरुचि उत्पन्न करने के लिए ही प्राय: किया गया है। भगवत रसिक ने ८३ कुंडलियों में वैराग्य और सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराया है। वे अच्छे बन पड़े हैं।[२] इन सभी मुक्तकों में आत्मानुभूत भावपूर्ण काव्यों की न्यूनता दिखाई पड़ती है। वे या तो शुष्क सिद्धान्त से पूर्ण हैं अथवा पद साहित्य के भावों से आच्छादित।

दृश्य काव्य

हिन्दी साहित्य का यह दुर्भाग्य है कि उसके साहित्य में शताब्दियों तक नाटकों का अभाव रहा है। संस्कृत साहित्य में भी कृष्ण के व्रज जीवन के आधार पर रचित एकमात्र भास का बाल चरित्र नाटक ही प्राप्त है। कृष्ण के उत्तरजीवन काल की घटनाओं को विषय बना कर अधिक नाटक निर्मित हुए हैं। कंस-वध नाट्‌य कथा की वस्तु थी। इसका पता पतंजलि के महाभाष्य से चलता है, यह प्रथम प्रकरण में लिखा जा चुका है। रुक्मिणी परिणय और पांडवों के सहायक के रूप में उनका चित्रण बहुधा मिलता है।

हिन्दी में कृष्ण भक्ति को विषय बनाकर लिखे गए नाटकों में सबसे प्राचीन लछीराम का करुणाभरण नाटक है। वह १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दोहा चौपाई में लिखा गया है। उसकी भाषा व्रज की है।[३] इसमें सात अंक हैं जिनके नाम हैं : राधा अवच्छा, व्रजवासी नाम अवच्छा, सत्यभामा, राधा अवस्था, राधा मिलन, नित्य विहार और अद्वैकांक। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत चन्द्रावली नाटिका एक भाव प्रधान काव्यमय नाटिका है। उसका उद्देश्य कृष्ण के प्रति चन्द्रावली के अनुराग का चित्रण आदर्श भक्ति के रूप में करना है। उसमें नाटकीय तत्वों की बहुत न्यूनता है। इसी प्रकार की दूसरी रचना अम्बिकादत्त व्यास की ललिता और सूर्यनारायण व्यास की श्यामानुराग नाटिका है।[४] वस्तुत: भागवत के अनुसार कृष्ण चरित्र का प्रदर्शन एक भी हिन्दी नाटकों में नहीं हो पाया। जो कुछ लिखा गया है वह या तो एकांकी रूपकों में, जिन्हें कभी-कभी दृश्यों के स्थान पर अंकों में बाँटा गया है अथवा गीति नाट्‌य की शैली में।

---

१. उदाहरण के लिए देखिए निम्बार्क माधुरी, पृ० २७२-२७६, २८२-२८५ और भक्तिसागर पृ० २८०-८२, ४९८-५०४
२. निम्बार्क माधुरी, पृ० ३६८-७६
३. राजस्थान में हिन्दी में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग १, संख्या २१, तथा खोज रिपोर्ट, १९०० और १९०२ ई०
४. हिन्दी पुस्तक साहित्य, पृ० ३७

राधाकृष्ण के प्रेम को नाट्यकथा की वस्तु बनाकर लिखे गये दो एकांकी देखने को मिले हैं। व्रजजीवन दास के लिखे हुए प्रेम विलास में चार अंक चार दृश्य ही हैं। इसमें तीन पात्र हैं, राधा, ललिता और अंतिम दृश्य में कृष्ण। ललिता के उद्योग से कृष्ण विरिहणी राधा से मिलते हैं। मिलन के साथ ही उसकी समाप्ति भी हो जाती है। कृष्ण चरित्र का चित्रण उसमें नहीं है। राधाकृष्ण अथवा राधा का निर्माण श्री चतुरसेन शास्त्री ने कुछ वर्षों पूर्व ही किया है। इसके १४ लघु दृश्यो में ११ वर्ष से लेकर ८० वर्ष तक के राधाकृष्ण की प्रीति का चित्रण है। अनेक राजनैतिक कारणों से कृष्ण व्रज और राधा से वियुक्त होते हैं। राधा उनके वियोग में विक्षिप्त और व्याकुल रहती है और अंत में अन्धी होकर कृष्ण की गोद में शरीर का त्याग करती है। राधा के प्रति कृष्ण का प्रेम भी कम नहीं था, किन्तु वे पुरुष थे और राजनीति की कठपुतली। नाटकीय तत्व लाने के लिए मूल कथा में परिवर्तन लेखक ने किया है, जैसे कंसवध के बाद जब कृष्ण यदुवंश के राजा सिद्ध होते हैं, वृषभानु और उनके सम्बन्धी राधा का विवाह अन्य पुरुष से करा देते हैं और उसका निमंत्रण भी कृष्ण को देते हैं।[१] इस एकांकी में घटनाओं की गति बड़ी तीव्र है।

व्रज लीलाओं के आधार पर निर्मित होने वाले नाटकों में महारास नाम से दो रूपक मिलते हैं। कृष्ण की छद्म लीला को वियोगी हरि ने छद्योगिनी में प्रदर्शित किया है। बलदेव प्रसाद मिश्र ने मथुरा गमन के दृश्यों को नन्द विदा में उतारा है।[२] इनके अतिरिक्त अन्य नाटकों में मथुरा गमन के बाद की घटनाओं को ही कथावस्तु स्वीकार किया गया है। प्रभास मिलन नाटक छः अंकों में पूर्ण हुआ है। महर्षि नारद के उद्योग के फलस्वरूप प्रभास में राधा कृष्ण का मिलन वर्षो बाद होता है। नारद एक ओर तो कृष्ण को प्रभास में यज्ञ करने के लिए उत्साहित करते हैं और दूसरी ओर व्रजवासियों को वहाँ जाने के लिए तैयार करवाते हैं। न कृष्ण को पता है कि व्रजवासी वहाँ आ रहे हैं और न व्रजवासियों को पता है कि कृष्ण वहाँ उपस्थित हैं। संदेह होने पर व्रजवासी उनसे मिलना चाहते हैं और अधिक आग्रह करने पर द्वारपाल उन्हें बंदी बनाते हैं। उस समय भक्तवत्सल कृष्ण उनसे मिलने के लिए दौड़ पड़ते हैं। नाटक की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण नहीं है। अच्छे नाटक के गुणों का समावेश इसमें नहीं है।

उद्धव के प्रसंग को लेकर एक गीत रूपक का संग्रह उद्धव नाटक के नाम से मिलता है। उसमें भक्तों के संग्रहीत पदों आदि के बीच-बीच में गद्य का निवेश कर उसे नाटकीय स्वरूप दिया गया है। यशोदा और गोपियों का विरह वर्णन उसका विषय है। भाषा व्रज की है। कृष्ण के उत्तर जीवन काल से सम्बन्धित रुक्मिणी परिणय, सुदाम या श्रीदाम आदि कई नाटक प्राप्य हैं। कंस वध और श्रीकृष्ण के नाम के थियट्रिकल कम्पनी के भी नाटक मिलते हैं। इन पर पारसी नाट्य कम्पनियों और उर्दू शैली का पूर्ण प्रभाव है। इस प्रकार के अन्य नाटकों की तरह उनका भी स्तर निम्न कोटि का है।

---

१. राधाकृष्ण, दृश्य ४

२. हिन्दी पुस्तक साहित्य, पृ० ३७ तथा १११

अलंकार और उक्तिवैचित्र्य

अलंकार विधान

काव्य के प्राण रस की स्फूर्ति सद्य: हो नहीं पाती। श्रवण और अध्ययन के अनन्तर विभिन्न विषयक ज्ञान के आधार पर मन और बुद्धि के समन्वय के लिए काल के व्यवधान की अपेक्षा हुआ करती है। मध्य काल में विरसता के अवरोध के लिए शब्दों और अर्थों में चमत्कारोपादान की सामग्री प्रचुर मात्रा में निहित होना आवश्यक है। उसे अलंकार कहते हैं। उससे पूर्ण काव्यों में बलात आकर्षण, मनमोहकता, दीप्ति, कान्ति तथा भावावृद्धि, चाहे वह क्षणिक क्यों न हो, निश्चित होती है। वह शब्दों और अर्थों को इस प्रकार घेरे हुए है जैसे माया जगत् को और जगत् जीव और माया को। जिस प्रकार वर्णनों के लिए और काल के अनुसार विभिन्न सुमधुर ध्वनियों के लिए पृथक-पृथक छंदों की अनिवार्यता होती है उसी तरह अलंकारों की भी रसों के अनुकूल आवश्यकताएँ हैं। वीर रस में अर्थालंकार उतना उपयोगी सिद्ध नहीं होता जितना कि शब्दालंकार, उसका कारण यह है कि वीर सेनानी के पास इतना समय नहीं होता कि वह शब्दों और तज्जनित अर्थों एवं उनके अनेक सम्बन्धों की कल्पना कर उनके द्वारा कर्त्तव्य का निर्धारण करे। वह तो शब्दों की अव्यक्त ध्वनि पर ही तत्क्षण उसका निश्चय करता है। भक्तों की परम्परा में भी जब भक्त अपनी आराधना और उपासना से खीज उठता है, वह उत्साहपूर्ण ढंग से अपने आराध्य का उपालंभ करने लगता है। वहाँ भी शब्दालंकार ही अंगभूत वीर रस की उत्पत्ति करने में सहायक होते हैं।[१]

श्रृंगार संकल्पज हुआ करता है। उसकी अपात रमणीयता सदा दुर्बल हुआ करती है। मानसिक क्रियाओं के अविकल और निश्छल तारतम्य से श्रृंगार की पुष्टि होना ही उसके संकल्पज होने का चिह्न है। गुनना और गुन कर उसे मूर्त रूप देना अर्थ की सहायता पर ही आधारित है। अतएव सत्कवियों ने श्रृंगार रस के पोषण में अर्थालंकार का बाहुल्यता से प्रयोग किया है। भगवत् प्रमोद इनका प्रमोद है। उनकी भक्ति अलौकिक, भगवान अलौकिक, विषय और क्रियाएँ अलौकिक हैं। अत: अलंकार भी अलौकिक है। उन अलंकारों का ऐसा विशिष्ट चमत्कार है कि वह इन्द्रियों का आकुंचन मन की ओर और क्रमश: मन, बुद्धि, चित् तथा अहंकार का आकर्षण आत्मा की ओर करने का सफल प्रयास करता है। यही कारण है कि भक्त कवि कभी-कभी भाव, भाषा एवं शैली की उपेक्षा करते हुए भी उनकी उपेक्षा नहीं करते। यद्यपि वे कवि एक विषय का विभिन्न रूपों में वर्णन तो करते हैं, तथापि उनका

---

१. **नाथ सकौ तो मोहि उधारो।**
पतितन में विख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारो।
बड़े पतित पसंगहु नाहीं अजामिल कौन विचारो।
भाजै नरक नाम सुनि मेरो यमनि दियो हठ तारो।
छुद्र पतित तुम तारि रमापति जिय जु करौ जिन गारो।
सूर पतित को ठौर कहूँ नहिं हरि नाम सहारो।

—सूरसागर, पृ० १५

नियंत्रक अलंकार प्रायः एक होता है। अर्थालंकारों में जितने भी सम्भावना मूलक हैं उनका प्रचुर प्रयोग इस बात का साक्षी है।

पीयूषवर्ष जयदेव का भी मत है कि शब्दों के संकलन, विषयानुसार शब्दों का निर्वाचन और साथ ही शब्दों के अन्तर्हित सूक्ष्म अर्थो की अभिव्यंजना अलंकारों की देन है। राजशेखर ने कवि और काव्य के तीन भेद किए है—सहज, औपदेशिक एवं आहार्य। सहज और औपदेशिक कवि अपनी प्रखर प्रतिभा से जितनी रचनाएँ करता है, उनमें अनायास ही अलंकारों की स्फूर्ति होती है। भक्त कवियों ने सहज बुद्धि एवं प्रतिभा के आधार पर ऐसी रचनाएँ की हैं जिनका सम्बन्ध सहज स्नेह के अनेक भावों का अभिव्यक्तिकरण रहा है। यदि वे अलंकारहीन होतीं तो वे उनकी अपूर्णता का द्योतक होतीं।

वैष्णव परम्परा अपने दर्शन और उपासना की भाँति काव्य रचना में भी संस्कृत का अनुगमन करता है। भक्त बिना अपनी इच्छा और चेष्टा के किसी अज्ञात प्रेरणा द्वारा काव्य का निर्माण करता है।[१] उसका यह कारण है कि उसने अपने साम्प्रदायिक सिद्धांत इस प्रकार आत्मसात कर लिए हैं कि उसकी अपनी पृथक सत्ता विलुप्त हो जाती है। वह शरीर से निरपेक्ष होकर जीवन की सार्थकता का उपासना में ही पर्यवसान मानकर प्रबल वात्याचक्र के आवेश में अखिल कार्यो का सम्पादन करता है। जब साधारण वार्तालाप तथा वाद-विवाद में पर्यायोक्ति, विभावना, तुल्ययोगिता, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि अलंकार आते रहते हैं, तब भजनीय के प्रति भावोद्रेकता के उद्देश्य से उनका प्रयोग स्वाभाविक ही है। कभी-कभी माहात्म्यो के वर्णन और कथा मे अर्थालंकार देखने को मिलते हैं, जिनका होना साधारण प्रतिभा का काम नहीं है।

वाच्यार्थ की अपेक्षा लक्ष्य और व्यंग्य के सहारे अनेक अर्थालंकारों का उदय होता है। संत कवियों ने अंत:प्रेरणा से अपनी विशुद्ध भावनाओं के द्वारा, एक अलौकिक दिव्य चमत्कार की कल्पना कर और सभी दिशाओं में उसे अनुपम, अनन्वित और एक मान कर, अनेक केलियो के स्वरूप से कविता के भांडार को भरा है। उनमें व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ इतने घुलमिल गए हैं कि अनेक शब्द एवं अर्थ अलंकारों की शृंखला सी मिलती है। कहीं-कहीं काव्यों में ऐसा भी देखने को मिलता है कि रूप की शोभा के वर्णन में बलात् शब्दों को खींचकर अलंकार लाने का प्रयास किया गया है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि अधिक अलंकार काव्य सौन्दर्य अथवा रस को आवृत्त कर लेते हैं। संभवतः संस्कृत की समासमयी शैली के काव्यों के सौन्दर्य और उनकी अनेकार्थ परम्परा से प्रेरित होकर वैष्णव कवियों ने, काव्य सौष्ठव तथा छन्दोबद्धता का ध्यान रखकर, शब्दों को प्रायः तोड़ा होगा।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि भगवान कृष्ण की हर क्रीड़ा का जैसा वर्णन श्रीमद्‌भागवत में मिलता है, उन्हीं अलंकारों से पूर्ण भाषा में हिन्दी के भक्त कवियों ने उनका प्रायः वर्णन किया है। जहाँ वे भाषा की कठिनाइयों के कारण सर्वथा वैसा नहीं कर सके हैं, वहाँ भी उन्होंने अंग रूप में वही अलंकार लाने का प्रयत्न किया है। इससे स्पष्ट है कि उनका

---

१. माधुरी वाणी, पृ० ४९

संबंध काव्य सौन्दर्य सम्पादन की अपेक्षा, काव्य प्रतिपाद्य विषय से अधिक संबद्ध हैं। यह कहना कदाचित् असंगत न होगा कि वे काल और अर्थ में केवल चमत्कार का ही आधान नहीं करते, वरन् काव्य के प्रयोजन में भी, चाहे वह स्वान्तः सुखाय ही क्यों न हो, सहायक होते हैं।

व्रज कविताओं के उद्दीपन के हेतु वंशी निनाद की अव्यक्त ध्वनि आवश्यक है। यहाँ उद्दीपन भौतिक और आध्यात्मिक दोनों है। यदि भाषा और उसके अर्थ में अलंकारजन्य चमत्कार न हो तो उस उद्देश्य की पूर्ति न होगी। वेणु की गीति, कीर्ति, गोप वृन्दों के साथ वृन्दावन की सुमनोहर स्थली में कनककपिश वस्त्र तथा वैजयंती माला का साहचर्य, वेणु रन्ध्र का अधरसुधा के द्वारा आपूरण और उस प्रसंग में नटवर शब्द से कृष्ण का संबोधन अमिधामूलक व्यंजना के द्वारा रस निष्पत्ति में तभी सहायक होता है जब शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार पूर्ण हों। अप्राप्त संभोग शृंगार की कामना से वेणु निनाद के श्रावणान्तर गोपियों की शारीरिक एवं मानसिक क्षोभ की पराकाष्ठा का चित्रण जिस प्रकार श्रीमद्भागवत में हुआ है, उससे स्पष्ट है कि अलंकारों की समष्टि उसमें विशेष सहायक है।[१] पदों में उपमा, उत्प्रेक्षा, विभावना और तुल्ययोगिता अलंकार इतनी अधिक मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं कि कभी-कभी उनसे अरुचि भी उत्पन्न होती है, फिर भी जहाँ तक भाषा के चमत्कार और सरसता का प्रश्न है, वह कहीं भी कम नहीं है।

एक दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि मर्यादा पालन पर उन कवियों का बड़ा बल है। अतः यदि उनके शब्द अर्थ परम्परापेक्ष रूप से संयत और संगठित न हों, अथवा संदेश के कारण विपरीत अर्थान्तर का आभास देते हों, तो निश्चित है कि मर्यादा का अतिक्रमण हो जाएगा। यह चर्चा सुनाई पड़ती है कि वैष्णव काव्यों ने आध्यात्मिकता से अधिक भौतिकता को प्रोत्साहित किया है। इस आक्षेप का कारण यह है कि उत्तरोत्तर अनधिकृत कवियों ने रचनाएँ की हैं जिन्होंने पद्यबद्धता में ही अपने कर्त्तव्य की इति मान ली है। प्रतिभावान् कवि की भाषा इतनी संयत होती है कि विपरीत अर्थ के प्रतिपादक छिद्र अलंकारों से निगड़ित होकर दोष हीन हो जाते हैं।

संस्कृत के परवर्ती काव्यों में, चाहे उनका विषय जो रहा हो, ऋतु वर्णन की परम्परा रही है। जहाँ तक ध्वनि का प्रश्न है प्रत्येक ऋतु में उसकी एक सी मोहकता नहीं होती। यदि कभी मयूर की केका प्रिय लगती है तो कभी हंस का निनाद और कभी कोयल की कुहू। शरद ऋतु का वेणुगीत, हेमंत की चीरहरण लीला और गोपियों का गान इन ध्वनियों से ही संबंधित है। चीरहरण में उपालंभ और उसके द्वारा विनोद मुख्य विषय है। इसलिए उसकी अलंकारों की श्रेणी भी वेणुगीत की अपेक्षा भिन्न है। वहाँ उत्प्रेक्षा के साथ अतिशयोक्ति, प्रतीप और संदेह सृष्टि अलंकार अधिक प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी काव्यों में भी इसका निर्वाह मिलता है। शब्दों की एक जातीयता का एकत्र समवाय एक विशेष ध्वनि उत्पन्न करता है और वह अव्यक्त ध्वनि व्यक्त अर्थात मूर्त भौतिक जगत् से ऊपर उठा कर अध्येता को अव्यक्त, अमूर्त

---

१. श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध पूर्वार्द्ध, अध्याय २९

अध्यात्म की ओर प्रेरित करता है। यह है अलंकारों की विशेषता।

हिन्दी में अनेक कवियों ने अपनी शक्ति तथा मनोभाव के अनुकूल भिन्न रीतियों से दान लीला, मान लीला, चीरहरण लीला आदि का काव्यात्मक निर्माण किया है। दूसरी ओर संस्कृत में एकाध उत्कृष्ट, वस्तुतः महात्मा, कवियों ने ही भौतिक जीवन का चित्रण आध्यात्मिकता के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से यौगिक प्रक्रिया के साथ किया है। कुछ स्थानों पर संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी काव्यों में सहायक अलंकारों की श्रेणियाँ अधिक सुसंयत हैं। संभवतः उन्हीं के कारण संत कवियों की परम्परा जीवित रह सकी है। गोपियों का गान, प्रलाप, रुदन, दर्शन, लालसा, स्मित, मंथन, उत्फुल्लता, अंगग्रहण तथा ताम्बूल चर्बण ऐसे विषय हैं कि यदि कवि की प्रतिभा में कहीं भी छिद्र है और उसका आत्म संयम तनिक भी शिथिल है, तो उसकी रचनाओं में वासना की दुर्गन्ध आना स्वाभाविक हो जाएगा। यहाँ कुछ प्रसंगों पर विचार करना उचित है।

वेणु गीत से उद्दीप्त होकर और लज्जा का आवरण हटा कर गोपियाँ जब शरद पूर्णिमा को अपने मनोवांछित की पूर्ति के लिए दौड़ पड़ती हैं, उनका प्रियतम उस क्षुब्ध तथा कामार्त अवस्था में उनको सतीत्व तथा कर्त्तव्य का उपदेश देता है। उस अवसर पर भी तथा जब गोपियाँ संसारियों से संबंध विच्छेद कर एक मात्र श्रीकृष्ण से ही सम्पूर्ण संबंध का विज्ञापन करती हैं तथा कर्त्तव्य के प्रति दृढ़ता एवं आत्म संयम की प्रतिज्ञा करती हैं, कवि समुदाय अलंकारों के निर्वाह में बद्ध परिकर हुआ है। भगवान कृष्ण की आँख मिचौनी अथवा सहसा अन्तर्ध्यान, गोपियों के प्रेम को उद्दीप्त कर जहाँ उन्हें कोमल से कठोर और कठोर से कर्त्तव्य पालन में दृढ़ तथा दृढ़ता के निमित्त उपासना के अवलम्ब का उपदेश देता है, वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि उन सभी प्रसंगों में साम्प्रदायिक कवि एक निश्चित अलंकार भरने का प्रयत्न उसी रूप से जारी रखे हैं। श्रीमंद्‌भागवत में गोपियों के उपालम्भ में यदि भाषा में थोड़ी भी शिथिलता होती तो उसका धार्मिक रूप तो नष्ट हो ही जाता, उत्तम काव्य की दृष्टि से उसकी गणना भी न होती। गोपियाँ प्रियतम भगवान के अधरामृत प्रवाह के द्वारा सस्मित मुखावलोकन, सुन्दरगीत तथ हाव-भावों की जिज्ञासा करती हैं। अप्राप्ति की संभावना में वे विरहाग्नि में भस्म होकर प्रियतम के अंतस्थित अपार्थिव विशुद्ध रूप तथा मिलन का ध्यान कर उनकी ही पदवी को प्राप्त करने की कामना करती है।[१] यहाँ पर स्वाभाविक क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या और असूया के विकृत तत्वों का निराकरण कर गोपियाँ विशुद्ध सात्विक भाव का ही पणबंध करती हैं। उनकी विकलता और आत्मनिवेदन तथा उनके निराकरण के अभाव में स्वयं में पूर्णता की अनुभूति भाषा की व्यंजना है। यह तब तक संभव न था जब तक कि शब्दालंकार में अनुप्रास और अर्थालंकार में असंभवापह्नुति का समावेश न होता।

प्रतिभा सम्पन्न कवि सूरदास ने अनेक रचनाओं में गोपियों के उपालम्भ की चर्चा की है। उनमें भाषा संयति, अलंकार प्रौढ़ि और विषय प्रतिपादन की व्यग्रता भागवत से कहीं भी कम नहीं है। भाषा के विशिष्ट नियमों के कारण रूप में थोड़ा अन्तर होना स्वाभाविक ही है किन्तु

---

१. **श्रीमद्‌भागवत, १०:२९:३५, पृ० ५३५**

कहीं-कहीं उसके विस्तार के अनुसार व्यंजना में अतिशय चमत्कार भी दीख पड़ता है। गोपियाँ सीधे भगवान पर आक्रमण करती हैं। दानलीला के अवसर पर वे कहती हैं कि कृष्ण गोरस चुराकर खाने वाले, ऊधमी, गौ चराने वाले, दधि की मटकी फोड़ने वाले और हार तोड़कर ढिठाई करने वाले हैं। वे नन्द का ध्यान कर कुछ बोलती नहीं, नहीं तो उनकी मेहमानी करतीं। अब यहाँ तक उनका साहस हो गया है कि यौवन का दान माँगने लगे हैं। कृष्ण उन गोपियों के हार और चोली फाड़ कर व्यंजना से कहते हैं कि वे यह ध्यान नहीं करतीं कि अंश रूप से वर्तमान आत्मा सर्वथा परे हैं। इसलिए गाढ़ प्रीति के द्वारा अंश और अंशी के शाश्वत मिलन का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ भी शृंगार और शान्त का योग शुद्ध सात्विक भाव का आविर्भाव है। स्मृति के साथ तुल्योगिता, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति का संकर निश्चय गर्भ संसृष्टि का पोषक है, उनके बिना न अभिव्यंजना हो सकती थी और न परमार्थ तत्व का उपदेश ही।[१]

साहित्य और साहित्यकार के संयम का प्रमुख उदाहरण चीरहरण है। नग्न स्नान के अवसर पर गोपियों के वस्त्राभरण का मोचन और कदम्ब पर बैठ कर उन्हें उसी अवस्था में जल से बाहर बुलाना सामान्यत: अशिष्ट आचरण प्रतीत होता है, किन्तु इन लीलाओं की अनेक आवृत्ति करने पर भी भक्त के हृदय में विकार नहीं उत्पन्न होता। साहित्य का संयम भाषा, अर्थ और अभिव्यंजना पर अवलम्बित है। श्रीमद्‌भागवत में गोपियाँ कृष्ण के आदेश पर अपने अंगों का करों से आच्छादन कर जल से बाहर निकलती हैं। वहाँ रस के परिपोषणार्थ अन्य रसों के व्यभिचारी भावों का समावेश है। शुद्ध भाव से प्रसन्नता और उसके अनन्तर भी कामना का निषेध वहाँ वर्णित है। जिस प्रकार भुने और पकाए धान्य से अंकुर उत्पन्न नहीं होता वैसे ही सर्वथा दान्त इन्द्रियों में विक्षोभ भी उत्पन्न नहीं होता, उस उपमा और उपमेय गर्भ रूपक के द्वारा उसके असंयम को आच्छादित कर दिया गया है। यही अलंकार की विशेषता है, अन्यथा उसका बाह्य रूप शृंगार के अभाव में वीभत्स का जनक हो जाता है।[२]

सूरदास ने भी इस प्रसंग को अमर्यादित होने से बचाया है। उन्होंने इस चित्र का अलंकार पूर्ण भाषा में अंकन कई पदों में किया है। गोपियों का अपार प्रेम, श्रीकृष्ण का उन पर वरद होना और ऐन्द्रिकता से ऊपर उठ कर जीव और ब्रह्म का माया रहित मिलन चीरहरण का विषय है। इसलिए बीच-बीच में उपमान में ही उपमेय का सन्निवेश, विकसित कुमुदिनी का चन्द्रमा के प्रति प्रेम जैसी उत्प्रेक्षा से और निषेधात्मक वाक्यों के द्वारा आगत अपन्हुति से भाषा की संयति इस प्रकार हुई है कि उससे विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।[३] बहुत बाद की रचनाओं में

---

१. सूरसागर, पृ० ३००-३०१, पद ४४-४७

२. श्रीमद्‌भागवत, १०:२२:१७-२७, पृ० ५२४

३. हमारो देहु मनोहर चीर।
कांपत शीत तनहिं अति व्यापत हिम सम यमुना नीर॥
मानहिंगी उपकार रावरो करौ कृपा बलवीर।
अतिही दुखित प्राण वपु परसत, प्रबल प्रचंड समीर॥
हम दासी तुम नाथ हमारे बिनवति जल में ठाढ़ी।

भावना को प्रधानता देकर अलंकारों की उपेक्षा सी देखने के मिलती है वहाँ अभिधा में ही वस्तु का निर्देश होना व्यंग्य को भी गुणीभूत बनाकर विषय प्रतिपादन की शिथिलता है। यदि वहाँ भी शृंगार का आविर्भाव शान्त में पर्यवसित होता तो विकार और आलोचना की सृष्टि न होती।

नित्य लीला का उपासक राधावल्लभी सम्प्रदाय का पूरा साहित्य संयोग की विविध अवस्थाओं का चित्रण करता है। उनके सिद्धांत मात्र को जानकर जैसी धारणा बनती है, उनके मान्य भक्तों और प्रवर्तकों की रचनाओं से उसका मेल नहीं होता। यदि उन्होंने सुन्दरता से शब्दों और अर्थो की विशुद्ध सात्विकता को व्यंजित करने के लिए उदात्त रीति से प्रचुर परिमाण में अलंकारों का प्रयोग न किया होता तो वर्णित विषय के कारण राधावल्लभी सम्प्रदाय का भक्ति मार्ग अधिक दिनों तक न चल सकता। हरिवंश जी के एक पद में गति की मत्तकरणी से तुलना, सुरत और समुद्र का रूपक, अलस क्रिया की आँख मिचौनी के साथ व्याज स्तुति, बालों का भृंग के साथ साम्य, अम्बुज और उरज की समानता से उपमा के साथ अतिशयोक्ति और अंत में आशीर्वाद के द्वारा समाप्ति से कांत भावना से ऊपर उठ कर मातृभावना का. संचार होता है।[१]

स्वामी हरिदास के कुछ पदों को पढ़कर ऐसी भावना होती है कि आनन्द का आभास इन्द्रियो के माध्यम की अपेक्षा अधोक्षज अधिक हुआ करता है। वे पहले भक्त हैं बाद में कवि और पहले चिन्तक हैं बाद में गायक। स्वामी और स्यामा की मधुर प्रीति और उसकी रीति के वर्णन में वे जीव और ब्रह्म क़ी प्रीति-रीति को देखते हैं। त्रिभंगी पर तृण का तोड़ना, चरण की वीप्सा में मुरली तथा अधर का आश्रय, दृष्टि की वक्रता के साथ निम्नता और दूती की प्रेरणा

मानहुं विकसि कुमुदिनी शशि सों, अधिक प्रीति उर बाढ़ी॥
जो तुम हमें नाथ के जान्यो यह माँगे हम देहु।
जल ते निकसि आइ बाहर ह्वै वसन आपने लेहु॥
कर धरि शीश गई हरि सन्मुख मन में करि आनन्द।
है.कृपालु सूरज प्रभु अंबर दीने परमानन्द॥

—सूरसागर, पृ० २५२

१. आज सम्हारत नाहिन गोरी।
फूली फिरत मत्तकरनी ज्यों सुरत समुद्र झकोरी॥
आलस बलित अरुन धूसर मषि प्रगट करत हम चोरी।
पिय पर करुन अमी रस बरषत, अधर अरुनता थोरी॥
बांधत भृंग उरज अम्बुज पर, अलक निबन्ध किशोरी।
संगम किरचि कंचुकी बंधन, शिथिल भई कटि डोरी॥
देत आशीष निरखि जुवती जन, जिनके प्रीति न थोरी।
श्रीहित हरिवंश विपिन भूतल पर, संतत अविचल जोरी॥

—हित चौरासी-सेवक वाणी, पद ७०, पृ० ३५

से राधिका का प्रिय मिलन के लिए व्याकुल होना एकमात्र भगवान की अबाध भक्ति की कामना ध्वनित करता है। यहाँ तृण और त्रिभंगी के बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से सम्भावना की परिपुष्टि, र,न एवं ध का वृत्तानुप्रास और सर्वोपरि होने की कामना के द्वारा प्रहर्षण से संसृष्टि गर्भ संकर अलंकार का सन्निवेश है।[१] उनके आवरण में विषय की अपेक्षा विषयी की अलौकिकता ही स्फुरित होती है। श्याम की तमाल से और राधा की कंचन लता से तुलना कर उन्हें परस्पर लिपटा देना उपमा की सूक्ष्मता है।[२] उपमा के इन उपभेदों में भी प्रवेश कर संत कवियों ने अपने सरस विषय को दिव्य बनाने में सफलता प्राप्त की है।

कभी-कभी ऐसा भासित होता है कि संत कवि प्रच्छन्न रूप से अपनी अलंकृत रचना पद्धति के द्वारा अपने दार्शनिक सिद्धान्त की ही प्रधानतया व्यक्त करते हैं। गौडीय सम्प्रदाय का अचिन्त्य भेदाभेदवाद उनकी अनुप्रासपूर्ण रचनाओं में मुखरित हुआ है। शब्दों की एकरूपता से अभेद और पुनरुक्ति के निराकरणार्थ अर्थों का भेद दोनों श्रोतों को अचिन्त्य के रूप में व्यक्त करता है। निम्नांकित कवित्त के पूर्वार्द्ध में केवल शब्दालंकार का सन्निवेश अनुप्रास और यमक में भ्रम उत्पन्न कर चमत्कार का अधिक पोषण करता है। सुख-सिन्धु की सरसता में अत्यंत बारीकी के साथ अर्थश्लेष का सन्निवेश उसका वैशिष्ट्य है।

नृत्य लास भू विलास मन्द-मन्द चारु हास,
रास में विलास केलि कोटि-कोटि कामिनी।
कुंडल मृदु गंड लोल चंचल अचल सुलोल,
श्रमकन शोभित कपोल कनक कामिनी।
परम मधुर करत गान लेति सरस सुधर तान,
निकसत दुरि जात मन मनहुँ मेघ दामिनी।
टूटत मन कटि प्रदेश छूटत कल कुसुम केस,
लूटत सुख सिन्धु सरस भाय भामिनी।[३]

हिन्दी साहित्य के अलंकार प्रिय युग का प्रारम्भ इन्हीं वैष्णवों से होता है। अन्तर केवल यह है कि जबकि संत साहित्य में भावना के प्राधान्य के साथ ही साथ अलंकार उनकी सुरक्षा, पोषण और सहायता के रूप में सन्निविष्ट हुए हैं, रीतिकाल में शब्दों और अर्थों के वैचित्र्य एवं उत्कर्षता के निमित्त उनका बलपूर्वक प्रवेश किया गया है। उनमें व्यंजना की अपेक्षा वाच्य

---

१. आज तृन टूटत है री ललित त्रिभंगी पर।
चरन चरन पर मुरली अधर धरे चितवनि बंक छबीली भुव पर॥
चलहु न वेगि राधिका पिय पै जो भयो चाहत सर्वोपरि।
हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज बिहारी को समयौ नीकौ॥
बन्यो हिलमिल केलि अटल रति भई धूपुर।

—निम्बार्क माधुरी, पद १८, पृ० २०८

२. वही, पद १९, पृ० २०८

३. माधुरी वाणी, पृ० ४३

अधिक है और संभवतः अलंकारों का अतिमात्रा में उपयोग आपत्तिकाल में उपेक्षा का विषय बना है। पांडित्य प्रदर्शन के लिए उनका उपयोग नीरसता की सृष्टि करता है, परन्तु इससे यह समझना है कि रस की निष्पत्ति के लिए वे अनुपादेय हैं, अनुचित है। रस में उनसे सांद्रता और ग्राह्यता भी आती है। रीति काल की सरस रचनाओं की शोभा उनसे निश्चित ही अधिक निखर आई है। बिहारी, मतिराम, देव, घनानन्द, पद्‌माकर, आदि रस सिद्ध कवियों की कृतियाँ इसकी प्रमाण हैं।

दृष्टिकूट

साहित्य भी कला है इसका स्पष्ट प्रमाण कूटों अथवा दृष्टिकूटों में दीख पड़ता है। कवियों की प्रतिभा कहीं-कहीं शब्दों और कहीं-कहीं अर्थो में साम्य एवं वैषम्य इस प्रकार समन्वित ढंग से उपस्थित करती है कि उसका प्रारंभिक रूप भ्रमात्मक और अंततः रसात्मक अथवा विनोदात्मक मात्र प्रतीत होने लगता है। कुछ कवियों ने प्रहेलिका में भी कूट लाने का प्रयत्न किया है। महाभारत में भी कूटात्मक रचनाएँ कुछ मिलती हैं। अन्योक्तियों और उपालम्भों में कूट बहुधा प्रणय को लक्ष्य बनाकर ही प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत के कवियों ने राधाकृष्ण के प्रणयकालिक वार्ता और भक्ति की सरसता में कवि रचना का पर्यवसान माना है।[१] उन्होंने सुरत प्रसंग की चर्चा में भी शब्दों और अर्थो को अत्यंत रहस्यात्मक ढंग से प्रकट करने में कूट का उपयोग किया है। उनमें व्याकरण ही प्रधान है और शब्दों के उच्चारण में क्लिष्टता और अस्वाभाविक वर्णो का गुम्फन है।[२]

संस्कृत और हिन्दी के दृष्टिकूटों के अध्ययन से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे रहस्य के प्रतिपादन के साधन रहे हैं। ज्ञानमार्गीय हिन्दी कवियों ने ब्रह्म के कारण और कार्य की अदृश्य विवेचना, उनके अप्रत्यक्ष रूप का और अप्रत्यक्ष असंभावित कार्य का रहस्यात्मक उल्लेख किया है। वाणी और मन से परे ब्रह्म के सांगोपांग होने का संकेत भी कूट में उपलब्ध होता है। वर्णनातीत ब्रह्मानुभूति के व्यक्तीकरण का भी वही मार्ग है। भक्तिमार्गियों ने भक्ति की सरसता को इन्द्रिय आस्वादन से परे एक सर्वथा अनिर्वचनीय स्वरूप में स्थिर रखने के निमित्त कूट रचना को साधन बनाया है। उनके आराध्य ब्रह्म अथवा प्रिया प्रियतम की केलि का सर्वांश यदि बुद्धि अथवा वाणीगम्य हो जाय तो अपरिमितता (अलौकिकता) तो बाधित होगी ही साथ ही साथ परिच्छिन्न जीव के साथ उसका रूपात्मक तथा क्रियात्मक साम्य भी हो जाएगा। अतः वह रचना कलाबाजी से ऊपर उठकर एक उदात्त भावना से भावित होती है।

उपर्युक्त कथन के प्रमाण में कतिपय साम्प्रदायिक कवियों की रचनाओं की परीक्षा करना आवश्यक है। शुद्धाद्वैत के पक्षपाती सूरदास ने संसार का समष्टि में और व्यष्टि का समष्टि के

---

१. उपरिगतं ही सवर्ण हृत्वा करतो ददासी रन्तुं मे।
धन्यः सरोज युगलं त्यक्त्वा स्तनयुगमथास्पृशत्कृणः॥
—सुभाषित रत्नभांडागारम्, प्रकरण ४, पृ० १९६

२. सुभाषित रत्नभांडागारम्, प्रकरण ४, पृ० २००, श्लोक ९०, ९६

साथ सर्ग तथा प्रतिसंहार जैसे सूक्ष्म विषय को लेकर एक शरीर में ही स्पष्ट प्रतीयमान भेद और वास्तविक अभेद के रूप में दृष्टिकूट लिखे हैं। उनका एक पद है:—

देख री प्रगट द्वादश मीन ।
षट इंदु द्वादश तरणि शोभित, विमल उडुगन तीन॥
षट अष्ट अम्बुज कीर षटमुख कोकिला सुर एक।
दश दोइ विद्रुम दामिनी षट, तीन व्याल विशेक॥
त्रिवलि षट श्रीफल विराजत परस्पर वर नारि।
ब्रज कुँवरि गिरिधर कुँवर पर सूर जन बलिहारि।[१]

इसमें द्वादश मीन एवं सूर्य, षट इन्दु, तीन उडुगण, कोकिल, अम्बुज, कीर आदि के रूप में अंग-प्रत्यंग का, और जैसा इनका सम्प्रदाय है, एक में ही द्वैताभास का प्रकटीकरण सुन्दर रीति से मिलता है। शरीर की आसक्ति को शरीर के रूप में और इसके सहायक नित्य स्थिरत्व प्रतिपादक भावों में जिस रहस्य के उद्‌घाटन का प्रयत्न किया गया है वह अलौकिक है। कुँवरि और कुँवर का उल्लेख, योगियों की समाधि अवस्था में जिन षडचक्रों तथा अंतर्दलों का भान होता है, उसके चित्रण की रहस्यमयता की सुरक्षा करता है। कहा जा सकता है कि विषय के अत्यन्त आत्मसात हो जाने के कारण कवि की प्रतिभा अप्रयासित कूट के रूप में प्रस्फुटित हो जाती है।

राधवल्लभी सम्प्रदाय में तो सभी रहस्य ही रहस्य है। नित्य मिलन की भावना उससे अछूती रह भी नहीं सकती। भौतिक जगत् में भी जिन दो का यावत् शरीर संभोग वांछनीय होता है, उन्हें भी रहस्य रूपता का आश्रय लेना पड़ता है। शृंगार और तन्मिश्रित शांत रस भक्ति और भजनीय के आद्यांत विषय हैं। इन रसों का रहस्य राधावल्लभी सम्प्रदाय का मौलिक प्रतिपाद्य विषय है। व्यास जी के एक पद में अपार हर्ष की अलौकिकता और सामान्य संभव उदाहरणों के द्वारा शृंगार से प्रारंभ होकर शान्त में उसका विलय दृष्ट होता है। चन्द्र और उसका प्रतिबिम्ब अथवा वह स्वयं ही बिम्ब और उस पर वारिज का विकास कवि समय ख्याति के अत्यंत विरुद्ध है। कूट में इस प्रकार के विरोध का आभास मनः विकल्प उत्पन्न करने के साथ ही रहस्य का गोपन भी पर्याप्त मात्रा में करता है।[२] समान शब्दों के द्वारा अथवा

---

१. सूरसागर, पृ० ४७१

२. चन्द्र बिम्ब पर वारिज फूले।
तापर फनि के शिर पर मनिगन तर मधुकर मधुमद मिलि झूले॥
तहाँ मीन कच्छप शुक खेलत, बंशिहि देखि न भयै विकूले।
विद्रुम दार्‌यौ में पिक बोलत, केसरि नख पद नारि गरूले॥
सर में चक्रवाक वक व्यालिनि विहरत वैर परस्पर भूले।
रम्भासिंघ बीच मनमथ धरु तापर गान धुनि सुनि सुख भूले॥
सबही पर धनु बरसत सर सागर भये जमुना कूले।
पूजी आस व्यास चातक की स्थावर जंगम भये विसूले॥

—व्यास वाणी, पृ० २४७-२४८

असंभवत् उपमा अथवा उत्प्रेक्षाओं के द्वारा विरोध में अविरोध की भावना उत्पन्न करना रहस्यात्मक ही है।

शुक सम्प्रदाय में भक्ति का अंग योग भी रहा है। योग की अनुभूतियाँ रहस्य के रूप में योगियों तक सीमित रहती हैं। चरणदासी अन्य सम्प्रदायों की तरह अपनी योग सहगामिनी भक्ति का मूर्त रूप कृष्ण और राधा में ही मानते हैं। वे प्रिया प्रियतम के साथ उनके सुहाग के रहस्य की, जो रूपात्मक की अपेक्षा भावनात्मक अधिक है, चर्चा में बिना घृत के ज्योति का जलना और गुहात्मिका गंभीर बुद्धि में असंकल्पज भ्रमर का निर्माण कूट में करते है। वे प्रियतम के गुण के आगे चार सपत्नियो की कल्पना कर उनको विजित करते हैं और स्वयं उसी अदृष्ट रहस्य की सेवा में लगे रहना चाहते है। यह सम्प्रदाय के अनुरूप योग भक्ति का रहस्योद्‌घाटन है। नारी के रूप में जीव का सदा सुहाग ज्ञान और भक्ति की दिशा में प्रयत्न करने से ही संभव है, यह उनका व्यजनात्मक भाव है।[१]

उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि कूट साहित्य सम्प्रदाय का आवश्यक अंग है। वाच्य और लक्ष्य की अपेक्षा जैसे व्यंग्य अर्थो में चमत्कार एवं आनन्दातिरेक की अधिक अनुभूति होती है वैसे ही समूह अथवा भक्ति के आत्मचिन्तन के मार्ग में दृष्ट और अदृष्ट पर स्पष्ट भासित अनुभूतियों की अपेक्षा जिस अज्ञात अदृष्ट, किन्तु सत्य रहस्य का आकर्षण बना रहता है, उसके लिए कूट अनिवार्य है। संत कवियों ने न केवल उसे अपनाया ही वरन् उसे सिद्धान्त की विशेषता के साथ पल्लवित भी किया।

गद्य

व्रजभाषा गद्य का प्रारम्भ

संसार की सभी भाषाओं में पहले काव्यों का सृजन हुआ और गद्य का बहुत बाद में। संभवतः स्मृति के सहारे उनकी सुरक्षा सुविधाजनक होती है। हिन्दी में भी गद्य का निर्माण और प्रचलन बहुत कम रहा है। अपभ्रंश के कुछ नमूनों को छोड़कर डिगल में कुछ ख्यात और

---

१. तू सदा सुहागिनि नारी है।
पिय के संग मिली मद पीवै ताते लागत प्यारी है॥
भंवर गुफा में भंवर बनायो बिन घृत जोती जारी है।
सुखमय सेज महा सुखदाई भोगत भोग दुलारी है॥
बस कियो कंता चलै न पंथा दोना डारो भारी है।
आठ पहर तुम्हरे रंग राचो हम को मिलै न बारी है॥
पति मन मानी सो पटरानी सोई रूप उजारो है।
हम चारौ सो सौति तुम्हारी तुम गुन आगे हारी है॥
चरनहिदास भई तोहिं सेवै लगी रहे नित लारी है।
सुकदेवा सिर छत्र हमारो सो बस भयो तुम्हारी है।
—चरणदास की बानी, भूमिका, पृ० ४९

वार्ताएँ उपलब्ध हैं। उनके बाद गोरखनाथ के नाम से कुछ कृतियाँ मिली हैं, जिन्हें अधिक प्रमाणित नहीं माना जा सकता।[१] उनका नाम प्राय: गोष्ठि से संबद्ध है जैसे गोरख गणेश गुष्टि तथा महादेव गोरख गुष्टि। उसके गद्य का नमूना भी संदेह उत्पन्न करता है कि संभवत: वे ग्याहरवीं या बारहवीं शताब्दी की रचनाएँ न हों। ब्रजभाषा गद्य का जो नमूना विक्रम की १६वीं शताब्दी के अंत के लगभग मिलता है वह इतना प्रौढ़ है कि अनुमान होता है कि उसके पहले भी गद्य का व्यवहार अवश्य होता रहा होगा। वह आज अप्राप्य है, किन्तु भाषा की प्रौढ़ता पूर्व परम्परा की पुष्टि करती है।

हित हरिवंश की लिखी हुई दो चिट्ठियाँ उपलब्ध हैं। दोनां पत्र उन्होंने बीठलदास नामक वैष्णव को लिखे थे। उनसे सिद्ध होता है कि संभवत: परस्पर व्यवहार में गद्य का ही उपयोग होता था। साहित्य साधना पद्य में होती थी। उन पत्रों की भाषा एवं शैली विकसित गद्य की सूचिका है। वे गृह त्याग के अनन्तर वृन्दावन से लिखे गये थे।[२] इसलिए उनका काल अनुमान से १६०० वि० के आसपास माना जा सकता है। अवश्य ही इसका कोई प्रमाण नहीं है कि वे पत्र बाद में न लिखे गए हों।

इनके बाद वल्लभ सम्प्रदायी विट्ठनाथ के शृंगार रस-मंडन में ब्रजभाषा गद्य का दर्शन होता है। यह एक छोटी कृति है जिसमें राधा कृष्ण की शृंगारिक क्रीड़ाओं का वर्णन है। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने तो उनकी एक दूसरी गद्य कृति राधा विहार का भी उल्लेख किया है, परन्तु काँकरौली के इतिहास, वल्लभ विलास तथा डॉ० दीनदयाल गुप्ता की गद्य सूची में उसका नाम नहीं है। संभव है कि वह शृंगार रस-मंडन का ही दूसरा नाम हो।[३] शृंगार रस-मंडन के दो उद्धरण मिश्र बन्धु विनोद में मिलते हैं। उनमें वह परिमार्जित गद्य नहीं हैं जो उपर्युक्त पत्रों में। उदाहरण के लिए—

'जमे के सिषर पर शब्दायमान करत है त्रिविधि वायु बहत है, है निसर्ग स्नेहाद्र सषी कूं संबोधन पिया जू नेत्र कमलं कूं कछुक मुद्रित दृष्टि होय के बारंबार कछु सुखी कहत भई यह मेरो मन सहचरी एक क्षण ठाकुर को त्यजत नाँही।'[४]

---

१. गोरख बानी, भूमिका, पृ० १७

२. श्री सकल गुण सम्पन्न रस रीति ब्रहावन चिरंजीव मेरे प्राणन के प्राण बीठलदास जोग्य लिखितं श्री वृन्दावन रजोपसेवी श्री हरिवंश जोरी सुमिरन बंचनौ। जोरी सुमिरन रहौ मत्त जोरी जे हैं सुख बरखत है....तुम लिखी हौ दिन दश में आवैंगे सोई आशा प्राण रहे हैं। श्री श्यामा जू वेगि लै आवैं। चिरंजीव कृष्णदास कौ जोरी प्रसन्न हैं श्यामवन्दिनी विहार चंदन लैनों। गोविंददास की दंडौत गांगू मेदा कौ कृष्ण सुमिरन बांचनौ, कृष्णदास मोहनदास को कृष्ण सुमिरन, रंगा की दंडौत, बनमाली धर्मशाला को कृष्ण सुमिरन बंचनौ।

—हित सुधा सागर, पृ० ११

३. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, हरिऔध, पृ० ६३०

४. मिश्रबन्धु विनोद, भाग १, पृ० १६०

वार्ता और जीवनी

इस स्वतंत्र रचना के अतिरिक्त गो० विट्ठलनाथ ने कुछ वल्लभाचार्य के ग्रंथों की टीकाएँ भी गद्य में लिखी हैं। उसकी भाषा सुलझी हुई है। नागरी प्रचारणी सभा से प्रकाशित खोज रिपोर्ट में यमुनाष्टक की टीका और नवरत्न सटीक के नाम से दो पुस्तकों की सूचना दी हुई है।[१] अन्य विद्वानों ने षोडश ग्रंथ की अन्य टीकाएँ के नाम लिखे हैं। इन लघु गद्यांशों के बाद व्रजभाषा गद्य के दो वृहदाकार ग्रंथ मिलते हैं। वे चौरासी वैष्णव की वार्ता तथा दौ सौ बावन वैष्णव की वार्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके रचयिता और काल के संबंध में मतभेद है परन्तु यह निश्चित है कि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरांश में हरिराय ने उनका संपादन किया था। उनका वही स्वरूप आज प्राप्त है। वार्ताओं की सृष्टि वैष्णव गोष्ठियों में हुई थी। इस तरह की गोष्ठियों में समय-समय पर विभिन्न प्रसंग उठा करते हैं। कभी कोई भक्त गाथा दुहराई जाती है, कभी साम्प्रदायिक सेवा प्रणाली अथवा उपासना पद्धति की उदाहरण सहित व्याख्या की जाती है और कभी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है।[२] उनका उद्देश्य साम्प्रदायिक महत्व का प्रकाशन होता है। इसलिए उन वार्ताओं के अंत में प्राय: इस तरह के वाक्यांश जुड़े मिलते हैं जैसे 'ताते इनकी वार्ता को पार नाहीं ताते इनकी वार्ता कहाँ ताई लिखिये' अथवा 'श्री गुसाई जी के ऐसे कृपा पात्र हते'।

गोस्वामी हरिराय जी ने उन दोनों विख्यात वार्ताओं के कतिपय कथा प्रसंगों को विस्तार देकर उन पर भाव प्रकाश टीका लिखी है। उनमें भक्तों के चरित्रों के रहस्यों का उद्‌घाटन

---

१. खोज रिपोर्ट, १९१२-१४ ई०, संख्या २८ ए तथा बी

२. प्रत्येक प्रकार का प्रसंगों का एक नमूना देखने योग्य है :

(क) 'अथ श्री गोसाई जी के सेवक गांविद स्वामी सनोडिया ब्राह्मण महावन में रहते तिनकी वार्ता। सो प्रथम गोविददास आंतरी गाम में रहते। सो वहाँ वे गोंविद स्वामी कहवते। और आप सेवक करते। परि वे गोविददास परम भगवद् भक्त हते।'

—२५२ वैष्णव की वार्ता, पृ० १

(ख) 'तब श्री ठाकुर जी ने यह बात जताई जो तू थार छुहवेते डरपत हैं तौ तू हमारे आगे काहे कूं आनि राखत हैं इतनो वचन श्री ठाकुर जी को सुनि के जगन्नाथ जोसी चौक उठे। तब नाक भूमि में घिस बहुत मनहार करि के कह्यौ।'

—चौरासी वैष्णव की वार्ता, पृ० १४२

(ग) 'और एक समय श्री ठाकुर जी की इच्छा ते श्री आचार्य जी महाप्रभु सो कृष्णदास ने प्रश्न पूछो जो महाराज श्री ठाकुर जी को प्रिय वस्तु कहा है सो मोसों कहौ सो ताको प्रति उत्तर श्री अचार्य जी महाप्रभु कहैं जो श्री ठाकुर जी उत्तम वस्तु के भोक्ता हैं परन्तु गोर शब्देन वानी कहीयतु है गोरस अति प्रिय है ताके भात अनिर्वचनीय है और सबन ते भक्ति के स्नेह प्रभाव अति प्रिय है ताते भक्त वत्सल कहावत हैं।

—वही, पृ० १४

करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार की उनकी दूसरी कृति भावना है। जिसमें उन्होंने उपास्य स्वरूप के शृंगार भावों का स्पष्टीकरण किया है।

उदाहरणार्थ—"हरि प्रबोधनी। ता दिन श्री नाथ जी लाल वागा धरत है और ईक्षु को मंडप होत है। ताको अभिप्राय यह जो। कुंजातर में। श्री ठाकुर जी व्रज भक्त सहित श्री स्वामिनी जी के संग विवाह खेलत हैं ता लीला का अंगीकार किए हैं।"[१]

आगे भी वार्ता कहने सुनने का क्रम चलता रहा। विशेष रूप से वल्लभ सम्प्रदाय में उसमें पुष्कल साहित्य लिखा गया है जिनमें से अधिकांश अप्रकाशित ही पड़े हुए हैं।

ये वार्ताएँ सीधी-सादी बोल-चाल की भाषा में लिखी गई हैं। अत: इनमें स्पष्टता एवं प्रवाह है। भाव व्यंजना की सुन्दर शक्ति भी मिलती है। केवल जहाँ सिद्धान्त की व्याख्या है। वहाँ अवश्य ही भाषा में थोड़ा उलझाव है किन्तु ऐसे स्थल कम हैं। दूसरी बात सर्वनामों का उचित प्रयोग न होने के कारण संज्ञाओं की पुनरावृत्ति की गई। यह आश्चर्य का विषय है कि १७वीं शताब्दी में ही व्रजभाषा का इतना सुसंस्कृत स्वरूप होते हुए भी दो सौ वर्षों में भी उसका ऐसा रूप स्थिर न हो सका जो आधुनिक साहित्य का आधार बन सकता। संभवत: काव्य माधुरी की मोहकता के कारण साहित्यिकों ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। रीतिकालीन दरबारी कवि मुक्तकों की बारीकियों से श्रोताओं को चमत्कृत कर रहे थे। कादम्बरी की तरह अनेक लम्बे काव्यात्मक आख्यान सुनने का समय किसी को न था। राज्य व्यवस्था फारसी भाषा में होती थी और लोक व्यापार प्रादेशिक बोलियों में चलता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रदायों में पुरानी वार्ताएँ ही अधिक प्रचलित थीं। नवीन वार्ताओं एवं वचनिकाओं का प्रचार कम था और सम्प्रदाय के बाहर तो थोड़ा भी न था। उसमें नव जीवन का संचार स्थगित हो गया था।

इन्हीं वार्ताओं का आश्रय लेकर भविष्य में साम्प्रदायिक जीवनियाँ तथा इतिहास लिखे गए हैं। वल्लभेतर सम्प्रदायों में प्राय: पद्यमय जीवनियाँ लिखी जाती हैं। विक्रम की बीसवीं शताब्दी में उन सम्प्रदायों में भी उनके लिए गद्य का प्रयोग किया गया है वह व्रज भाषा और खड़ी बोली दोनों में ही है। वे भक्तों के चरित्र आज भी सदा की भाँति धार्मिक साधना को बल प्रदान करते हैं।

वचनामृत और वचनिका

वार्ताओं से मिलता-जुलता एक अन्य प्रकार के साम्प्रदायिक साहित्य का उद्‌भव हुआ है। उसे वचनामृत कहते हैं। उनके भी विषय प्राय: वही हैं जो वार्ताओं के। दोनों में अंतर यह है कि वचनामृतों में सिद्धांतों का स्पष्टीकरण और उपदेश प्रधान है। उनकी शैली भी थोड़ी भिन्न है उसमें प्रश्नोत्तर की प्रणाली अपनाई गई है, यथा

---

१. वल्लभ विलास, भाग ३, हरिराय कृत भावना, पृ० ७५

'तब प्रसंग चल्यो जो सेवा कौन सी उत्तम है। तब कोउ कहे जो शृंगार करनी तथा भोग धरनी उत्तम।..... ..तब आपने आज्ञा करि जो श्रद्धापूर्वक प्रीत सो जो सेवा करे सो सब ही उत्तम है।'[१]

बीच-बीच में दृष्टान्त के रूप में कथाएँ हैं और कहीं-कहीं साम्प्रदायिक इतिहास।[२]

वचनिका में इतिहास और भक्त जीवन के प्रसंग कम रहते हैं और नीति, सिद्धान्त, आचरण आदि का उपदेश अधिक। दृष्टांत के रूप में पौराणिक अथवा ऐतिहासिक लघु कथाएँ अवश्य यत्र-तत्र उद्धृत की जाती हैं। इस प्रकार की रचनाओं की परम्परा बहुत पुरानी है। सभी निर्गुण और सगुण सम्प्रदायों में उनका प्रचार है। प्रत्येक गुरु के मुख से निकली हुई वाणी वचनिका कहलाती है जिस पर शिष्य का अटूट विश्वास होता है। उन्हें सुभाषित की श्रेणी में रक्खा जाना चाहिए। जैसे

'जहाँ जो बात भली देखे सो ले। बुरी देखै तो छोड़ै। दोउ ठौरै गुरुत्व माने।'[३]

'गुसाई हरिवंश जी सों पूछी सुरन के लक्षण कहा असुरन के कहा। कही पहिचानत नाहीं, हमारे दोउ पूज्य हैं।'[४]

सिद्धान्त और माहात्म्य

सम्प्रदाय के प्रचार के लिए सिद्धान्त ग्रन्थो की आवश्यकता होती है और उसके माहात्म्य की वृद्धि के लिए खंडन मंडन की। इस तरह की पुस्तकें कई रूप और कई नामों से मिलती है। उनमें साम्प्रदायिक दर्शन, उपासना तथा रहस्य का विस्तार से वर्णन किया जाता है। साथ ही पुराणों आदि के सहारे साम्प्रदायिक परम्परा भी स्थापित की जाती है। इस प्रकार की अनेक रचनाओं में दृढ़ रसिक अनन्य वैष्णवधर्म (राधावल्लभी) भारतेन्दु कृत युगल सर्वस्व तथा वैष्णव सर्वस्व (वल्लभी), वल्लभ विलास (वल्लभी) ब्रह्मसम्बन्ध आदि रक्खी जा सकती हैं। प्रकाशित पुस्तकों में सर्वाधिक वल्लभ सम्प्रदायी हैं और उनके बाद राधावल्लभी हैं। कभी-कभी छोटी पुस्तक की टीका को विस्तार देकर भी सिद्धान्त समझाए जाते हैं जैसे हित चन्द्रिका या शिक्षापत्र भाषा।

प्रकाट्य वार्ताओं को भी माहात्म्यकारक ग्रंथों की श्रेणी में रखना उचित है। वल्लभ मत के अनेक स्वरूपों की प्राकट्य वार्ताएँ प्रकाशित हुई हैं जैसे श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता तथा द्वारकानाथ की प्राकट्य वार्ता। मध्वगौडीय प्रेमप्रतिमा भी ऐसी ही कृति है। व्रजयात्रा या वन-यात्रा नाम से व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ हैं।

खंडन मंडन

अपने सिद्धान्त को सर्वोपरि सिद्ध करने के आग्रह से बहुत पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई हैं। वे सब प्रायः २०वीं शताब्दी में लिखी गई हैं। उनमें से कुछ तो साहित्य और इतिहास के आधार

---

१. गो० गिरधरलाल जी महाराज के १२० वचनामृत, पृ० ५
२. वही, वचनामृत ६० तथा ७५
३. वचनिका, सिद्धांत, पृ० ११
४. वही, पृ० २३

पर किसी आचार्य को किसी के पूर्व या पर होना प्रमाणित करती है और कुछ बहुत ही निम्न मनोवृत्ति से प्रेरित होकर लिखी गई हैं। गोपाल प्रसाद शर्मा ने भ्रमोच्छेदन में सूर तथा हित हिरवंश के पदों, राधासुधानिधि के निर्माता और मिश्र बन्धुविनोद के अन्तर्गत फैले हुए भूलों का निराकरण किया है। ऐतिहासिक और प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों के आधार पर कृष्णदास ने श्री नारायण भट्ट को व्रज में रासलीला का आविर्भावक प्रमाणित करने का प्रयास किया है। द्वितीय प्रकार की रचनाएँ इतनी नीचे स्तर की हैं कि उनमें गाली गलौज तक का प्रयोग किया जाता है। लगभग सत्तर वर्ष पूर्व मध्वगौडीय तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय के बीच परस्पर आक्षेप सम्बन्धी कतिपय पुस्तिकाएँ निकली थीं। उनके अध्ययन से इसका स्पष्टीकरण होता है।[१]

सभी प्रकार के गद्यात्मक साम्प्रदायिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि जहाँ तक व्रजभाषा का सम्बन्ध है वार्ताओं के बाद कोई विकास नहीं हुआ। बाद की रचनाएँ अधिक शिथिल एवं अव्यवस्थित हैं। उनमें न तो पर्याप्त भाव व्यंजना है और न प्रवाह। साहित्यिक दृष्टि से भी कम कृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक काल में खड़ी बोली में अवश्य ही कुछ उपयोगी सैद्धान्तिक सामग्री सामने आई। सूरदास और नन्ददास की काव्य प्रवीणता ने अनेक वल्लभ सम्प्रदायी रचनाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। महाराज लाइबल केस ने भी उनमें योग दिया है।

उपसंहार

वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, चैतन्य, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास आदि परम भक्त उपासकों के सम्मिलित प्रयत्न से कृष्ण भक्ति उत्तर भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त हो गई। साम्प्रदायिक कवियों की वाणियों ने उनके प्रचार कार्य में सहायता पहुँचाई है। अन्य सम्प्रदाय भी उनके प्रभाव से बच नहीं सके हैं। धीरे-धीरे निर्गुण मार्ग ने कृष्ण भक्ति को आत्मसात कर लिया, इसका प्रभाव चरणदासी सम्प्रदाय है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के उपासकों में भी सखी भाव की उपासना चल निकली। कृष्ण की दानलीला, हिंडोल, रासलीला, वसंत लीला, होली आदि का प्रवेश उनके बीच भी हो गया। अनेक ग्रंथों के शीर्षकों से भ्रम होता है कि वे कृष्ण भंक्ति से सम्बन्धित हैं अथवा राम भक्ति से।[२] राधाकृष्ण की केलियों की

---

१. यहाँ पर एक वाक्य से उसके स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है 'इस मममोहिनी कविता में गोवत्स के चबाए हुए कपड़े की तरह चिथड़ेदार आपका संस्कृत है।' इसकी पुनः समालोचना तथा अन्य प्रकाशन भी उपलब्ध है।

—श्री चैतन्य विजय समालोचना, पृ० १

२. महारानी वृषभानु कुँवर की कृतियाँ होरी रहस, झूलन रहस तथा दानलीला, नन्दकिशोर दुबे कृत जल झूलन। मिश्रबंधु विनोद, भाग ३, पृ० १२०३ तथा भाग १, पृ० ३०९। राधा, कृष्ण, सीता और राम का नख शिख वर्णन एक ही नाम की विभिन्न पुस्तकों में मिलता है।

—खोज रिपोर्ट १९०९-११ ई०, १९०६-८ ई० और १९०५ ई०

प्रतिच्छाया सीताराम के विहार में परिलक्षित होती है। गोपियों के अनुराग का स्थान ले लिया सीता की सखियों और बहनों ने।[१] उन प्रसंगों में शृंगारिक भावना यहाँ तक समाविष्ट हुई है कि उनमें खंडिता की भी उद्‌भावना की गई है।[२] विशेष रूप से १९वीं शताब्दी में सीताराम के विहार को विषय बनाकर अनेक कृतियों की रचना की गई है।

काव्य और संगीत के अद्‌भुत मिश्रण व्रजभाषा के पदों का प्रचलन अन्य भाषा भाषित प्रदेश में १७वीं शताब्दी में होने लगा था। वे पद संगीतज्ञों और भक्तों के द्वारा दूर-दूर तक गाए जा रहे थे। उनमें साहित्य.और संगीत का मणिकांचन योग हुआ है। अतएव रसिक हृदय बलात उसकी ओर आकर्षित हो उठते हैं। यही कारण है कि पश्चिम में गुजरात तक उन पदों का प्रचुर प्रचार हुआ है। वल्लभ और राधावल्लभी सम्प्रदायाचार्यो ने वहाँ अपने मंदिरों की स्थापना कर उसमें योग दिया है। बंगाल में भी सूरदास, मीराबाई तथा अन्य कवियों की रचनाएँ इतनी ग्राह्य हुई हैं कि वहाँ व्रजकुली नाम से एक नवीन मिश्रित भाषा एवं शैली का सृजन किया गया। अन्य भाषाओं पर इस प्रकार के प्रभाव डालने वाले साहित्य की महानता स्वत: सिद्ध है।



---

१. युगल विनोद पदावली, पद १२२-१९२
२. वही, पद १९७-१९८

सहायक पुस्तकें

प्रकाशित साहित्य

संस्कृत

१. अणुभाष्य (सप्रकाश) — वल्लभाचार्य चौखम्बा संस्कृत, बुक डिपो, १९०५-७ ई०

२. अध्वविनिर्णय (गुजराती टीका) — वृन्दावन दास, शाह छगनलाल, अहमदाबाद, १९९२ वि०

३. उज्ज्वलनीलमणि — रूप गोस्वामी, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३२ ई०

४. उत्सव प्रतान: — पुरुषोत्तम जी महाराज, विद्या विभाग, नाथद्वारा, १९७७ वि०

५. काव्यप्रकाश: — मम्मट भट्ट, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९११ ई०

६. चन्द्रालोक: — आनन्दपीयूष जयदेव, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९९३ वि०

७. चैतन्य विजयम् — कृष्णाचार्य, वृन्दावन, १९६६ वि०

८. छान्दोग्य उपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर, १९९४ वि०

९. ध्वन्यालोक: — आनन्दवर्धन, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, १९९७ वि०

१०. प्रमेयरत्नार्णव: — बालकृष्ण भट्ट, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, १९०६ ई०

११ प्रमेयरत्नावली — बल्देव विद्याभूषण, संस्कृत साहित्य परिषद कलकत्ता, १९२७ ई०

१२. पाणिनि व्याकरण: — पातंजलि महाभाष्ण वार्तिक सहित

१३. वृहद् भागवतामृत (खंड २) — सनातन गोस्वामी, वृन्दावन, १९९७ वि०

१४.	बाल चरित्रम्	भास, संपा० डॉ० एच० वेल्लेर, डॉ० एच० हैसेल, लिपजिग, १९२२ ई०
१५.	राधावल्लभ पटल तथा पद्धति	महंत कृष्णदास, व्रजवल्लभ दास मुखिया, १९८६ वि०
१६.	राधासुधानिधि : (षोडश ग्रंथावली)	हितहरिवंश, गो० गोपाल वल्लभ, वृन्दावन
१७.	बिराड्मूर्द्धनिम्	युगल वल्लभाचार्य, श्री राधावल्लभ ग्रंथमाला, वृन्दावन, १९९६ वि०
१८.	विद्वन्मंडनम्	विट्ठलनाथ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९८३ वि०
१९.	वेदान्त कौस्तुभः (भाष्यद्वयम्)	निम्बार्काचार्य, वृन्दावन, १९८३ वि०
२०	वेदान्त कौस्तुभः (प्रभा प्रभावृत्ति च) (खंड १,३)	निम्बार्काचार्य, वृन्दावन
२१	शुद्धाद्वैत मार्तड	गो० गिरधर जी, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, १९९४ वि०
२२	श्रीमद्‌भागवत दशम स्कंध (लघु वैष्णवतोषणी टीका)	जीव गोस्वामी, कलकत्ता, १९६४ वि०
२३.	षडसंदर्भ भागवत संदर्भः	जीव गोस्वामी, कलकत्ता, १९५७ वि०
२४	षोडश ग्रंथ (संस्कृत हिन्दी टीका)	वल्लभाचार्य, बम्बई, १९७९ वि०
२५.	संगीत पारिजातः	अहोबल, पूना
२६.	संगीत रत्नाकरः	शारंगदेव, आननदाश्रम मुद्रणालय, पूना, १८९६ ई०
२७.	सपन्दकारिका	
२८	सर्वसंवादिनीः	जीव गोस्वामी, बंगीय साहित्य परिषद कलकत्ता, १९७२ वि०
२९.	साहित्यदर्पणः	विश्वनाथ कविराज, संस्कृत विद्यालय कलकत्ता, १९७३ वि०
३०.	सिद्धान्तशिरोमणि (वासनाभाष्य सहित)	भाष्कराचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९८६ वि०
३१.	सुबोधिनी जी (श्रीमद्‌भागवत की टीका) स्कंध ३	वल्लभाचार्य, विद्या विभाग, नाथद्वारा, १९८४ वि०
३२.	सुभाषित रत्न भांडागारम्	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२९ ई०
३३.	सुसिद्धान्तोत्तमः	प्रियादास, प्रयाग

३४.	सूर्यसिद्धान्त (सव्याख्या)	संस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९९८ वि०
३५.	सेवा कौमुदी (हिन्दी टीका)	बालकृष्ण भट्ट, बालकृष्ण भट्ट शुद्धाद्वैत पुस्तकालय, बम्बई, १९७५ वि०
३६.	हरिभक्तिरसामृतसिन्धुः	रूप गोस्वामी, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, १९८८ वि०
३७.	हरिभक्तिविलासः (हिन्दी टीका सहित)	गोपाल भट्ट, वृन्दावन, १९६५ वि०

हिन्दी

१.	अनन्य वैष्णव धर्म	गोवर्द्धन लाल गोस्वामी
२.	अनुभव रस : हीरासखी	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०६ ई०
३.	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डॉ० दीनदयाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००४ वि०
४.	अष्टछाप पदावली	संपा० सोमनाथ गुप्त, हिन्दी भवन, लाहौर, १९४० ई०
५.	अष्टछाप परिचय	प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, २००४ वि०
६.	अष्टयाम	हित वृन्दावन दास, हित राधावल्लभीय वैष्णव रसिकदास, वृन्दावन, १९९३ वि०
७.	अष्टयाम	देव, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९२ ई०
८.	उपालम्भ शतक	रसरूप, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९२ ई०
९.	अंधकार युगीन भारत	काशी प्रसाद जायसवाल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९९५ वि०
१०.	कृष्णचन्द्रिका	गंगावक्त हरिदास, लखनऊ, १९४० वि०
११.	कृष्णप्रिया	मंगलदास, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८७७ ई०
१२.	कृष्णसागर	जगन्नाथ सहाय, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८८० वि०
१३.	कृष्णायन	द्वारका प्रसाद मिश्र, हिन्दी विश्वभारती कार्यालय, लखनऊ, २००२ वि०
१४.	कांकरोली का इतिहास (भाग २)	कंठमणि शास्त्री, विद्या विभाग, कांकरोली, १९९६ वि०

१५.	काव्य और सगीत का पारस्परिक सम्बन्ध	डॉ० उमा मिश्र, १९६२ ई०
१६.	काव्य के रूप	गुलाबराय, प्रतिभा प्रकाशन मंदिर, दिल्ली, २००४ वि०
१७.	गिरधर लाल जी महाराज के १२० वचनामृत	लल्लूभाई छगनलाल, अहमदाबाद, १९७९ वि०
१८.	गुजरात और उसका साहित्य	के० एम० मुंशी
१९.	गोरखबानी	डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९९९ वि०
२०	चरणदास जी की बानी (भाग १, २)	चरणदास, बेल्वीडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९०८ ई०
२१.	चुरिहारिन लीला	विश्वेसर प्रसाद
२२.	चैतन्य सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य	डॉ० नरेशचन्द्र बंसल, १९८० ई०
२३.	चौरासी वैष्णवन की वार्ता	लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९८५ वि०
२४.	छंद प्रभाकर	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', विलासपुर, १९८३ वि०
२५.	देव और उनकी कविता	डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९४९ ई० वि०
२६.	दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता	ठाकुर दास सूरदास, १९४७ वि०
२७.	नंददास (भाग १-२)	नन्ददास, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, १९४२ ई०
२८.	निजमत सिद्धान्त (खंड १, २, ४)	किशोरदास, टट्टी स्थान, वृन्दावन, १९६८ वि०
२९	निम्बार्क माधुरी	संपा० ब्रह्मचारी बिहारी शरण, वृन्दावन, १९९७ वि०
३०.	पद्माकर पंचामृत	पद्माकर, रामरत्न पुस्तक भवन, काशी, १९९२ वि०
३१.	पुष्टिमार्गीय पद संग्रह (भाग १-३)	सूरदास ठाकुरदास, बम्बई, १९५२ वि०
३२.	प्राचीन लेखमणि माला (भाग १)	सं० श्याम सुन्दर दास, बनारस, १९०३ ई०
३३.	प्राचीन वार्ता रहस्य (भाग १-२)	सं० द्वारकादास पुरुषोत्तमदास पारिख, विद्या विभाग, कांकरोली, १९९६ वि०

३४.	प्रिय प्रवास	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, २००१ वि०
३५.	ब्रह्मसम्बन्ध अथवा पुष्टिमार्गीय दीक्षा	भट्ट रामनाथ शास्त्री, सनातन भक्तिमार्गीय साहित्य सेवा सदन, मथुरा, १९८९ वि०
३६.	भक्तमाल (सटीक भक्ति सुधा स्वाद तिलक युक्त)	नाभादास, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३७ ई०
३७.	भक्तिसागर	चरणदास, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३१ ई०
३८.	भागवत चरित	प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, संकीर्तन सभा, झूँसी
३९.	भारतीय मूर्तिकला	राय कृष्णदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९९६ वि०
४०.	माधुरी वाणी	माधुरी जी, बाबा कृष्णदास, मथुरा, १९३९ ई०
४१.	मिश्रबन्धु विनोद (भाग १-३)	मिश्रबन्धु, गंगा पुस्तक माला, कार्यालय, लखनऊ, १९८४ से १९८६ वि०
४२	मुक्तिमार्ग	गुरु भक्तानन्द (स्वामी रामरूप), नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९१६ ई०
४३.	मोहिनी वाणी गदाधर भट्ट की	गदाधर भट्ट, बाबा कृष्णदास, मथुरा, २००० वि०
४४.	युगल सर्वस्व	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर, १८८९ ई०
४५.	रत्नाकर	जगन्नाथ दास रत्नाकर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९९० वि०
४६.	राग विज्ञान (भाग १-५)	विनायक नारायण राव पटवर्धन, पूना, १९३९ ई०
४७.	राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (भाग १)	संपा० मोतीलाल मनोरिया, १९४२ ई०
४८.	राधावल्लभ भक्तमाल	हित प्रियादास शुक्ल, व्रजवल्लभदास मुखिया, वृन्दावन, १९८६ वि०
४९.	राधारमण पदमंजरी	गुण मंजरीदास, मथुरा, १९९२ वि०
५०.	रास छद्म विनोद	हित वृन्दावनदास, वृन्दावन, १९९२ वि०

५१.	रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट	बाबा कृष्णदास, मथुरा, २००३ वि०
५२	रीतिकालीन काव्य की भूमिका	डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९४९ ई०
५३	वल्लभ दिग्विजय (भाषा में)	सीताराम वर्मा, गणेशदास एण्ड कम्पनी, बनारस, १८८७ ई०
५४.	वल्लभ विलास (भाग १-४)	व्रजजीवन दास गुजराती, चन्द्र प्रभा प्रेस कम्पनी, बनारस, १९३५ से १९५९ वि०
५५.	वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त	व्रजनाथ शर्मा, शुद्ध वैष्णव वैल्लनाटीय विद्या समिति, बम्बई, १९८० वि०
५६.	वाणी वल्लभ रसिक जी	वल्लभ रसिक, बाबा कृष्णदास, मथुरा, २००५ वि०
५७.	व्रज की झाँकी	पुस्तक मंदिर, मथुरा
५८	वचनिका सिद्धांत	ललित किशोर देव, वृन्दावन, १९९४ वि०
५९.	व्रजभाषा व्याकरण	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, रामनारायण लाल बुकसेलर, प्रयाग, १९३७ ई०
६०.	व्रजविलास	व्रजवासी दास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५१ वि०
६१	ब्यालीस लीला	ध्रुवदास, गोस्वामी ललिताचरन वकील, वृन्दावन
६२.	शास्त्र प्रवेश (भाग १-४)	भालचन्द्र सीताराम सुकथनकर, लखनऊ, १९२९ से १९३८ ई०
६३	शुक सम्प्रदाय सिद्धांत चन्द्रिका	सरस माधुरी शरण, जयपुर, १९८० वि०
६४	श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता	हरिराय जी महाराज, विद्या विभाग नाथद्वारा, १९९३ वि०
६५	श्री मत्कुंज बिहारी वार्षिकोत्सव व्रत निर्णयपत्रम्	प्राइवेट मन्दिर श्री बांकेविहारी सभा, वृन्दावन, २००६ वि०
६६.	व्यास वाणी	हितव्यास, अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन, १९९१ वि०
६७.	षोडश ग्रंथावली (संग्रह संस्कृत, हिन्दी)	प्रकाशक गो० गोपाल वल्लभाचार्य, वृन्दावन

६८.	श्रीहित हरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य	ललितचरण गोस्वामी, २०१४ वि०
६९.	संगीत सुदर्शन	सुदर्शनाचार्य, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९२३ ई०
७०.	समय प्रबन्ध	हित वृन्दावनदास, गो० व्रजवल्लभ लाल, बंगला वाले, वृन्दावन, लिपिकाल, १९२४ वि०
७१.	सम्प्रदाय प्रदीप (अनुवाद)	गदाधर प्रसाद द्विवेदी, विद्या विभाग, कांकरोली, १९९२ वि०
७२	सरस सागर (भाग १,३)	सरस माधुरी, जयपुर, १९३६ ई०
७३	सहजोबाई की वाणी	सहजोबाई, वेल्वीडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९०२ ई०
७४	सिद्धांतसार स्मृति	युगल वल्लभ महाराज, वृन्दावन, १९२७ ई०
७५.	सुहृद वाणी सूरदास मदनमोहन की	सूरदास मदनमोहन, बाबा कृष्णदास, मथुरा, २००० वि०
७६.	सूरदास	डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद, प्रयाग, १९४६ ई०
७७.	सूरनिर्णय	प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, २००६ वि०
७८.	सूरसागर	सूरदास, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १९९१ वि०
७९.	सूर साहित्य	हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यभारत, हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर, १९९३ वि०
८०.	हरिलीला	ब्रह्म गोपाल, बाबा कृष्णदास, मथुरा, २००५ वि०
८१.	हरिवंश जी की जीवनलीला	गो० गोपाल वल्लभ, १९७५ वि०
८२.	हितचन्द्रिका	गो० छोटे वल्लभ लाल, वृन्दावन, १९८० वि०
८३.	हित चौरासी-सेवक वाणी	हित हरिवंश तथा सेवक, वृन्दावन, १९९२ वि०
८४.	हित सुधासागर (संग्रह)	बम्बई, १९९४ वि०
८५.	हिन्दी गद्य	राम रतन भटनागर, किताब महल, प्रयाग, १९४८ ई०

८६.	हिन्दी गद्य मीमांसा	रमाकांत त्रिपाठी, सिटी बुक हाउस, कानपुर, १९४९ ई०
८७.	हिन्दी गीति काव्य	ओउमप्रकाश अग्रवाल, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, २००२ वि०
८८.	हिन्दी भाषा का इतिहास	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९४९ ई०
८९.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २००७ वि०
९०.	हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय, बम्बई, १९४० ई०
९१.	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	डॉ० बेनीप्रसाद, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९३१ ई०

अंग्रेजी

१.	अपभ्रंश मीटर्स	एच०डी० वेलंकार (भारत कौमुदी में प्रकाशित)
२.	अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव फैथ एंड मूवमेन्ट इन बंगाल	सुशील कुमार दे, जर्नल प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशर्स लिमिटेड, कलकत्ता, १९४२ ई०
३.	अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया	यस०के० आयंगर, १९२० ई०
४.	आउट लाइन ऑफ महायान बुद्धिज्म	टी०डी० सुजुकी, लुज़ाक एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९०७ ई०
५.	इंडियन क्रोनोलाजी	दीवान बहादुर, एल०डी० पिलई, ग्रांट एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९११ ई०
६.	इंडियन फिलासोफी (खंड १)	एस० राधाकृष्णन्, मैकमिलन एंड कम्पनी, न्यूयार्क, १९२३ ई०
७.	इंडिया एज डिस्क्राइव्ड बाई अर्ली ग्रीक राइटर्स	बैजनाथ पुरी
८.	ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासोफी (खंड १, ३, ४)	सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३२ से १९४८ ई०
९.	ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स ऑफ इंडिया एंड सिलोन फ्राम दि अर्लियस्ट टाइम्स टु प्रेजेन्ट डे	बी०ए० स्मिथ, ऑक्सफोर्ड प्रेस, १९११ ई०

१०.	ऐन आउटलाइन ऑफ दि रेलिजस लिटरेचर ऑफ इंडिया	जे०एन० फर्कुहर, दि रेलिजस क्वेस्ट ऑफ इंडिया सीरीज, १९२० ई०
११.	कलक्टेड वर्क ऑफ सर आर० जी० भंडारकर (खंड १, ४)	भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३३ ई०
१२.	कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया (खंड ३, ४)	यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९३७ ई०
१३.	चैतन्य एंड हिज एज	डी०सी० सेन, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९२२ ई०
१४.	चैतन्य एंड हिज एज कम्पेनियन	डी०सी० सेन, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९११ ई०
१५.	चैतन्य मूवमेन्ट	एम०टी० केनेडी, एसोसियेटेड प्रेस, कलकत्ता, १९२५ ई०
१६.	दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया फ्रॉम ६०० बी०सी० टु मोहम्मद	वि०ए० स्मिथ, यूनिवर्सिटी ऑफ इंग्लैण्ड, १९०८ ई०
१७.	दि एंशियंट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया (भाग १)	एलेक्जेंडर कनिंघम, १८७१ ई०
१८.	दि फिलासोफी ऑफ श्री चैतन्य (पांडुलिपि)	अवध बिहारी लाल कपूर, प्रयाग विश्व-विद्यालय की थीसिस
१९.	भक्ति कल्ट इन एंशियंट इंडिया	भगवत कुमार गोस्वामी, बी० बैनर्जी एंड कम्पनी, कलकत्ता, १९२२ ई०
२०.	भास-ए स्टडी	ए०डी० पुशाल्कर, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर, १९४० ई०
२१.	मथुरा-ए डिस्ट्रिक्ट मैमायर	एफ०एस० ग्राउस, गवर्नमेन्ट प्रेस, प्रयाग, १८८० ई०
२२.	मेटीरियल फॉर दि स्टडी ऑफ दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि वैष्णव सेक्ट	हेमचन्द्र रायचौधरी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२० ई०
२३.	मैमायर ऑफ द आर्केयालोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया (संख्या ५)	रामप्रसाद चन्द्र, १९२० ई०
२४.	रिपोर्ट आन दि सर्च ऑफ हिन्दी मेन्युस्क्रिपट	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९०० ई०, १९०२ ई०, १९०६-८ ई०, १९०९-११ ई०, १९१२-१४ ई० तथा १९२३-२५ ई०

२५	रेलिजन्स ऑफ इंडिया	ए० बार्थ, लंडन, १९१४ ई०
२६.	श्री वल्लभाचार्य : लाइफ, टीचिग एंड मूवमेन्ट	भाई मनीलाल स० परीख
२७.	सेलेक्शन फ्राम क्लैसिकल गुजराती लिटरेचर (खड १)	आइ०जे०ए० तारापोरवाला, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९२४ ई०
२८.	हिस्ट्री ऑफ बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर	डॉ० डी०सी० सेन, १९११ ई०
२९.	हिस्ट्री ऑफ मेडिवल इंडिया फ्राम ६४७ टु दि मुगल कांक्वेस्ट	डॉ० ईश्वरी प्रसाद, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९२५ ई०
३०.	हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इंडिया	सी०सी० वैद्य, दि ओरीजिनल बुक सप्लाई एजेंसी, पूना सिटी, १९२१ ई०

अन्य भाषाएँ

१.	बावन वचनामृत (गुजराती)	वल्लभ जी महाराज, लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद, १९८० वि०
२	महाप्रसाद महिमा अनै एकादशी व्रत (गुजराती)	गोवर्धन लाल जी शाह, छोटालाल मूल चन्द्र, बम्बई, १९८५ वि०
३.	रसेश श्री कृष्ण अनै श्री कृष्ण चरित्र (गुजराती)	जेठा लाल गोवर्धन लाल शाह, लल्लू भाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद, १९८४ वि०
४.	वैष्णव हित शिक्षा पत्र (भाग १) (गुजराती)	नटवर प्रसाद मणिशंकर शास्त्री, अहमदाबाद, १९९१ वि०
५	साहित्य प्रारंभिका (गुजराती)	हिम्मतलाल जी० औजरिया, २००० वि०
६.	संशोधनने मार्गे (गुजराती)	केशवराम का० शास्त्री, भारती साहित्य संघ लिमिटेड, अहमदाबाद, २००४ वि०
७.	चैतन्य चरितामृत (बंगला)	कृष्णदास कविराज गोस्वामी, देवकीनन्द धर्म प्रकाश, कलकत्ता, १९९५ वि०
८.	व्रजेर कथा (बंगला)	स्वामी ब्रजानन्द, वृन्दावन

हस्तलिखित ग्रन्थ

संस्कृत

१.	अहिरबुघ्न्य संहिता	
२.	ईश्वर संहिता	
३.	ईशावास्योपनिषद भाष्य भूमिका	प्रियादास (रीवां), गो० ललिता चरण, वृन्दावन
४.	गोविन्द भाष्य	बल्देव विद्या भूषण, राधा चरण पुस्तकालय, वृन्दावन
५.	मध्वमुखमंडन	गोपाल भट्ट, निम्बार्क सभा, प्रयाग
६.	व्यास भाष्य	प्रियादास, व्रजवल्लभ लाल बंगला वाले, वृन्दावन
७.	वृन्दावन शतक	प्रबोधानन्द, गो० व्रजवल्लभ लाल, बंगला वाले, वृन्दावन
८.	हित मालिका	गो० वृन्दावन दास, गो० व्रजवल्लभ लाल, बंगला वाले, वृन्दावन

हिन्दी

१.	अनन्य सार	गो० जतनलाल, गो० व्रजवल्लभ लाल, बंगला वाले, वृन्दावन, १८६१ वि०
२.	द्वादश यश:	चतुर्भुजदास, गो० व्रजवल्लभ लाल, बंगला वाले, वृन्दावन, लिपिकाल, १८६० वि०
३.	पद्यावली	ध्रुवदास, संग्रहालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
४.	रसिक अनन्यमाल	उत्तम दास तथा भगवत मुदित
५.	वृन्दावनधाम अनुरागावली (संग्रह)	गो० राधाचरण पुस्तकालय, वृन्दावन, लिपिकाल, १९०० वि०
६.	वर्षोत्सव (संग्रह)	गो० राधाचरण पुस्तकालय, वृन्दावन, लिपिकाल, १८९४ वि०
७.	वर्षोत्सव के पद (संग्रह)	गो० व्रजवल्लभ लाल, बंगला वाले, वृन्दावन
८.	वाणी संग्रह	टट्टी स्थान, वृन्दावन, १८६३ वि०

९	ब्रज प्रेमानन्द सागर	हित वृन्दावनदास, गो० ललिता चरण, वकील, वृन्दावन, लिपिकाल, १५५८ वि०
१०.	समय प्रबन्ध (संग्रह)	गो० व्रजवल्लभ लाल, बंगला वाले, वृन्दावन
११.	सेवा दर्पण	प्रियादास, गो० ब्रजवल्लभदास, बंगलावाले, वृन्दावन, १९०५ वि०

पत्रिकाएँ

हिन्दी

१.	कल्याण	वर्ष ११, १२ तथा १५
२.	संगीत (ताल अंक)	हाथरस, १९४७ ई०
३.	हिन्दुस्तानी	१९३७ ई०

अंग्रेजी

१.	इंडियन एंटीक्यूटी	१९०३ ई० तथा १९१८ ई०
२.	जरनल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल	१९७८ ई०
३.	जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ लंडन एंड आयरलैंड	१८८४ ई०, १९०७ ई०, १९०८ ई०, १९१३ ई० तथा १९१५ ई०

